इकाई-1

भारत में ब्रिटिश शासकों की आर्थिक नीति एवं उसका प्रभाव
(British Ruler's Economic Policy and Its Impact in India)

****(इस खंड का उल्लेख मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 2 में है। दृष्टि द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग 2 से है।)*

भारतीय अर्थव्यवस्था पर ब्रिटिश प्रभाव मुगल शासक औरंगजेब की मृत्यु के बाद सहज ही परिलक्षित होने लगा था। उत्तरवर्ती मुगल शासकों द्वारा तत्कालीन यूरोपीय व्यापारियों को दी गयी उदारतापूर्वक रियायतों ने स्वदेशी व्यापारियों के हितों को नुकसान पहुँचाया। साथ ही, व्यापार और वाणिज्यिक व्यवस्था भी कमजोर पड़ती गई। ऐसी स्थिति में यहाँ की घरेलू अर्थव्यवस्था पर नकारात्मक प्रभाव पड़ना स्वाभाविक ही था।

--अंग्रेज़ों ने प्लासी (1757 ई.) और बक्सर (1764 ई.) के युद्धों के बाद बंगाल की समृद्धि पर अपना अधिकार स्थापित कर लिया। फलतः भारतीय अर्थव्यवस्था अधिशेष तथा आत्मनिर्भरतामूलक अर्थव्यवस्था से औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित हो गयी। प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल के अंतर्देशीय व्यापार में अंग्रेज़ों की भागीदारी बढ़ गयी। कंपनी के कर्मचारियों ने व्यापार के लिए प्रतिबंधित वस्तुओं जैसे नमक, सुपारी और तंबाकू के व्यापार पर भी अधिकार कर लिया। बंगाल विजय से पूर्व, अंग्रेज़ी सरकार ने अपने कपड़ा उद्योग के संरक्षण के लिए विविध प्रयास किए। इनमें भारत से आने वाले रंगीन तथा छपे हुए वस्त्रों के प्रयोग पर प्रतिबंध, सूती कपड़ों के आयात पर आयात कर; भारतीय रेशमी एवं छपे या रंगे हुए वस्त्रों के प्रयोग पर इंग्लैण्ड में प्रतिबंध आदि प्रमुख हैं। भारतीय अर्थव्यवस्था को ब्रिटिश औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित करने के पीछे ब्रिटिश सरकार का मुख्य उद्देश्य अपने उद्योगों के लिए अच्छा व सस्ता माल प्राप्त करना और अपने उत्पादों को भारतीय बाजार में ऊँची कीमतों पर बेचना था।

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद के विभिन्न चरण
(Different Stages of British Colonialism in India)

उपनिवेशवाद एक ऐसी संरचना होती है, जिसके माध्यम से किसी भी देश का आर्थिक शोषण तथा उत्पीड़न होता है। इस संरचना के अंतर्गत कई प्रकार के विचारों, व्यक्तित्वों और नीतियों का समावेश किया जा सकता है। यही उपनिवेशवादी संरचना वास्तव में उपनिवेशवादी नीति का निर्णायक तत्व होता है। उपनिवेशवाद का मूल तत्व 'आर्थिक शोषण' में निहित होता है, लेकिन किसी उपनिवेश पर राजनीतिक कब्जा बनाए रखने की दृष्टि से इसका भी अपना महत्व होता है।

भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद मुख्यतः तीन चरणों से गुज़रा। ये विभिन्न चरण भारत के आर्थिक अधिशेष को हड़पने के विभिन्न उपायों पर आधारित थे। रजनीपाम दत्त ने अपनी कृति 'इंडिया टुडे' में भारतीय औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था का अच्छा चित्रण किया है। इसमें उन्होंने कार्ल मार्क्स के भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद और आर्थिक शोषण के जिन तीन चरणों वाले सिद्धांत को आधार बनाया है, वे निम्नवत् हैं —

1. वाणिज्यिक चरण : 1757 ई. से 1813 ई.
2. औद्योगिक मुक्त व्यापार : 1813 ई. से 1860 ई.
3. वित्तीय पूँजीवाद : 1860 ई. के बाद की अवस्था

आरंभिक चरण अर्थात् 17वीं और 18वीं शताब्दी में ब्रिटिश उपनिवेशवाद का मुख्य उद्देश्य भारत के साथ व्यापार करने के बहाने उसे लूटना ही था। आगे चलकर 19वीं शताब्दी में भारत का प्रयोग ब्रिटेन में बनी हुई औद्योगिक वस्तुओं के लिए मुख्य बाज़ार के रूप में किया गया। 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में और 20वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में भारत स्थित ब्रिटिश उद्योगपतियों द्वारा देश में पूँजी-विनियोग की प्रक्रिया आरंभ की गई। इसे भारतीय श्रमिकों के बड़े पैमाने पर शोषण का आरंभ कहा जा सकता है।

उपनिवेशवाद का प्रथम चरण : वाणिज्यिक चरण, 1757-1813 ई.
(First Stage of Colonialism : Commercial Phase, 1757-1813)

इंग्लैण्ड की 'ईस्ट इण्डिया कंपनी' ने प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल पर अपना प्रभुत्व जमा लिया था। इसी समय से भारत में ब्रिटिश उपनिवेशवाद की स्थापना मानी जाती है अर्थात् 1757 ई. से 18वीं शताब्दी के आरंभ तक जब कि मुगलों का पतन हो रहा था। इधर

Copyright – Drishti The Vision Foundation

ब्रिटिश ईस्ट इण्डिया कंपनी की साम्राज्यवादी मानसिकता स्पष्टतः परिलक्षित होने लगी थी। उपनिवेशवाद के प्रथम चरण में अंग्रेज़ों का ध्यान 'आर्थिक लूट' पर ही केंद्रित रहा। कंपनी भारत के साथ व्यापार पर अपना वर्चस्व चाहती थी जिससे कि उसके साथ प्रतिस्पर्धा करने वाला कोई अन्य ब्रिटिश अथवा यूरोपीय व्यापारी या व्यापारिक कंपनी न हो। यूरोप के अन्य राष्ट्रों को भारत से दूर रखने के लिए कंपनी को फ्रांसीसियों तथा डचों के साथ भीषण लड़ाइयाँ लड़नी पड़ीं। आरंभ में बंबई, कलकत्ता और मद्रास के जिन समुद्री क्षेत्रों पर कंपनी का नियंत्रण था, वहाँ की जनता पर कंपनी ने स्थानीय कर लगाने शुरू कर दिए और अपने खज़ाने को बढ़ाने की कोशिश की। शीघ्र ही कंपनी की यह अभिलाषा पूर्ण हो गई और प्लासी के युद्ध के बाद बंगाल, बिहार और दक्षिण भारत के कुछ हिस्से कंपनी के अधीन आ गए। परिणामतः जीते गए क्षेत्रों की सरकारी आय पर कंपनी का पूरा नियंत्रण स्थापित हो गया। जमींदारों, नवाबों और स्थानीय शासकों की जमा पूँजी हड़पने में यह नियंत्रण अत्यधिक कारगर सिद्ध हुआ।

राष्ट्रीय धन का एकमात्र स्रोत कृषि रह गया और अधिकतर जनसंख्या कृषि पर निर्भर रहने लगी। यहाँ न सिर्फ लगान की राशि प्रत्येक वर्ष बढ़ती ही रही बल्कि उसे बेरहमी से वसूल भी किया जाता था। इसके अलावा, जहाँ मुगल शासन में कर और लगान की रकम भारत में ही खर्च होकर वापस लोगों तक पहुँच जाती थी जिससे व्यापार और उद्योग फलते-फूलते रहते थे, वहीं कंपनी द्वारा वसूल किए गए कर और लगान की राशि वस्तुओं और कीमती धातुओं के माध्यम से इंग्लैण्ड और यूरोप को निर्यात कर दी जाती थी। भारत की लूट इंग्लैण्ड में पूँजी संचय का अप्रत्यक्ष स्रोत थी, जिसने इंग्लैण्ड में 'औद्योगिक क्रांति' लाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। ब्रिटेन की राष्ट्रीय आय का लगभग 2% हिस्सा भारत से प्राप्त होने वाली आय थी। ब्रिटिश उपनिवेशवाद के इस चरण की एक खास विशेषता यह थी कि कंपनी ने न्यायिक व्यवस्था, प्रशासन, संचार, कृषि एवं औद्योगिक व्यवस्था में किसी तरह का कोई मूल परिवर्तन नहीं किया। यदि कोई छिट-पुट परिवर्तन किए भी गए थे तो उनका उद्देश्य केवल लगान को अत्यधिक प्रभावशाली ढंग से इकट्ठा करना था। समग्र रूप से यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश उपनिवेशवाद के इस वाणिज्यिक चरण के परिणाम आम जनता के लिए अत्यंत भयावह रहे।

उपनिवेशवाद का द्वितीय चरण : औद्योगिक मुक्त व्यापार (1813-60 ई.)
(Second Stage of Colonialism : Industrial Free Trade – 1813-60)

सन् 1813 से भारत के व्यापार से कंपनी का एकाधिकार समाप्त हो गया और यहीं से औद्योगिक पूँजीवाद द्वारा भारत के शोषण का नया रूप सामने आया। यही कारण है कि भारत के साम्राज्यवादी शोषण के इतिहास में 1813 ई. के वर्ष को महत्वपूर्ण माना जाता है। ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति के पश्चात् कई समस्याएँ उठ खड़ी हुईं। इनमें सब से प्रमुख समस्या थी–कारखानों में बने माल के लिए बाज़ार खोजने की। सस्ती लागत पर तैयार ब्रिटेन के कपड़ों को भारतीय बाज़ारों में भेजा जाने लगा। ये कपड़े मिल में तैयार होते थे, इसलिए हाथ से बने भारतीय कपड़ों से सस्ते होते थे। परिणामस्वरूप, अंग्रेज़ी कपड़ों की सस्ती कीमतों के आगे भारतीय कपड़े टिक नहीं सके। फलतः भारतीय वस्त्र उद्योग को जबर्दस्त धक्का पहुँचा।

ब्रिटेन को आवश्यकतानुसार कच्चा माल उपलब्ध करवाने की दृष्टि से उपनिवेशवाद की इस व्यवस्था का अपना अलग ही महत्व था। इसका लक्ष्य भारत को ब्रिटेन के एक अधीनस्थ बाज़ार के रूप में विकसित करना था जिससे इसका आसानी से शोषण किया जा सके। भारत को औद्योगिक पूँजीवाद (Industrial Capitalism) के अनुकूल बनाने के लिए स्थानीय शिल्प उद्योगों को नष्ट कर एक कृषि-प्रधान देश के रूप में परिवर्तित करना अंग्रेज़ों की एक सोची-समझी कार्यनीति का हिस्सा था।

चूँकि अंग्रेज़ लोग आर्थिक क्षेत्र में परिवर्तन लाना चाहते थे, इसलिए उन्होंने सर्वप्रथम भूमि व्यवस्था में प्रयोग करने शुरू किए। स्थायी बंदोबस्त (Permanent Settlement) द्वारा जमींदारों को भूमि का मालिक बनाए जाने के पीछे मुख्य उद्देश्य अपने लिए एक समर्थक वर्ग का निर्माण करना था। जहाँ एक ओर स्थायी बंदोबस्त अंग्रेज़ों की दूरगामी नीति का हिस्सा था, वहीं दूसरी ओर रैय्यतवाड़ी व्यवस्था भारत के किसानों के शोषण की चरम अवस्था थी। ब्रिटिश नौकरशाही ने खाद्यान्नों के स्थान पर वाणिज्यिक फसलों की उपज बढ़ाने के लिए बड़े किसानों को प्रोत्साहित किया। परिणामस्वरूप, देश में अनाज की कमी तथा खाद्यान्न के मूल्यों में वृद्धि हुई।

औद्योगिक मुक्त व्यापार की इस अवस्था में जहाँ एक ओर भारत में तैयार माल के निर्यात के स्थान पर भारत से कच्चे माल के निर्यात में तेजी आई, वहीं दूसरी ओर इंग्लैण्ड से सूती कपड़ों के आयात में वृद्धि हुई। भारत से कच्चे माल के निर्यात तथा ब्रिटिश कारखानों में उत्पादित माल के आयात तथा इसके आंतरिक विक्रय के लिए देश में परिवहन साधनों के विकास की आवश्यकता थी। इस दृष्टि से सर्वाधिक महत्वपूर्ण कार्य रेलवे का विकास माना गया। रेलों के विकास का द्वितीय प्रमुख कारण ब्रिटिश साम्राज्य की सुरक्षा हेतु सेना को दूर-दराज क्षेत्रों तक पहुँचाना था, ताकि ब्रिटिश साम्राज्य के प्रति होने वाले किसी भी विद्रोह को बिना किसी विलम्ब के कुचला जा सके। यह हमारा भ्रम ही है कि तत्कालीन रेलवे विकास को हम भारत की प्रगति से जोड़कर देखते हैं।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

उपनिवेशवाद का तृतीय चरण : वित्तीय पूँजीवाद (1860 ई. के पश्चात्)
(Third Stage of Colonialism : Financial Capitalism – After 1860)

औद्योगिक विकास एवं औपनिवेशिक बाज़ारों के शोषण के परिणामस्वरूप ब्रिटेन में बड़ी पूँजी जमा हो गई। उद्योगपतियों की बढ़ती हुई संपत्ति के फलस्वरूप मजदूर वर्ग को संगठित होने की प्रेरणा मिली। इंग्लैण्ड में और अधिक औद्योगीकरण का अर्थ था– मजदूरों की सौदेबाजी में वृद्धि होना तथा पूँजीपतियों के मुनाफे पर विपरीत असर पड़ना क्योंकि यह वही समय था जब मार्क्स एवं एंजिल्स का 'द कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' अंग्रेज़ी भाषा में प्रकाशित हो चुका था। अत: पूँजी को भारत में निवेश करना उचित समझा गया। इसी स्थिति को पूँजीवाद के तृतीय चरण के आरंभ के रूप में माना जाता है।

ब्रिटिश भारत में गठित रेलवे आयोग

आयोग	गवर्नर जनरल	वर्ष
थॉमस रॉबर्टसन कमीशन	लॉर्ड कर्जन	1902
एक्वर्थ कमीशन	लॉर्ड चेम्सफोर्ड	1919

अपनी व्यावसायिक एवं प्रशासनिक आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए ब्रिटिश सरकार रेल लाइनों का विकास आवश्यक मानती थी। रेल निर्माण की दिशा में भारत में प्रथम प्रयास 1846 ई. में लॉर्ड डलहौजी ने किया। प्रथम रेलवे लाइन 1853 ई. में बंबई तथा थाणे के बीच बिछायी गयी। वैसे भारत में रेलवे लाइन का सर्वाधिक विस्तार लॉर्ड कर्जन के समय में हुआ। अंग्रेज़ों द्वारा वाणिज्यिक और सामरिक उद्देश्यों से भारत में बिछायी गयी रेल को कार्ल मार्क्स ने 'आधुनिक युग के अग्रदूत' की संज्ञा दी। रेल निर्माण के क्षेत्र में विनियोजित पूँजी वित्त प्रणाली की विशेषता को दर्शाती है, जिसे गारंटी प्रणाली कहा गया। अंग्रेज़ों ने सूती मिलों एवं इस्पात की फैक्ट्रियों में पूँजी का विनियोग नहीं किया। वे अपने देश के उद्योगों के साथ प्रतियोगिता में नहीं आना चाहते थे। रेल निर्माण के बाद जिनके विकास में सर्वाधिक पूँजी लगी, वे थे–चाय, कॉफी, रबर, नील आदि के बागान। भारत के विशाल बाज़ार पर कब्जा करने के लिए भारत में ही उद्योगों की स्थापना के महत्त्व से उद्योगपति परिचित थे। ऋण की राशि 1857 ई. में जहाँ 7 करोड़ पाउण्ड थी, 1939 ई. में बढ़कर 88 करोड़ 42 लाख पाउण्ड हो गई थी। इस पर ब्याज तथा लाभांश भी भारत को ही देना पड़ता था।

भारत में अंग्रेज़ों की भू-राजस्व व्यवस्था *(British Land Revenue System in India)*

स्थायी भू-राजस्व व्यवस्था (इस्तमरारी बंदोबस्त) *(Permanent Land Revenue System)*

कंपनी के अंतर्गत बंगाल में भू-राजस्व व्यवस्था के निर्धारण का प्रश्न खड़ा हुआ, जब ब्रिटिश कंपनी को बंगाल की दीवानी प्राप्त हुई। आरम्भ में लॉर्ड क्लाइव ने भारतीय अधिकारियों के माध्यम से ही भू-राजस्व की वसूली जारी रखी तथा भू-राजस्व व्यवस्था में परम्परागत ढाँचे को ही बरकरार रखा। भू-राजस्व की अधिकतम वसूली पर कंपनी शुरू से ही बल देती थी। इसके पीछे उसका उद्देश्य भू-राजस्व संग्रह से प्राप्त एक बड़ी रकम का व्यापारिक वस्तुओं की खरीद में निवेश करना था। इसके अतिरिक्त सैनिक एवं अन्य प्रकार के खर्च को भी पूरा करना कंपनी का उद्देश्य था। अत: बंगाल की दीवानी प्राप्त करने के शीघ्र बाद ही कंपनी ने बंगाल में भू-राजस्व की रकम बढ़ा दी। फिर भी कंपनी भारतीय अधिकारियों के माध्यम से ही भू-राजस्व की वसूली करती रही। भू-राजस्व की वसूली की देख-रेख ब्रिटिश अधिकारियों द्वारा ही की जाती थी। किन्तु, इस व्यवस्था का दुष्परिणाम यह रहा कि इस प्रकार की दोहरी व्यवस्था ने एक प्रकार के भ्रष्टाचार को जन्म दिया तथा किसानों का भरपूर शोषण आरम्भ हुआ। सन् 1769-70 ई. के भयंकर अकाल को अंग्रेज़ों की इसी राजस्व नीति के परिणाम के रूप में देखा जाता है।

1772 ई. तक क्लाइव की व्यवस्था चलती रही। इसके बाद वारेन हेस्टिंग्स के समय बंगाल का प्रशासन प्रत्यक्ष रूप में कंपनी के अंतर्गत आ गया। वारेन हेस्टिंग्स ने भू-राजस्व सुधार के लिए अनेक कदम उठाये। उसने पूर्वकाल में घटित सभी प्रकार के भ्रष्टाचार के लिए बंगाल के दीवान रिज़ा खान को उत्तरदायी ठहराकर उसे अपदस्थ कर दिया। वारेन हेस्टिंग्स ने भारतीय अधिकारियों को हटाकर भू-राजस्व की वसूली को ब्रिटिश अधिकारियों के माध्यम से आगे बढ़ाया। कारण यह रहा कि इसी समय कंपनी को भी एक बड़ी रकम की आवश्यकता थी। इसकी पूर्ति के लिए वारेन हेस्टिंग्स ने 1772 ई. में एक नयी पद्धति की शुरूआत की, जिसे फार्मिंग पद्धति (Farming System) कहा जाता है। इस पद्धति के तहत भू-राजस्व की वसूली ठेके पर नीलामी द्वारा की जाने लगी। आरम्भ में यह योजना 5 वर्षों के लिए लायी गयी थी तथा इसमें जमींदारों को अलग रखा गया था, क्योंकि वारेन हेस्टिंग्स ऐसा मानता था कि इसमें जमींदारों को सम्मिलित किये जाने का अर्थ होगा— सरकार का भू-राजस्व की एक बड़ी रकम से वंचित हो जाना। चूँकि जमींदारों का ग्रामीण क्षेत्रों में वर्चस्व था और वे भू-राजस्व के विशेषज्ञ थे, अत: उनके सहयोग के बिना यह योजना सफल नहीं हो सकी। यही कारण रहा कि 1776 ई. में वारेन हेस्टिंग्स ने पंचवर्षीय योजना को रद्द कर एक वर्ष की योजना लागू की तथा इसमें जमींदारों को प्राथमिकता दी गयी। इस प्रकार, वारेन हेस्टिंग्स प्रयोग की प्रक्रिया से ही गुजरता रहा। दूसरी ओर, फार्मिंग पद्धति (Farming System) से किसानों पर भू-राजस्व का अधिभार अत्यधिक बढ़ गया था। अत: कृषि अर्थव्यवस्था बुरी तरह प्रभावित हुई।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

इसी समय ब्रिटेन अपना अमेरिकी उपनिवेश खो चुका था। अत: वह भारतीय उपनिवेश के आधार को मजबूत करने का प्रयास कर रहा था। इन्हीं परिस्थितियों में बंगाल के गवर्नर जनरल के रूप में कार्नवालिस का आगमन हुआ। लॉर्ड कार्नवालिस ने यह अनुभव किया कि कृषि अर्थव्यवस्था में गिरावट के कारण कंपनी की रकम में उतार-चढ़ाव आ रहा था। बंगाल से निर्यात की जाने वाली दो प्रमुख वस्तुएँ थीं सूती वस्त्र व रेशम। इन वस्तुओं के कृषि उत्पाद से ही सम्बन्धित होने के कारण और दूसरे कृषि अर्थव्यवस्था में गिरावट के कारण कंपनी का निर्यात प्रभावित होना स्वाभाविक ही था।

1793 ई. में कार्नवालिस ने भू-राजस्व प्रबंधन के लिए स्थायी बंदोबस्त को लागू किया। इसके द्वारा लागू किए गए भू-राजस्व सुधार के दो महत्वपूर्ण पहलू सामने आये—

(1) भूमि में निजी सम्पत्ति की अवधारणा को लागू करना, तथा

(2) स्थायी बंदोबस्त।

लॉर्ड कार्नवालिस की पद्धति में मध्यस्थों और बिचौलियों को भूमि का स्वामी घोषित कर दिया गया। दूसरी ओर, स्वतन्त्र किसानों को अधीनस्थ रैय्यत के रूप में परिवर्तित कर दिया गया और सामुदायिक सम्पत्ति को जमींदारों के निजी स्वामित्व में रखा गया। भूमि को विक्रय योग्य बना दिया गया। जमींदारों को एक निश्चित तिथि को भू-राजस्व सरकार को अदा करना होता था। 1793 ई. के बंगाल रेग्यूलेशन के आधार पर 1794 ई. में 'सूर्यास्त कानून' (Sunset Law) लाया गया, जिसके अनुसार अगर एक निश्चित तिथि को सूर्यास्त होने तक जमींदार जिला कलेक्टर के पास भू-राजस्व की रकम जमा नहीं करता तो उसकी पूरी जमींदारी नीलाम हो जाती थी। इसके बाद 1799 और 1812 ई. के रेग्यूलेशन के आधार पर किसानों को पूरी तरह जमींदारों के नियंत्रण में कर दिया गया, अर्थात प्रावधान किया गया कि यदि एक निश्चित तिथि को किसान जमींदार को भू-राजस्व की रकम अदा नहीं करते तो जमींदार उनकी चल और अचल दोनों प्रकार की सम्पत्ति का अधिग्रहण कर सकता है। इसका परिणाम हुआ कि भू-राजस्व की रकम अधिकतम रूप में निर्धारित की गयी तथा इसके लिए 1790-91 ई. के वर्ष को आधार वर्ष बनाया गया। निष्कर्षत: 1765-93 ई. के बीच कंपनी ने बंगाल में भू-राजस्व की दर में दुगुनी बढ़ोतरी कर दी।

यहाँ यह प्रश्न विचारणीय है कि जब बंगाल में जमींदार इससे पहले कभी भी भूमि के स्वामी नहीं रहे थे तो फिर स्थायी बंदोबस्त में उन्हें भूमि का मालिक क्यों घोषित किया गया? यह माना जाता है कि कार्नवालिस की इस सोच पर फ्रांसीसी प्रवृत्ति के तंत्रवादियों का प्रभाव था। 1770 ई. के दशक में कार्नवालिस से पहले भी इस तरह की अवधारणा सामने आयी थी कि भूमि में निजी स्वामित्व को स्थापित कर दिया जाए तो समाज को समृद्धि तथा स्थायित्व की स्थिति आती है। फिलिप फ्रैंसिस एवं हेनरी पाइल्ज़ जैसे ब्रिटिश अधिकारी भूमि को निजी स्वामित्व के अंतर्गत रखे जाने के पक्षधर थे। जमींदारों के प्रति कार्नवालिस का झुकाव स्वाभाविक ही था क्योंकि वह खुद भी जमींदार वर्ग से संबंध रखता था।

कार्नवालिस की पद्धति मुख्यत: भौतिक अभिप्रेरणा से परिचालित थी। वस्तुत: स्थायी बंदोबस्त लागू करने के पीछे कार्नवालिस के कई उद्देश्य थे यथा—

(1) उसका मानना था कि इस पद्धति को लागू करने के बाद कंपनी को भू-राजस्व की रकम अधिकतम तथा स्थायी रूप से प्राप्त होगी।

(2) कृषि के विस्तार का लाभ सरकार के बजाय जमींदारों को प्राप्त होगा।

(3) जमींदार प्रगतिशील जमींदार सिद्ध हो सकेंगे। परिणामत: वे कृषि में निवेश करने के लिए उन्मुख होंगे। अत: कृषि का विकास होगा।

(4) जमींदारी की खरीद-बिक्री की व्यवस्था के कारण नगरीय क्षेत्र से ग्रामीण क्षेत्र में मुद्रा का आगमन होगा।

(5) उसका विश्वास था कि कृषि के क्षेत्र में होने वाला विकास, व्यापार-वाणिज्य के विकास को भी बढ़ावा देगा क्योंकि बंगाल से निर्यात की जाने वाली अधिकतर वस्तुएँ कृषि उत्पाद से जुड़ी हुई थीं। यद्यपि भू-राजस्व में सरकार का अंश स्थायी रूप में निश्चित हो जायेगा तथापि, समय-समय पर व्यापारिक वस्तुओं पर कर की राशि में वृद्धि कर सरकार उसकी भरपाई कर सकेगी।

स्थायी भूमि व्यवस्था

- लॉर्ड कार्नवालिस ने भू-राजस्व वसूली की स्थायी व्यवस्था लागू की। आरंभ में यह व्यवस्था दस वर्ष के लिए लागू की गयी थी, किंतु 1793 ई. में इसे स्थायी बंदोबस्त में परिवर्तित कर दिया गया।
- ब्रिटिश भारत के 19% भाग पर यह व्यवस्था थी। बंगाल, बिहार, उड़ीसा, उत्तर प्रदेश के वाराणसी तथा उत्तरी कर्नाटक के क्षेत्रों में लागू थी।
- इस व्यवस्था में जमींदारों को भूस्वामी के रूप में मान्यता दी गयी। इसके अंतर्गत जमींदार अपने क्षेत्रों से भू-राजस्व की वसूली का 1/11वाँ भाग अपने पास रखता था तथा शेष हिस्सा (10/11वाँ) कंपनी के पास जमा कराता था।
- इस व्यवस्था के अंतर्गत यह प्रावधान किया गया कि जमींदार की मृत्यु के उपरांत उसकी भूमि उसके उत्तराधिकारियों में चल संपत्ति की भाँति विभाज्य होगी।
- कार्नवालिस ने 1794 ई. में 'सूर्यास्त कानून' बनाया। इसके तहत यह घोषित किया गया कि यदि पूर्व निर्धारित तिथि के सूर्यास्त तक सरकार को लगान नहीं दिया गया तो जमींदारी नीलाम हो जाएगी।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

(6) स्थायी बंदोबस्त को लागू करने के पश्चात् सरकार प्रशासनिक झंझटों से बच सकेगी क्योंकि जमींदारों के माध्यम से भू-राजस्व की वसूली अपेक्षाकृत आसान हो जायेगी।

उसे एक राजनैतिक लाभ प्राप्त होने की आशा थी कि इस व्यवस्था को लागू करने के पश्चात् एक ब्रिटिश-समर्थक जमींदार वर्ग तैयार हो जायेगा।

यदि उपर्युक्त बिंदुओं का विवेचन किया जाए तो व्यावहारिक दृष्टि से कार्नवालिस का कोई भी उद्देश्य स्पष्ट रूप में पूरा नहीं हो सका। सरकार को एक निश्चित रकम स्थायी रूप से भले ही मिलने लगी थी, किन्तु यह भी सही है कि वह भविष्य में होने वाले कृषि के विस्तार के लाभ से वंचित हो गयी थी। दूसरे, जमींदार प्रगतिशील जमींदार सिद्ध नहीं हो सके तथा उन्होंने कृषि के विकास में कोई दिलचस्पी नहीं दिखाई। इसके अतिरिक्त जमींदारी व्यवस्था के अंतर्गत अनुपस्थित जमींदारी (Absentee Landlordism) एवं उप-सामंतीकरण (Sub-feudalization) जैसी बुराइयाँ उभरकर सामने आयीं। उदाहरणार्थ, यद्यपि कार्नवालिस इस बात का विरोधी रहा था कि किसान और जमींदार के बीच बिचौलियों का कोई स्तर कायम हो, परन्तु आगे चलकर उपसामंतीकरण की व्यवस्था विकसित हो गयी। 19वीं सदी के पूर्वार्ध में वर्दवान के राजा ने अपनी जमींदारी को कई अधीनस्थ जमींदारों के बीच बाँट दिया और सरकार ने इस स्थिति को स्वीकार किया, इसे पटनी पद्धति (Patni System) के नाम से जाना जाता है। कई क्षेत्रों में तो स्थिति यह हो गई कि किसान-जमींदारों के बीच मध्यस्थों के बारह स्तर कायम हो गये। इसका नतीजा यह निकला कि जमींदारी न रहने के कारण ग्रामीण क्षेत्र से ही नगरीय क्षेत्र में मुद्रा का पलायन शुरू हो गया।

अंततः स्थिति यह हुई कि कंपनी प्रशासनिक परेशानियों से मुक्त होने की बजाय नये प्रकार की प्रशासनिक दिक्कतों में उलझ गयी। वस्तुतः स्थायी बंदोबस्त के तहत भू-राजस्व की राशि अधिकतम रूप में निर्धारित की गयी थी, इसलिए आरम्भ में बंगाल के जमींदारों को यह रकम अदा करने में बड़ी परेशानी हुई तथा अनेक जमींदारियाँ नीलाम हो गयीं तथा इसके कारण प्रशासनिक परेशानियाँ कम होने के बजाय और भी बढ़ गईं। कंपनी राज का समर्थन प्राप्त होने के कारण कार्नवालिस अपने उद्देश्य में कुछ हद तक सफल भी रहा। यह भी सत्य है कि इन जमींदारों का शोषण इतना बढ़ गया कि अधिसंख्य किसान ब्रिटिश शासन से विक्षुब्ध होते चले गये।

रैय्यतवाड़ी व्यवस्था *(Ryotwari System)*

सामान्यतया रैय्यतवाड़ी व्यवस्था एक वैकल्पिक व्यवस्था थी जो स्थायी बंदोबस्त के साथ कंपनी के मोहभंग होने के कारण एक विकल्प के रूप में सामने आई। इस व्यवस्था के लिए उत्तरदायी एक महत्वपूर्ण कारण विचारधारा एवं दृष्टिकोण का प्रभाव था। अन्य शब्दों में ऐसा माना जाता है कि उन्नीसवीं सदी के शुरूआती दशकों में भारत में किये जाने वाले भू-राजस्व सुधार की प्रक्रिया शास्त्रीय अर्थशास्त्र (Classical Econimies) तथा रिकार्डो के लगान सिद्धांत (Recardo's Theory of Rent) से प्रभावित थी।

रिकार्डो का यह मानना था कि कृषि उत्पादन से कृषि उपकरण के मूल्य एवं किसानों के श्रम के मूल्य के अंश को अलग करने से जो रकम बचती है, वह विशुद्ध अधिशेष (Net Surplus) होता है। लगान की दृष्टि से उसके एक भाग पर सरकार अपना दावा कर सकती है। उसी प्रकार जमींदार एक निर्भर वर्ग है जो स्वयं तो उत्पादन में हिस्सा नहीं लेता लेकिन केवल भूमि पर स्वामित्व के आधार पर वह भूमि के अधिशेष पर अपना दावा करता है। अतः यदि उस पर कर लगाया जाता है तो भूमि का उत्पादन दुष्प्रभावित नहीं होगा। मुनरो और एलफिंस्टन जैसे ब्रिटिश अधिकारियों पर स्कॉटिश प्रबोधन (Scottish Enlightenment) का भी असर माना जाता है। स्कॉटिश प्रबोधन के तहत जमींदारों की आलोचना की गयी थी तथा स्वतन्त्र किसानों में आस्था प्रकट की गयी थी। इसके अतिरिक्त, रैय्यतवाड़ी व्यवस्था पर पितृसत्तावादी दृष्टिकोण (Patriarchal Approach) का भी प्रभाव माना जाता है। मुनरो का यह मानना था कि दक्षिण भारत में भूमि पर राज्य का ही स्वामित्व रहा था तथा राज्य प्रत्यक्ष रूप से भू-राजस्व की वसूली करता रहा था। राज्य का नियंत्रण कमजोर पड़ने के बाद पोलीगार जैसे बिचौलिये, जो स्थानीय जमींदार थे, ने भू-राजस्व के संग्रह की शक्ति अपने हाथों में ले ली।

रैय्यतवाड़ी व्यवस्था को प्रेरित करने में भौतिक अभिप्रेरणा ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। उदाहरण के लिए, अब कंपनी को ऐसा महसूस होने लगा था कि स्थायी बंदोबस्त उसके लिए घाटे का सौदा साबित हो रहा है तथा इससे कंपनी भविष्य के लाभ से वंचित हो गयी है। एक अन्य कारण यह भी था कि मद्रास प्रेसीडेंसी में निरंतर युद्ध और संघर्ष के कारण कंपनी पर वित्तीय दबाव बहुत ज्यादा था। इसलिए भी कंपनी ने मध्यस्थ और बिचौलियों के अंश को समाप्त करने का प्रयास किया। तीसरे, बंगाल में तो जमींदार वर्ग था, लेकिन पश्चिम व दक्षिण भारत में भू-राजस्व प्रबंधन के लिए कोई स्पष्ट वर्ग नहीं था।

कर्नल रीड ने मद्रास प्रेसीडेन्सी में सर्वप्रथम 1792 ई. में तमिलनाडु के बारामहल क्षेत्र में रैय्यतवाड़ी व्यवस्था लागू करने का प्रयास किया, किंतु कर्नल रीड का इससे विश्वास टूटने पर टामस मुनरो का विश्वास इस पर और भी गहरा गया। मुनरो ने 1809 ई. में कुछ क्षेत्रों में इसका प्रयोग किया। फिर आगे मद्रास के गवर्नर की हैसियत से उसने 1818 ई. एवं इसके पश्चात् मद्रास में इसे लागू किया। उसी प्रकार मुनरो के शिष्य एलफिंस्टन ने इसे बॉम्बे प्रेसीडेन्सी में लागू किया। सम्पूर्ण ब्रिटिश भारत के 51% क्षेत्र में यह व्यवस्था लागू थी।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

रैय्यतों के पंजीकरण की व्यवस्था भी रैय्यतवाड़ी पद्धति का ही एक अंग था, जिसके अंतर्गत पंजीकृत रैय्यतों (किसानों) को भूमि स्वामी माना गया तथा बिना किसी मध्यस्थ और बिचौलिये के प्रत्यक्षत: इनके साथ भू-राजस्व का प्रबंधन किया गया। स्थायी बंदोबस्त यह इस व्यवस्था के अंतर्गत भी भूमि बेची जा सकती थी। रैय्यतवाड़ी क्षेत्र में सामुदायिक सम्पत्ति को राज्य के नियंत्रण में कर गया। इसके बाद इस क्षेत्र में भू-राजस्व की व्यवस्था स्थायी रूप में नहीं वरन् अस्थायी रूप में की गई। समय-समय पर इसका निरीक्षण भी किया जाता था। अधिकारियों के द्वारा कृषि भूमि का सर्वेक्षण कराया गया तथा सम्बन्धित भूमि की उत्पादक क्षमता को राजस्व का आधार बनाया गया। यह सामान्यत: कुल उत्पादन का 2/5 भाग होता था। किसानों को यह छूट दी गयी थी कि वे जिस की भूमि को जोतना चाहें, उसी प्रकार की भूमि को ग्रहण करें। लेकिन भूमि के आधार पर ही उन्हें राजस्व अदा करना होगा। 1820 ई. के बाद इस व्यवस्था में परिवर्तन आने लगा। किसानों का यह विकल्प समाप्त कर दिया गया तथा उन पर जबरदस्ती जोतने के लिए दबाव डाला गया। दूसरा बदलाव यह आया कि भूमि के वास्तविक सर्वेक्षण के बदले अनुमान के आधार पर भू-राजस्व निर्धारण किया जाने लगा। समग्र रूप से कहा जा सकता है कि इस काल में किसानों का व्यापक शोषण हुआ। इस बात का खुलासा यातना आयोग के द्वारा किया गया। परन्तु 1855 ई. के पश्चात् स्थिति में कुछ सुधार देखा गया जब भू-राजस्व की राशि पहले तुलना में कम की गई।

कालांतर में इस पद्धति को एलफिंस्टन के द्वारा बॉम्बे में लागू किया गया। बॉम्बे प्रेसीडेन्सी में आरम्भिक सर्वेक्षण प्रिंगले के अतंर्गत आया गया। प्रिंगले के प्रबंधन पर रिकार्डो के लगान सिद्धान्त का प्रभाव परिलक्षित होता था। इसलिए भू-राजस्व की राशि अधिकतम में निर्धारित की गयी। परन्तु इसके परिणामस्वरूप किसानों को अत्यधिक परेशानी होने लगी क्योंकि उन्हें पहले की अपेक्षा कहीं अधिक राशि चुकानी होती थी। इसके बाद विंगेर और गोल्डस्मिथ के द्वारा नये सर्वेक्षण कराये गये। इन नए सर्वेक्षणों के अंतर्गत भू-राजस्व निर्धारण में किसी विशेष सिद्धांत को आधार न बनाकर वास्तविक सर्वेक्षण को आधार बनाया गया। इस प्रकार 1836 ई. के पश्चात् मद्रास प्रेसीडेंसी की स्थिति में आंशिक रूप से थोड़ा-बहुत सुधार देखने में आया।

रैय्यतवाड़ी पद्धति को लागू करने के पीछे निम्नलिखित दो उद्देश्य थे —

(1) राज्य की आय में वृद्धि

(2) रैय्यतों की सुरक्षा।

पहला उद्देश्य तो पूरा हुआ, लेकिन दूसरा उद्देश्य पूरा नहीं हो सका क्योंकि शीघ्र ही किसानों ने ऐसा अनुभव किया कि कई जमींदारों के बदले अब राज्य सरकार ही बड़े जमींदार की भूमिका निभा रहा था। **भू-राजस्व की राशि रैय्यतवाड़ी क्षेत्र में अधिकतम रूप** में रखी गयी तथा उसका समय-समय पर पुनर्निरीक्षण किया गया। वस्तुत: स्थिति यह थी कि किसान इतनी बड़ी राशि चुकाने में असमर्थ थे। नतीजा यह हुआ कि वे भू-राजस्व की रकम तथा अन्य आवश्यकताओं को पूरा करने हेतु महाजनों से कर्ज लेने लगे और ऋण जाल में फँसते चले गये। चूँकि भू-राजस्व अत्यधिक होने के कारण भूमि की ओर लोगों का आकर्षण कम हो गया। अत: आरंभ में महाजनों ने भूमि अधिग्रहण के संबंध में रुचि कम दिखाई। परन्तु 1836 ई. के पश्चात् बॉम्बे तथा 1855 ई. के बाद मद्रास प्रेसीडेन्सी में गैर-कृषक वर्ग का आकर्षण भूमि के प्रति बढ़ गया। अब धीरे-धीरे भूमि का हस्तांतरण किसानों से महाजनों की ओर होने लगा। दूसरी ओर, रैय्यतवाड़ी क्षेत्र में कुछ समृद्ध किसानों ने भूमि को खरीदकर अपनी जोत को अत्यधिक बढ़ा लिया और वे फिर भूमिहीन कृषकों को बटाई पर भूमि देने लगे। इस स्थिति को कृत्रिम जमींदार वर्ग के उदय के रूप में देखा जाता है।

रैय्यतवाड़ी व्यवस्था: एक नजर में

- भू-राजस्व प्रबंधन के विषय में ब्रिटिश भारत में लागू की गयी स्थायी बंदोबस्त के बाद यह दूसरी व्यवस्था थी, जिसके सूत्रधार थामस मुनरो और कैप्टन रीड थे।
- 1792 ई. में कैप्टन रीड ने रैय्यतवाड़ी व्यवस्था को सर्वप्रथम तमिलनाडु के बारामहल जिले में लागू किया।
- यह व्यवस्था ब्रिटिश भारत के 51% भाग (मद्रास बंबई के कुछ हिस्से, पूर्वी बंगाल, असम, कुर्ग) पर लागू की गई।
- इस व्यवस्था के अंतर्गत रैय्यतों को भूमि का मालिकाना हक दिया गया, जिसके द्वारा ये प्रत्यक्ष रूप से सीधे या व्यक्तिगत रूप से भू-राजस्व अदा करने के लिए उत्तरदायी थे।
- इस पद्धति में किसान को 33% से 55% के बीच लगान कंपनी को अदा करना होता था। 1836 ई. के बाद विंगेर और गोल्डस्मिथ द्वारा इस व्यवस्था में सुधार किए गए।

महालवाड़ी व्यवस्था *(Mahalwari System)*

स्थायी बंदोबस्त और रैय्यतवाड़ी व्यवस्था दोनों के अंतर्गत ग्रामीण समुदाय उपेक्षित ही रहा। आगे महालवाड़ी पद्धति में इस ग्रामीण समुदाय के लिए स्थान निर्धारित करने का प्रयास किया गया। महालवाड़ी व्यवस्था के निर्धारण में विचारधारा और दृष्टिकोण का असर देखने को मिला। इस पर रिकार्डो के लगान सिद्धांत का प्रभाव माना जाता है। किन्तु, सूक्ष्म परीक्षण करने पर यह ज्ञात होता है कि महालवाड़ी पद्धति के निर्धारण में भी प्रभावकारी कारक भौतिक अभिप्रेरणा ही रहा तथा विचारधारा का असर बहुत अधिक नहीं था। वस्तुत: अब कंपनी को अपनी भूल का एहसास हुआ।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

स्थायी बंदोबस्त प्रणाली दोषपूर्ण थी, यह बात 19वीं सदी के आरम्भिक दशकों में ही स्पष्ट हो गई थी। स्थायी बंदोबस्त के दोष उभरने भी लगे थे। इन्हीं दोषों का परिणाम था कि कंपनी बंगाल में अपने भावी लाभ से वंचित हो गयी। दूसरे, इस काल में कंपनी निरंतर युद्ध और संघर्ष में उलझी हुई थी। ऐसी स्थिति में उसके पास समय नहीं था कि वह किसी नवीन पद्धति का विकास एवं उसका वैज्ञानिक रूप में परीक्षण करे तथा उसे भू-राजस्व व्यवस्था में लागू कर सके। दूसरी ओर, कंपनी के बढ़ते खर्च को देखते हुए ब्रिटेन में औद्योगिक क्रान्ति में निवेश करने के लिए भी बड़ी मात्रा में धन की आवश्यकता थी। उपर्युक्त कारक महालवाड़ी पद्धति के स्वरूप-निर्धारण में प्रभावी सिद्ध हुए।

महालवाड़ी पद्धति उत्तर भारत तथा उत्तर पश्चिम भारत के एक बड़े क्षेत्र में लागू हुई। 1801 ई. तथा 1806 ई. के बीच ब्रिटिश कंपनी को हस्तांतरित क्षेत्र तथा विजित क्षेत्र के रूप में एक बड़ा क्षेत्र प्राप्त हो गया था। आरम्भ में इन्हीं क्षेत्रों में प्रबंधन किया गया। यह क्षेत्र मुगल साम्राज्य के अधीन भी एक केन्द्रीय क्षेत्र रहा था। आगे इस व्यवस्था का विस्तार मध्य प्रांत तथा पंजाब में भी किया गया। उत्तर भारत में जमींदार तथा मध्यस्थ के रूप में तालुकेदार स्थापित हो रहे थे। शुरूआती दौर में कंपनी ने इन तालुकेदारों के सहयोग से ही भू-राजस्व की वसूली आरम्भ की। लेकिन आगे चलकर तालुकेदारों की शक्तियों में कटौती की गयी तथा कंपनी ने अधिकतम रूप में भू-राजस्व की वसूली पर बल दिया। इससे कुछ पुराने और शक्तिशाली तालुकेदारों में रोष उत्पन्न हुआ और उन्होंने इस स्थिति का विरोध किया, किन्तु सरकार ने विद्रोही तालुकेदारों के प्रति सख्त रवैया अपनाते हुए विरोध को दबा दिया।

महालवाड़ी पद्धति की औपचारिक शुरूआत सर्वप्रथम 1822 ई. में कंपनी के सचिव होल्ट मकेंजी द्वारा बंगाल के रेग्यूलेशन (Regulation) के आधार पर की गयी। यद्यपि कुछ क्षेत्रों में तालुकेदारों के माध्यम से भी भू-राजस्व की वसूली की जानी थी, लेकिन इस पद्धति के तहत ग्राम अथवा महाल के साथ भू-राजस्व के प्रबंधन पर जोर दिया गया। इस पद्धति के अंतर्गत भू-राजस्व का प्रबंधन किसी निजी किसान के साथ न करके सम्पूर्ण गाँव अथवा महाल के साथ किया जाना प्रस्तावित था। इस उद्देश्य की पूर्ति हेतु उस गाँव अथवा महाल की भूमि का व्यापक सर्वेक्षण होना था और फिर इस सर्वेक्षण के आधार पर राज्य की राशि तय की जानी थी। स्थायी बंदोबस्त के विपरीत इसका निर्धारण अस्थायी रूप में किया जाना था। इस बात का भी ख्याल रखा जाना आवश्यक था कि इसकी अवधि बहुत कम रहे, ताकि किसानों का इस पद्धति में विश्वास बना रहे। इसलिए इसके निर्धारण की अवधि न्यूनतम 10-12 वर्षों से लेकर अधिकतम 20-25 वर्षों तक रखी गयी। इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण बात यह भी थी कि इस पद्धति के अंतर्गत भू-राजस्व की राशि अधिकतम रूप में निर्धारित की गयी। उदाहरण के लिए, जिस क्षेत्र में ताल्लुकेदार के माध्यम से वसूली की गयी, वहाँ यह कुल भूमि लगान का लगभग 30% निर्धारित किया गया। वहीं दूसरी ओर, जहाँ

महालवाड़ी व्यवस्था

1. स्थायी बंदोबस्त तथा रैय्यतवाड़ी व्यवस्था के बाद ब्रिटिश भारत में लागू की जाने वाली यह भू-राजस्व की अगली व्यवस्था थी जो सम्पूर्ण भारत के 30% भाग दक्कन के जिलों, मध्य प्रांत पंजाब तथा उत्तर प्रदेश (संयुक्त प्रांत), आगरा, अवध पर लागू थी।
2. इस व्यवस्था के अंतर्गत भू-राजस्व का निर्धारण समूचे ग्राम के उत्पादन के आधार पर किया जाता था तथा महाल के समस्त कृषक भू-स्वामियों के भू-राजस्व का निर्धारण संयुक्त रूप से किया जाता था। इसमें गाँव के लोग अपने मुखिया या प्रतिनिधियों के द्वारा एक निर्धारित समय-सीमा के अंदर लगान की अदायगी की जिम्मेदारी अपने ऊपर लेते थे।
3. इस पद्धति के अंतर्गत लगान का निर्धारण अनुमान पर आधारित था और इसकी विसंगतियों का लाभ उठाकर कंपनी के अधिकारी अपनी स्वार्थ सिद्धि में लग गए तथा कंपनी को लगान वसूली पर लगान से अधिक खर्च करना पड़ा। परिणामस्वरूप यह व्यवस्था बुरी तरह विफल रही।

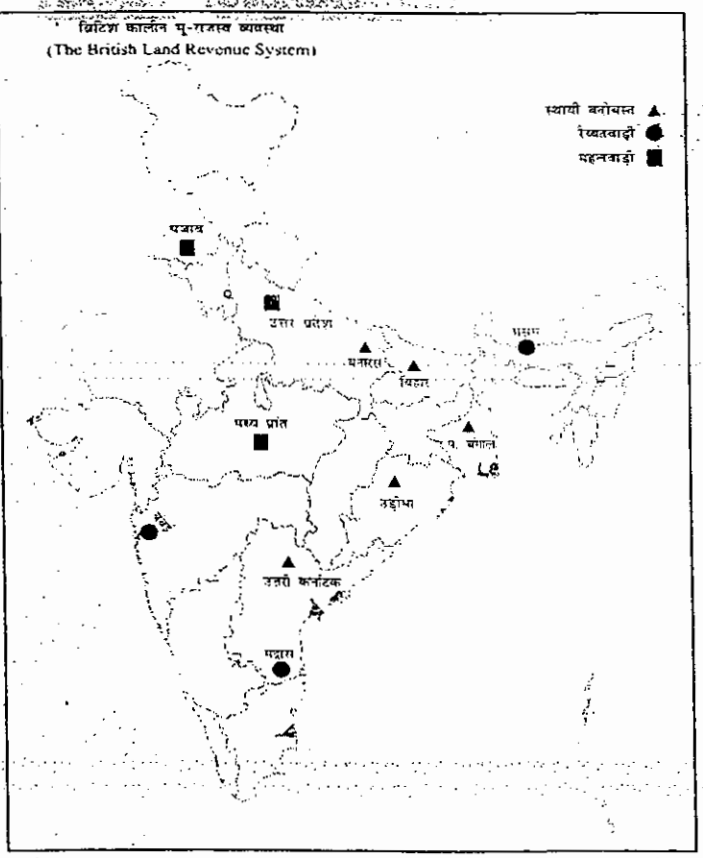

Copyright – Drishti The Vision Foundation

ग्राम प्रधान अथवा लंबरदार के माध्यम से ग्राम या महाल से वसूल किया जाना था, वहाँ भू-राजस्व की राशि कुल भूमि लगान का 95% तक भी निर्धारित कर दी गयी थी।

वह पद्धति 1830 ई. के दशक से पूर्व सीमित रूप में प्रभावी रही। किन्तु, विलियम बैंटिक के काल में मार्टिन बर्ड नामक अधिकारी ने इस महालवाड़ी पद्धति को सरलीकृत करने का प्रयत्न किया। भूमि के सर्वेक्षण के लिए एक वैज्ञानिक पद्धति अपनायी गयी। मार्टिन बर्ड के द्वारा ही भूमि का मानचित्र और पंजीयन तैयार किया गया। इसके बाद भू-राजस्व की राशि कुल भूमि लगान का 66% निर्धारित की गयी और यह प्रबंधन 30 वर्षों के लिए किया गया। इसे देखने पर यह यह निष्कर्ष निकलता है कि मार्टिन बर्ड से लेकर जेम्स टॉमसन के काल तक महालवाड़ी पद्धति का बेहतर रूप उभरकर आया।

उपर्युक्त स्थिति के विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि महालवाड़ी पद्धति ने परम्परागत रूप में स्थापित तालुकेदारों के हितों को चोट पहुँचाई तथा उन्हें उनके विशेषाधिकारों से वंचित कर दिया। 1857 ई. के विद्रोह में अवध के तालुकेदारों की अच्छी भागीदारी को इसी वंचना के कारणों के रूप में देखा जाता है। किसानों पर भी इसका नकारात्मक प्रभाव पड़ा। परिणामस्वरूप 1857 ई. के विद्रोह में महालवाड़ी क्षेत्र के किसानों ने व्यापक भागीदारी निभाई। ऐसी स्थिति में सन् 1857 के विद्रोह को केवल एक सिपाही विद्रोह मानने वालों के लिए यह एक सवालिया निशान था।

ब्रिटिश कालीन भू-राजस्व व्यवस्था

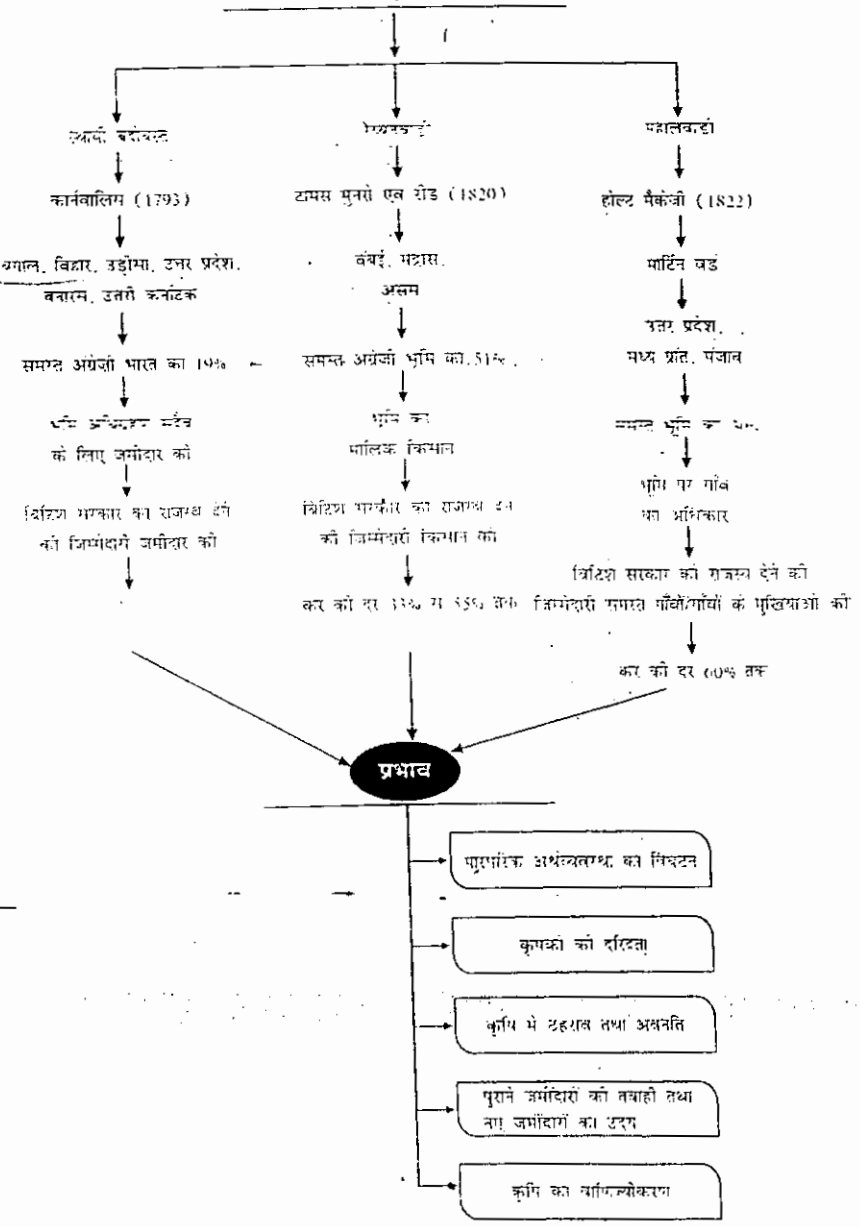

Copyright – Drishti The Vision Foundation

धन का बहिर्गमन *(Drain of Wealth)*

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि उपर्युक्त सभी व्यवस्थाओं के मूल में कंपनी की वाणिज्यवादी प्रकृति व्याप्त थी। धन की निकासी की अवधारणा वाणिज्यवादी सोच के क्रम में विकसित हुई। अन्य शब्दों में, वाणिज्यवादी व्यवस्था के अंतर्गत धन की निकासी उस स्थिति को कहा जाता है जब प्रतिकूल व्यापार संतुलन के कारण किसी देश से सोने, चाँदी जैसी कीमती धातुएँ देश से बाहर चली जाएँ। माना यह जाता है कि प्लासी की लड़ाई से 50 वर्ष पहले तक ब्रिटिश कंपनी द्वारा भारतीय वस्तुओं की खरीद के लिए दो करोड़ रुपये की कीमती धातु लाई गई थी। ब्रिटिश सरकार द्वारा कंपनी के इस कदम की आलोचना की गयी थी किंतु कर्नाटक युद्धों एवं प्लासी तथा बक्सर के युद्धों के पश्चात् स्थिति में नाटकीय परिवर्तन आया।

बंगाल की दीवानी ब्रिटिश कंपनी को प्राप्त होने के साथ कंपनी ने अपने निवेश की समस्या को सुलझा लिया। अब आंतरिक व्यापार से प्राप्त रकम, बंगाल की लूट से प्राप्त रकम तथा बंगाल की दीवानी से प्राप्त रकम के योग के एक भाग का निवेश भारतीय वस्तुओं की खरीद के लिए होने लगा। ऐसे में धन की निकासी की समस्या उत्पन्न होना स्वाभाविक ही था। अन्य शब्दों में, भारत ने ब्रिटेन को जो निर्यात किया उसके बदले भारत को कोई आर्थिक, भौतिक अथवा वित्तीय लाभ प्राप्त नहीं हुआ। इस प्रकार, बंगाल की दीवानी से प्राप्त राजस्व का एक भाग वस्तुओं के रूप में भारत से ब्रिटेन हस्तांतरित होता रहा। इसे ब्रिटेन के पक्ष में भारत से धन का हस्तांतरण कहा जा सकता है। यह प्रक्रिया 1813 ई. तक चलती रही, किंतु 1813 ई. के चार्टर के तहत कंपनी का राजस्व खाता तथा कंपनी का व्यापारिक खाता अलग-अलग हो गया। इस परिवर्तन के आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि 18वीं सदी के अंत में लगभग 4 मिलियन पौण्ड स्टर्लिंग रकम भारत से ब्रिटेन की ओर हस्तांतरित हुई। इस प्रकार भारत के संदर्भ में यह कहा जा सकता है कि 1813 ई. तक कंपनी की नीति मुख्यत: वाणिज्यवादी उद्देश्य से परिचालित रही जिसका बल इस बात पर रहा कि उपनिवेश मातृदेश के हित की दृष्टि से महत्व रखते हैं।

1813 ई. के चार्टर के तहत भारत का रास्ता ब्रिटिश वस्तुओं के लिए खोल दिया गया तथा भारत में कंपनी का व्यापारिक एकाधिकार समाप्त कर दिया गया। इसे एक महत्वपूर्ण परिवर्तन के रूप में देखा जा सकता है। स्थिति उस समय और भी चिंताजनक रही जब ब्रिटेन तथा यूरोप में भी कंपनी के द्वारा भारत से निर्यात किए जाने वाले तैयार माल को हतोत्साहित किया जाने लगा। परिणाम यह निकला कि अब कंपनी के समक्ष अपने शेयर धारकों को देने के लिए रकम की समस्या उत्पन्न हो गई। आरंभ में कंपनी ने नील और कपास का निर्यात कर इस समस्या को सुलझाने का प्रयास किया, किंतु भारतीय नील और कपास कैरिबियाई देशों के उत्पाद तथा सस्ते श्रम के कारण कम लागत में तैयार अमेरिकी उत्पादों के सामने नहीं टिक सके। अत: कई निर्यात एजेंसियों को घाटा उठाना पड़ा। यही कारण रहा कि कंपनी ने विकल्प के रूप में भारत में अफीम के उत्पादन पर बल दिया। फिर बड़ी मात्रा में अफीम भारत से चीन को निर्यात की जाने लगी। अफीम का निर्यात चीनी लोगों के स्वास्थ्य के लिए जितना घातक था उतना ही कंपनी के व्यावसायिक स्वास्थ्य के लिए आवश्यक था। अफीम व्यापार का विरोध किये जाने पर भी ब्रिटिश कंपनी ने चीन पर जबरन यह घातक जहर थोप दिया। ब्रिटेन भारत से चीन को अफीम निर्यात करता और बदले में वहाँ से रेशम और चाय की उगाही करता और मुनाफा कमाता। इस प्रकार, भारत से निर्यात तो जारी रहा किंतु बदले में उस अनुपात में आयात नहीं हो पाया।

अपने परिवर्तित स्वरूप के साथ 1858 ई. के पश्चात् भी यह समस्या बनी रही। 1858 ई. में भारत का प्रशासन ब्रिटिश क्राउन (British Crown) ने अपने हाथों में ले लिया। इस परिवर्तन के प्रावधानों के तहत भारत के प्रशासन के लिए भारत सचिव के पद का सृजन किया गया। भारत सचिव तथा उसकी परिषद का खर्च भारतीय खाते में डाल दिया गया। 1857 ई. के विद्रोह को दबाने में जो रकम खर्च हुई थी, उसे भी भारतीय खाते में डाला गया। इससे भी अधिक ध्यान देने योग्य बात यह है कि भारतीय सरकार एक निश्चित रकम प्रतिवर्ष गृह-व्यय के रूप में ब्रिटेन भेजती थी। व्यय की इस रकम में कई मदें शामिल होती थीं, यथा- रेलवे पर प्रत्याभूत ब्याज, सरकारी कर्ज पर ब्याज, भारत के लिए ब्रिटेन में की जाने वाली सैनिक सामग्रियों की खरीद, भारत से सेवानिवृत्त ब्रिटिश अधिकारियों के पेंशन की रकम इत्यादि। इस प्रकार गृह-व्यय की राशि की गणना धन की निकासी के रूप में की जाती थी। उल्लेखनीय है कि 19वीं सदी में धन के अपवाह में केवल गृह-व्यय ही शामिल नहीं था वरन् इसमें कुछ अन्य मदें भी जोड़ी जाती थीं। उदाहरण के लिए- भारत में कार्यरत ब्रिटिश अधिकारियों के वेतन का वह भाग जो वह भारत से बचाकर ब्रिटेन भेजा जाता था तथा निजी ब्रिटिश व्यापारियों का वह मुनाफा जो भारत से ब्रिटेन भेजा जाता था। फिर जब सन् 1870 के दशक में ब्रिटिश पौण्ड स्टर्लिंग की तुलना में रुपए का अवमूल्यन हुआ तो इसके साथ ही निकासी किए गए धन की वास्तविक राशि में पहले की अपेक्षा और भी अधिक वृद्धि हो गई।

गृह-व्यय अधिक हो जाने के कारण इसकी राशि को पूरा करने के लिए भारत में निर्यात अधिशेष बरकरार रखा गया। गृह-व्यय की राशि अदा करने के लिए एक विशेष तरीका अपनाया गया। उदाहरणार्थ, भारत सचिव लंदन में कौंसिल बिल जारी करता था तथा इस कौंसिल बिल के खरीददार वे व्यापारी होते थे जो भारतीय वस्तुओं के भावी खरीददार भी थे। इस खरीद के बदले भारत सचिव को पौण्ड स्टर्लिंग प्राप्त होता जिससे वह गृह-व्यय की राशि की व्यवस्था करता था। इसके बाद इस कौंसिल बिल को लेकर ब्रिटिश व्यापारी भारत आते और इनके बदले वे भारतीय खाते से रुपया निकालकर उसका उपयोग भारतीय वस्तुओं की खरीद के लिए करते। इसके बाद

Copyright – Drishti The Vision Foundation

भारत में काम करने वाले ब्रिटिश अधिकारी इस कौंसिल बिल को खरीदते। केवल ब्रिटिश अधिकारी ही नहीं, बल्कि भारत में व्यापार करने वाले निजी ब्रिटिश व्यापारी भी अपने लाभ को ब्रिटेन भेजने के लिए कौंसिल बिल की खरीददारी करते। लंदन में उन्हें इन कौंसिल बिलों के बदले में पौण्ड स्टर्लिंग प्राप्त हो जाता था।

गृह-व्यय के रूप में भारत द्वारा प्रतिवर्ष ब्रिटेन भेजी जाने वाली राशि के कारण भुगतान संतुलन भारत के पक्ष में नहीं था। यहाँ यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि शेष विश्व के साथ व्यापार में संतुलन भारत के पक्ष में बना रहा। चूँकि निर्यात अधिशेष उस संपूर्ण रकम को पूरा नहीं कर पाता, इसलिए उसकी पूर्ति हेतु भारत को अतिरिक्त राशि कर्ज के रूप में प्राप्त करनी होती थी। फलतः भारत पर गृह-व्यय का अधिभार और भी बढ़ जाता। इस तरह, आर्थिक संबंधों को लेकर एक ऐसा जाल बनता जा रहा था जिसमें भारत ब्रिटेन के साथ बँधता जा रहा था।

दादाभाई नौरोजी व आर. सी. दत्त जैसे राष्ट्रवादी चिंतकों ने धन की निकासी की कटु आलोचना की और इसे उन्होंने भारत के दरिद्रीकरण का एक कारण माना। दूसरी ओर, मॉरिसन जैसे ब्रिटिश पक्षधर विद्वान निकासी की स्थिति को अस्वीकार करते हैं। उनके द्वारा यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया गया कि गृह-व्यय की राशि बहुत अधिक नहीं थी और फिर यह रकम भारत के विकास के लिए जरूरी था। उन्होंने यह भी सिद्ध करने का प्रयास किया कि अंग्रेजों ने भारत में अच्छी सरकार दी तथा यहाँ यातायात और संचार व्यवस्था एवं उद्योगों का विकास किया और फिर ब्रिटेन ने बहुत कम ब्याज पर अंतरराष्ट्रीय मुद्रा बाजार से एक बड़ी रकम भारत को उपलब्ध करवायी।

जहाँ तक राष्ट्रवादी चिंतकों की बात है तो उनका कहना है कि भारत को उस पूँजी की जरूरत ही नहीं थी जो अंग्रेजों ने उस समय उसे उपलब्ध करायी। दूसरे, यदि भारत में स्वयं पूँजी का संचय हुआ होता तो फिर उसे कर्ज लेने की जरूरत ही क्यों पड़ती। आगे धन की निकासी की व्याख्या करते हुए इन्होंने इस बात पर जोर दिया कि भारत उस लाभ से भी वंचित रह गया जो उस रकम के निवेश से उसे प्राप्त होता। साथ ही, धन के निकासी ने निवेश को अन्य तरीकों से भी प्रभावित किया। उपर्युक्त विवेचन की समीक्षा करने से हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि राष्ट्रवादी आलोचना की भी कुछ अपनी सीमाएँ थीं। उदाहरण के लिए- दादाभाई नौरोजी जैसे राष्ट्रवादी चिंतकों ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि भारत से जिस धन की निकासी हुई वह महज धन नहीं था, बल्कि पूँजी थी। दूसरे, उन्होंने भारत में कार्यरत ब्रिटिश अधिकारियों को भारत के आर्थिक दोहन के लिए उत्तरदायी माना। लेकिन फिर भी यह कहा जा सकता है कि हमारे राष्ट्रवादी चिंतकों ने औपनिवेशक अर्थतंत्र की क्रमबद्ध आलोचना कर ब्रिटिश शासन के वास्तविक चरित्र को उजागर किया। अतः भावी जागरूकता की दृष्टि से उनका चिंतन सराहनीय माना जाना चाहिए।

धन का बहिर्गमन : राष्ट्रवादी विचारधारा

'धन-निकासी सिद्धांत' के तहत आर्थिक निकास उस समय होता है, जब किसी देश के प्रतिकूल व्यापार संतुलन के फलस्वरूप सोने व चांदी का बहिर्गमन होता है। 'धन की निकासी' के सिद्धांत को सर्वप्रथम 1867 ई0 में लंदन में हुई 'ईस्ट इंडिया एसोसिएशन' की एक बैठक में 'दादा भाई नौरोजी' द्वारा उठाया गया। अपने निबंध (England Debt to India) में उन्होंने इस मुद्दे को उठाया। उन्होंने कहा- "भारत में अपने शासन की कीमत के रूप में ब्रिटेन, इस देश की संपदा को छीन रहा है। भारत में वसूल किए गए कुल राजस्व का लगभग चौथाई भाग देश के बाहर चला जाता है तथा इंग्लैण्ड के संसाधनों में जुड़ जाता है।" सन् 1896 ई. में 'भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस' ने कलकत्ता अधिवेशन में औपचारिक रूप से इसे स्वीकृत करते हुए कहा कि वर्षों से निरंतर देश से हो रही संपत्ति की निकासी देश में अकालों के लिए और देशवासियों की गरीबी के लिए जिम्मेदार है।

विऔद्योगीकरण *(Deindustrialization)*

किसी भी देश के उद्योगों के क्रमिक ह्रास अथवा विघटन को ही विऔद्योगीकरण कहा जाता है। भारत में ब्रिटिश शासन के अंतर्गत हस्तशिल्प उद्योगों का पतन सामने आया, जिसके परिणामस्वरूप कृषि पर जनसंख्या का बोझ बढ़ता गया। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत विऔद्योगीकरण को प्रेरित करने वाले निम्नलिखित घटक माने जाते हैं-

- प्लासी और बक्सर के युद्ध के बाद ब्रिटिश कंपनी द्वारा गुमाश्तों के माध्यम से बंगाल के हस्तशिल्पियों पर नियंत्रण स्थापित करना अर्थात् उत्पादन प्रक्रिया में उनके द्वारा हस्तक्षेप करना।
- 1813 ई. के चार्टर एक्ट के द्वारा भारत का रास्ता ब्रिटिश वस्तुओं के लिए खोल दिया गया।
- भारतीय वस्तुओं पर ब्रिटेन में अत्यधिक प्रतिबंध लगाये गये, अर्थात् भारतीय वस्तुओं के लिए ब्रिटेन का द्वार बंद किया जा रहा था।
- भारत में दूरस्थ क्षेत्रों का भेदन रेलवे के माध्यम से किया गया। दूसरे शब्दों में, एक ओर जहाँ दूरवर्ती क्षेत्रों में भी ब्रिटिश फैक्ट्री उत्पादों को पहुँचाया गया, वहीं दूसरी ओर कच्चे माल को बंदरगाहों तक लाया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- भारतीय राज्य भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों के बड़े संरक्षक रहे थे, लेकिन ब्रिटिश साम्राज्यवादी प्रसार के कारण ये राजा लुप्त हो गये। इसके साथ ही भारतीय हस्तशिल्प उद्योगों ने अपना देशी बाज़ार खो दिया।
- हस्तशिल्प उद्योगों के लुप्तप्राय होने के लिए ब्रिटिश सामाजिक व शैक्षणिक नीति को भी जिम्मेदार ठहराया जाता है। इसने एक ऐसे वर्ग को जन्म दिया जिसका रुझान और दृष्टिकोण भारतीय न होकर ब्रिटिश था। अत: अंग्रेज़ी शिक्षाप्राप्त इन भारतीयों ने ब्रिटिश वस्तुओं को ही संरक्षण प्रदान किया।

भारत में 18वीं सदी में दो प्रकार के हस्तशिल्प उद्योग अस्तित्व में थे– ग्रामीण उद्योग और नगरीय दस्तकारी। भारत में ग्रामीण हस्तशिल्प उद्योग यजमानी व्यवस्था (Yajamani System) के अंतर्गत संगठित था। नगरीय हस्तशिल्प उद्योग अपेक्षाकृत अत्यधिक विकसित थे। इतना ही नहीं पश्चिमी देशों में इन उत्पादों की अच्छी-खासी माँग थी। ब्रिटिश आर्थिक नीति ने दोनों प्रकार के हस्तशिल्प उद्योगों को प्रभावित किया। नगरीय हस्तशिल्प उद्योगों में सूती वस्त्र उद्योग अत्यधिक विकसित था। कृषि के बाद भारत में सबसे अधिक लोगों को रोजगार सूती वस्त्र उद्योग द्वारा ही प्राप्त होता था। उत्पादन की दृष्टि से भी कृषि के बाद इसी क्षेत्र का स्थान था, किंतु ब्रिटिश माल की प्रतिस्पर्धा तथा भेदभावपूर्ण ब्रिटिश नीति के कारण सूती वस्त्र उद्योग का पतन हुआ। अंग्रेज़ों के आने से पूर्व बंगाल में जूट के वस्त्र की बुनाई भी होती थी। लेकिन 1835 ई. के बाद बंगाल में जूट हस्तशिल्प की भी ब्रिटिश मशीनीकृत उद्योग के उत्पाद के साथ प्रतिस्पर्धा हुई जिससे बंगाल में जूट हस्तशिल्प उद्योग को धक्का लगा। उसी प्रकार कश्मीर शाल एवं चादर के लिए प्रसिद्ध था। उसके उत्पादों की माँग पूरे विश्व में भी थी, किंतु 19वीं सदी में स्कॉटिश उत्पादों की प्रतिस्पर्धा के कारण कश्मीर में शाल उत्पादन को भी धक्का लगा। ब्रिटिश शक्ति की स्थापना से पूर्व भारत में कागज उद्योग का भी प्रचलन था, किंतु 19वीं सदी के उत्तरार्ध में चार्ल्स वुड की घोषणा से स्थिति में नाटकीय परिवर्तन आया। इस घोषणा के तहत स्पष्ट रूप से यह आदेश जारी किया गया था कि भारत में सभी प्रकार के सरकारी कामकाज के लिए कागज की खरीद ब्रिटेन से ही होगी। ऐसी स्थिति में भारत में कागज उद्योग को धक्का लगना स्वभाविक ही था। प्राचीन काल से ही भारत बेहतर किस्म के लोहे और इस्पात के उत्पादन के लिए प्रसिद्ध था, किंतु ब्रिटेन से लौह उपकरणों के आयात के कारण यह उद्योग भी प्रभावित हुए बिना न रह सका।

भारत में विऔद्योगीकरण की अवधारणा को औपनिवेशिक इतिहासकार स्वीकार नहीं करते। उदाहरणार्थ, सूती वस्त्र उद्योग पर ब्रिटिश नीति के प्रभाव की व्याख्या करते हुए मॉरिस डी-मॉरिस जैसे ब्रिटिश विद्वान विऔद्योगीकरण की अवधारणा को अस्वीकार करते हुए कहते हैं कि ब्रिटिश नीति ने भारत में हस्तशिल्प उद्योग को प्रोत्साहन दिया। उनका तर्क है कि ब्रिटेन के द्वारा भारत में यातायात और संचार व्यवस्था का विकास किया गया तथा अच्छी सरकार दी गयी, जिसके परिणामस्वरूप यहाँ प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुई। अत: भारत के बाज़ार का विस्तार हुआ। ऐसे में भारतीय हस्तशिल्प उद्योग उस माँग को पूरा नहीं कर सकता था। मुद्रास्फीति और मूल्यवृद्धि के रूप में इसका स्वाभाविक परिणाम देखने में आता है। ऐसी स्थिति में ब्रिटेन से अतिरिक्त वस्तुएँ लाकर इस बाज़ार की जरूरतों को पूरा किया गया। इस संबंध में दूसरा तर्क यह भी दिया जाता है कि ब्रिटेन ने भारत में ब्रिटेन से केवल वस्त्रों का ही आयात नहीं किया वरन् सूत का भी आयात किया। इसके परिणामस्वरूप शिल्पियों को सस्ती दर पर सूत उपलब्ध हुआ, जिससे सूती वस्त्र उद्योग को बढ़ावा मिला। लेकिन, मॉरिस डी-मॉरिस के इस तर्क से सहमत नहीं हुआ जा सकता है।

हमारे पास कोई ऐसे निश्चित आँकड़े नहीं हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सके कि उस काल में भारत में प्रतिव्यक्ति आय में वृद्धि हुई। हालांकि यह सत्य है कि ब्रिटेन से भारत में वस्त्र के साथ-साथ सूत भी लाया गया, लेकिन यह भी सही है कि सूत से भी सस्ती दर पर वस्त्र लाये गये। अत: भारतीय शिल्पियों के हित-लाभ का तो प्रश्न ही नहीं उठता है।

विऔद्योगिकरण की समीक्षा करने पर इतना तो स्पष्ट हो जाता है कि इस काल में सभी प्रकार के हस्तशिल्प उद्योगों का पतन नहीं हुआ तथा कुछ उद्योग ब्रिटिश नीति के दवाब के बावजूद भी बने रहे। इसके निम्नलिखित कारण थे:

(1) भारत में कुछ हस्तशिल्प उत्पाद ऐसे थे जिनका विकल्प ब्रिटिश उत्पादन हो ही नहीं सकते थे। उदाहरण के लिए, बढ़ईगिरी, कुंभकारी, लुहारगिरी आदि।

(2) उस काल में भारतीय बाज़ार एकीकृत नहीं था अत: कुछ क्षेत्रों में चाहकर भी ब्रिटिश उत्पाद नहीं पहुँच सके।

(3) बढ़ती हुई बेरोजगारी के कारण आर्थिक रूप से लाभकारी न होने पर भी कुछ हस्तशिल्प उद्योग अस्तित्व में बने रहे।

यदि हम विश्व के संपूर्ण औद्योगिक उत्पाद में भारत के अंशदान पर नजर डालें तो ज्ञात होगा कि 1800 ई. में यह 19.6% था। 1860 ई. में यह कम होकर 8.6% तथा 1913 ई. में यह मात्र 1.4% रह गया। इस गिरावट का कारण पश्चिमी देशों में होने वाला औद्योगीकरण भी था क्योंकि हस्तशिल्प उद्योगों से आधुनिक संगठित फैक्ट्री का उत्पादन कहीं अधिक था। लेकिन एक महत्त्वपूर्ण कारण के रूप में भारत में प्रतिव्यक्ति औद्योगिक उत्पादन की औसत दर में गिरावट को माना जाता है।

जहाँ तक हस्तशिल्प उद्योगों के पतन का सवाल है तो हम यह जानते हैं कि हस्तशिल्प उद्योग एक प्राक्-पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली (Pre-capitalist Production System) है। अत: पूँजीवादी उत्पादन प्रणाली (Capitalist Production System) के विकास के बाद

Copyright -- Drishti The Vision Foundation

इसका कमजोर पड़ जाना स्वाभाविक ही है। इस पूरी प्रक्रिया का एक दुःखद पहलू यह भी है कि पश्चिम में तो हस्तशिल्प उद्योगों के पतन की क्षतिपूर्ति आधुनिक उद्योगों की स्थापना के द्वारा कर दी गयी, लेकिन भारत में ऐसा नहीं हो सका। अतः जहाँ, पश्चिम में बेरोजगार शिल्पी आधुनिक कारखानों में काम में लग गए, वहीं भारत में बेरोजगार शिल्पी ग्रामीण क्षेत्र में पलायन कर गये। परिणामतः कृषि पर जनसंख्या का अधिभार बढ़ता चला गया। निष्कर्षतः ग्रामीण गरीबी और ग्रामीण बेरोजगारी बढ़ती गई। कुल मिलाकर भारत का पारंपरिक ढाँचा टूट ही गया और पूँजीवादी संरचना ने किसी भी प्रकार से उसकी भरपाई नहीं की।

कृषि का व्यावसायीकरण *(Commercialization of Agriculture)*

एडम स्मिथ के अनुसार व्यावसायीकरण उत्पादन को प्रोत्साहन देता है तथा इसके परिणामस्वरूप समाज में समृद्धि आती है, किंतु औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत लाये गए व्यावसायीकरण ने जहाँ ब्रिटेन को समृद्ध बनाया, वहीं भारत में गरीबी बढ़ी। 'कृषि के क्षेत्र में व्यावसायिक संबंधों तथा मौद्रिक अर्थव्यवस्था के प्रसार' को ही कृषि के व्यावसायीकरण की संज्ञा दी जाती है। गौर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि कृषि में व्यावसायिक संबंध तथा कृषि का मौद्रीकरण (Monetization of Agriculture) कोई नई घटना नहीं थी क्योंकि मुगलकाल में भी कृषि अर्थव्यवस्था में ये कारक विद्यमान थे। राज्य तथा जागीरदार दोनों के द्वारा राजस्व की वसूली में अनाजों के बदले नगद वसूली पर बल दिए जाने को इसके कारण के रूप में देखा जाता है। यह बात अलग है ब्रिटिश शासन में इस प्रक्रिया को और भी बढ़ावा मिला। रेलवे का विकास तथा भारतीय अर्थव्यवस्था का विश्व अर्थव्यवस्था से जुड़ जाना भी इस दिशा में एक महत्वपूर्ण कारक सिद्ध हुआ। ब्रिटिश शासन के अंतर्गत कृषि के व्यावसायीकरण को जिन कारणों ने प्रेरित किया वे निम्नलिखित थे-

(क) भारत में भू-राजस्व की रकम अधिकतम निर्धारित की गयी थी। परम्परागत फसलों के उत्पादन के आधार पर भू-राजस्व की इस रकम को चुका पाना किसानों के लिए संभव नहीं था। ऐसे में नकदी फसलों के उत्पादन की ओर उनका उन्मुख होना स्वाभाविक ही था।

(ख) ब्रिटेन में औद्योगिक क्रांति आरंभ हो गई थी तथा ब्रिटिश उद्योगों के लिए बड़ी मात्रा में कच्चे माल की जरूरत थी। यह सर्वविदित है कि औद्योगीकरण के लिए एक सशक्त कृषि आधार का होना जरूरी है। ब्रिटेन में यह आधार न मौजूद हो पाने के कारण ब्रिटेन में होने वाले औद्योगीकरण के लिए भारतीय कृषि अर्थव्यवस्था का व्यापक दोहन किया गया।

(ग) औद्योगीकरण के साथ ब्रिटेन में नगरीकरण की प्रक्रिया को भी बढ़ावा मिला था। नगरीय जनसंख्या की आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए बड़ी मात्रा में खाद्यान्न की आवश्यकता थी, जबकि ब्रिटेन खाद्यान्न के मामले में आत्मनिर्भर नहीं था। अतः भारत से खाद्यान्न के निर्यात को भी इसके एक कारण के रूप में देखा जाता है।

(घ) किसानों में मुनाफा प्राप्त करने की उत्प्रेरणा भी व्यावसायिक खेती को प्रेरित करने वाला एक कारक माना जाता है।

इस संदर्भ में यह उल्लेखनीय है कि औपनिवेशिक सरकार ने भारत में उन्हीं फसलों के उत्पादन को बढ़ावा दिया जो उनकी औपनिवेशिक माँग के अनुरूप थी। उदाहरण के लिए - कैरिबियाई देशों पर नील के आयात की निर्भरता को कम करने के लिए उन्होंने भारत में नील के उत्पादन को प्रोत्साहन दिया। इस उत्पादन को तब तक बढ़ावा दिया जाता रहा जब तक नील की माँग कम नहीं हो गयी। नील की माँग में कमी सिंथेटिक रंग के विकास के कारण आई थी। उसी प्रकार, चीन को निर्यात करने के लिए भारत में अफीम के उत्पादन पर जोर दिया गया। इसी प्रकार, इटैलियन रेशम पर अपनी निर्भरता कम करने के लिए बंगाल में मलबरी रेशम के उत्पादन को बढ़ावा दिया गया। भारत में छोटे रेशे वाले कपास का उत्पादन होता था जबकि ब्रिटेन और यूरोप में बड़े रेशे वाले कपास की माँग थी। इस माँग की पूर्ति के लिए महाराष्ट्र में बड़े रेशे वाले कपास के उत्पादन को प्रोत्साहित किया गया। उसी तरह ब्रिटेन में औद्योगीकरण और नगरीकरण की आवश्यकताओं को देखते हुए कई प्रकार की फसलों के उत्पादन पर बल दिया गया। उदाहरणार्थ, चाय और कॉफी बागानों का विकास किया गया। पंजाब में गेहूँ, बंगाल में पटसन तथा दक्षिण भारत में तिलहन के उत्पादन पर जोर देने को इसी क्रम से जोड़कर देखा जाता है। कृषि के व्यावसायीकरण के प्रभाव पर एक दृष्टि डालने से यह स्पष्ट हो जाता है कि भले ही सीमित रूप में ही सही, किंतु भारतीय अर्थव्यवस्था पर इसका सकारात्मक प्रभाव भी देखा गया। इससे स्वावलंबी ग्रामीण अर्थव्यवस्था कमजोर पड़ी लेकिन इसी के परिणामस्वरूप अखिल भारतीय अर्थव्यवस्था का विकास हुआ। किसानों को इस व्यावसायीकरण से कुछ खास क्षेत्रों में, उदाहरण के लिए दक्कन का कपास उत्पादन क्षेत्र तथा कृष्णा, गोदावरी एवं कावेरी डेल्टा क्षेत्र में, लाभ भी प्राप्त हुआ।

यदि हम इसके व्यापक प्रभाव पर दृष्टिपात करें तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह अधिकांश भारतीय किसानों पर थोपी गयी प्रक्रिया थी। औपनिवेशिक सत्ता के अंतर्गत लायी गई इस व्यावसायीकरण की प्रक्रिया ने भारत को अकाल और भुखमरी के अलावा कुछ नहीं दिया। वस्तुतः भारतीय किसान मध्यस्थ और बिचौलियों के माध्यम से एक अंतर्राष्ट्रीय बाजार पर निर्भर थे। इस व्यवस्था का एक अन्य पहलू यह भी था कि व्यावसायिक फसलों (Commercial Crops) से लाभ प्राप्त करने वाला व्यवसायी अपनी जिम्मेदारी अपने से नीचे

Copyright – Drishti The Vision Foundation

वाले पर डालने का प्रयास करता और अंततः यह सारा दवाब किसानों के ऊपर पड़ता। दूसरे शब्दों में, जब अंतर्राष्ट्रीय बाजार में व्यावसायिक फसलों की माँग में तेज वृद्धि होती तो इसका लाभ मध्यस्थ और बिचौलियों को प्राप्त होता, लेकिन इसके विपरीत, जब बाजार में मंदी आती तो इसकी मार किसानों को झेलनी पड़ती अर्थात् लाभ बिचौलियों को और नुकसान हर स्थिति में किसानों को। दूसरे, व्यावसायिक फसलों की खेती से गरीबों के आहार यानी मोटे अनाजों का उत्पादन कम हो गया। इसके परिणामस्वरूप भुखमरी में वृद्धि हुई। कोयम्बटूर के एक किसान ने तो यह तक कह डाला कि हम कपास इसलिए उपजाते हैं क्योंकि इसे हम खा नहीं सकते। दूसरी ओर, नगदी फसलों (Cash Crops) की खेती के लिए निवेश की भी आवश्यकता पड़ती थी। किसान इस आवश्यकता को पूरा करने के लिए साहूकारों व महाजनों से कर्ज लेते थे, जिसके परिणामस्वरूप ग्रामीणों पर ऋण बोझ बढ़ता गया। इसीलिए ऐसा माना जाता है कि भारतीय किसानों ने ठीक वैसा दुःख भोगा जैसा कि हम जावा (Dutch Culture System) में देखते हैं। जावा में किसानों को अपनी भूमि के एक खास भाग में कॉफी और गन्ने की खेती करनी पड़ी तथा पूरा उत्पादन राजस्व के रूप में सरकार को देना पड़ा।

ब्रिटिश भारत में विभिन्न अकाल आयोग

आयोग	वर्ष	गवर्नर जनरल
कैम्पबेल आयोग	1866	सर जॉन लारेन्स
स्ट्रेची कमीशन	1880	लॉर्ड लिटिन
कॉकरेल कमीशन	1886	लॉर्ड डफरिन
लायल कमीशन	1896	लॉर्ड एल्गिन (द्वितीय)
मैकडॉनेल आयोग	1900	लॉर्ड कर्जन
वुडहेड कमीशन	1943	लॉर्ड वेवेल

ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था का भारतीय ग्रामीण जीवन पर प्रभाव
(Impact of British Land Revenue System on Indian Rural Life)

आरम्भ से ही कंपनी भू-राजस्व के रूप में अधिकतम राशि निर्धारित करना चाहती थी। अतः आरम्भ में वारेन हेस्टिंग्स के द्वारा फार्मिंग पद्धति की शुरूआत की गयी, जिसके तहत भू-राजस्व की वसूली का अधिकार ठेके के रूप में दिया जाने लगा था। इसका परिणाम यह निकला कि बंगाल में किसानों का शोषण हुआ तथा कृषि उत्पादन में ह्रास हुआ। आगे कार्नवालिस के द्वारा एक नवीन प्रयोग स्थायी **बंदोबस्त (Permanent Settlement)** के रूप में किया गया। इसके माध्यम से जमींदार मध्यस्थों को भूमि का स्वामी तथा स्वतन्त्र किसानों को अधीनस्थ रैय्यतों के रूप में तब्दील कर दिया गया। सबसे बढ़कर, सरकार की राशि सदा के लिए निश्चित कर दी गयी तथा रैय्यतों को जमींदारों की कृपा पर छोड़ दिया गया। राजस्व के अधिकतम निर्धारण ने ग्रामीण समुदाय को कई तरह से प्रभावित किया। इनमें से कुछ प्रभाव इस प्रकार हैं– (1) वे नकदी फसलों के उत्पादन की ओर उन्मुख हुये, परन्तु कृषि के व्यावसायीकरण के बावजूद भी कोई सुधार नहीं हुआ क्योंकि इसका मुख्य अंश जमींदार और बिचौलियों को प्राप्त हुआ। (2) भू-राजस्व की राशि अधिकतम रूप में होने के कारण किसानों के पास ऐसा कोई अधिशेष नहीं बच पाता था जिसका कि वे फसल नष्ट होने के पश्चात् उपयोग कर सकें। अतः ग्रामीण क्षेत्रों में अकाल एवं भुखमरी और भी बढ़ती गई। (3) जमींदारों को कृषि क्षेत्र में निवेश करने में कोई रुचि नहीं थी तथा कृषक निवेश करने की स्थिति में नहीं थे। अतः कृषि पिछड़ती चली गयी। उत्तर भारत के ग्रामीण जीवन पर स्थायी बंदोबस्त के परिणामस्वरूप पड़ने वाले प्रभाव का बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्रण प्रेमचंद ने अपने उपन्यास गोदान में किया है।

स्थायी बंदोबस्त की तरह रैय्यतवाड़ी तथा महालवाड़ी भू-राजस्व प्रबंधन से भी तत्कालीन ग्रामीण समुदाय दुष्प्रभावित हुआ। उपर्युक्त भू-राजस्व प्रबंधनों पर यूरोपीय विचारधारा तथा दृष्टिकोण का व्यापक प्रभाव स्पष्टतः परिलक्षित होता है। उपर्युक्त सभी पद्धतियाँ ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों तथा भारतीय परिस्थितियों एवं अनुभव पर ही आधारित रही हैं। कुछ ब्रिटिश पक्षधर ग्रामीण क्षेत्र में होने वाले परिवर्तनों को पूँजीवादी रूपांतरण से जोड़कर देखते हैं। परन्तु, ब्रिटिश नीति ने गाँव को और भी ऋण के बोझ तले कुचला और ग्रामीण लोगों को और भी निर्धन बनाया। ब्रिटिश भू-राजस्व नीति के कारण कृषि कुछ इस तरह पिछड़ी कि स्वतन्त्रता के पश्चात् भारत में औद्योगीकरण को कृषि का समर्थन प्राप्त नहीं हो सका। निष्कर्षतः हमें यह कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि स्वतन्त्रता के 60 वर्षों के पश्चात् भी भारतीय ग्रामीण जीवन पर ब्रिटिश भू-राजस्व नीति का प्रभाव अप्रत्यक्ष रूप से दृष्टिगत होता है।

भारत में आधुनिक उद्योगों का विकास
(Development of Modern Industries in India)

ब्रिटिश भारत में आधुनिक उद्योगों की स्थापना का प्रारंभ 1850 ई. से माना जाता है। इससे पूर्व जहाँ एक ओर भारतीय हस्त उद्योगों का पतन हो रहा था वहीं दूसरी ओर कुछ नये उद्योगों का जन्म भी हो रहा था। नये प्रकार के उद्योगों का विकास दो रूपों में दिखाई

Copyright – Drishti The Vision Foundation

दिया- बागान उद्योग एवं कारखाना उद्योग। अंग्रेजों ने यहाँ सबसे पहले नगदी फसलों पर आधारित बागान उद्योगों जैसे- नील, चाय, कहवा आदि में खास दिलचस्पी ली। 1875 ई. के बाद कारखाना-आधारित उद्योगों का विकास हुआ, जिनमें ये उद्योग शामिल थे- कपास, चमड़ा, लोहा, चीनी, सीमेंट, कागज, लकड़ी, काँच आदि।

देश में पहले सूती वस्त्र उद्योग 'बॉम्बे स्पिनिंग एंड वीविंग कंपनी' की स्थापना एक पारसी उद्योगपति कावसजी डाबर ने 1854 ई. में की। भारत में पहला चीनी कारखाना 1909 ई. में और पहला जूट कारखाना 1855 ई. में बंगाल में खोला गया। पहली बार आधुनिक इस्पात तैयार करने का प्रयास 1830 ई. में मद्रास के दक्षिण में स्थित आर्कट जिले में जोशिया मार्शल हीथ द्वारा किया गया। 1907 ई. में जमशेदजी नौसेरवानजी टाटा के प्रयास से 'टाटा आयरन एण्ड स्टील कंपनी' की स्थापना हुई। इस प्रकार इन उद्योगों का क्रमशः विकास होता रहा।

अंग्रेजों द्वारा उपेक्षा किए जाने के बावजूद भारत का न्यूनाधिक औद्योगीकरण अनिवार्य ही था और काफी हद तक यह विकास प्रथम विश्वयुद्ध के बाद ही शुरू हुआ। भारत का औद्योगिक विकास एकदम विपरीत क्रम में कपड़ा-उद्योग से शुरू हुआ, जबकि किसी भी देश के औद्योगिक विकास के लिए सबसे पहले भारी उद्योगों को विकसित किया जाना आवश्यक होता है। वस्तुतः अंग्रेजी शासन भारत का औद्योगीकरण अपने हितों की पूर्ति हेतु ही करना चाहता था। भारत में 20वीं शताब्दी में जो भी कल-कारखाने खुले उनका उद्देश्य भारत का औद्योगिक विकास नहीं, बल्कि शोषण में कुछ और लोगों को भागीदार बनाकर शोषण प्रक्रिया को बदस्तूर जारी रखना था।

स्वतंत्रता पूर्व स्थापित लौह-इस्पात के कारखाने

स्थान	राज्य	स्थापना वर्ष	विशेषताएँ
कुल्टी	पश्चिम बंगाल	1870	बंगाल आयरन वर्क्स कंपनी
साकची	झारखण्ड	1907	भारत में लौह-इस्पात के इसी कारखाने से जमशेदजी टाटा ने उद्योग जगत में पाँव रखा।
हीरापुर	पश्चिम बंगाल	1908	इसे पहले भारतीय लौह इस्पात कंपनी के नाम से जाना जाता था।
भद्रावती	कर्नाटक	1923	पहले मैसूर आयरन एण्ड स्टील कंपनी के नाम से जाना जाता था, बाद में इसका नाम 'विश्वेश्वरैया आयरन एण्ड स्टील कंपनी' कर दिया गया जो सार्वजनिक क्षेत्र की प्रथम इकाई थी।
बर्नपुर	पश्चिम बंगाल	1937	पहले स्टील कॉरपोरेशन ऑफ बंगाल के नाम से स्थापित इस कारखाने का बाद में 'इंडियन आयरन एण्ड स्टील कंपनी' में विलय कर दिया गया।

ब्रिटिश भारत में विभिन्न कारखाना अधिनियम
(Various Factory Acts in British-India)

भारतीय श्रम पर पहला आयोग 1875 ई. में गठित किया गया। यह लंकाशायर के उद्योगपतियों की माँग पर गठित किया गया था। इसका उद्देश्य भारतीय कारखानों में श्रमिकों के काम करने की परिस्थितियों का अध्ययन करना था। इसके अलावा ब्रिटिश सरकार ने भारत में अनेक कारखाना अधिनियम लागू किये जिनका विवरण इस प्रकार है–

- **1881 ई. का कारखाना अधिनियम:** लॉर्ड रिपन के समय में लाये गये इस कारखाना अधिनियम में अल्पायु श्रमिकों को संरक्षण एवं उनके लिए स्वास्थ्य सुरक्षा की व्यवस्था की गई। परंतु यह अधिनियम उन कारखानों पर ही लागू हो सकता था, जहाँ श्रमिकों की संख्या कम से कम 100 हो। इसमें 7 वर्ष से कम आयु के बच्चों को काम करने से प्रतिबंधित किया गया और 7 से 12 वर्ष के बच्चों के काम की अवधि को 9 घंटे निर्धारित किया गया। इसके अलावा कार्यावधि में एक घंटे का आराम तथा महीने में 4 दिन के अवकाश की व्यवस्था भी की गई।
- **1891 ई. का कारखाना अधिनियम:** लॉर्ड लैन्सडाउन के समय में लाये गये इस कारखाना अधिनियम में वयस्क श्रमिकों के लाभ की व्यवस्था की गई। यह अधिनियम उन सभी स्थानों पर लागू हुआ जहाँ पर कम से कम 50 श्रमिक एक साथ काम करते थे। इसमें 9 वर्ष से कम आयु के बच्चों को कारखाने में कार्य करने से पूरी तरह प्रतिबंधित कर दिया गया और 9 वर्ष से 19 वर्ष के बच्चों के कार्यावधि को 7 घंटे प्रतिदिन तय कर दिया गया। महिलाओं के रात्रि के समय 8 बजे से लेकर 5 बजे सुबह तक काम करने पर रोक लगा दी गयी। इनके काम करने की अवधि को 11 घंटे प्रतिदिन निर्धारित किया गया और उनके लिए सप्ताह में एक दिन की छुट्टी की घोषणा भी की गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **1911 ई. का कारखाना अधिनियम:** 1891 ई. के कारखाना अधिनियम को ही संशोधित कर 1911 ई. में प्रस्तुत किया गया और इसमें पुरुषों के कार्य करने की अवधि को 12 घंटे प्रतिदिन निश्चित किया गया। लॉर्ड हार्डिंग द्वितीय के समय में लाए गए इस अधिनियम में अल्पायु बच्चों को कारखानों में 7 बजे संध्या से 5 बजे सुबह के बीच कार्य करने से प्रतिबंधित कर दिया गया।

ब्रिटिश शासन के तहत कारखाना अधिनियम

अधिनियम	वायसराय
1881 ई. का कारखाना अधिनियम :	लॉर्ड रिपन
1891 ई. का कारखाना अधिनियम :	लॉर्ड लैन्सडाउन
1911 ई. का कारखाना अधिनियम :	लॉर्ड हार्डिंग द्वितीय
1922 ई. का कारखाना अधिनियम :	लॉर्ड रीडिंग
1934 ई. का कारखाना अधिनियम :	लॉर्ड विलिंगटन
1946 ई. का कारखाना अधिनियम :	लॉर्ड वेवेल

- **1922 ई. का कारखाना अधिनियम:** लॉर्ड रीडिंग के समय में लाया गया यह अधिनियम उन कारखानों पर लागू होता था जहाँ पर 20 से अधिक श्रमिक काम करते थे अथवा बिजली का प्रयोग किया जाता था। इस अधिनियम में कारखाने में कार्य करने की बच्चों की आयु को बढ़ाकर 12 से 15 वर्ष के बीच कर दिया गया और इनके कार्य करने की अवधि को कम कर 6 घंटे प्रतिदिन कर दिया गया। तत्पश्चात इस अधिनियम में 1923 ई., 1926 ई. और 1931 ई. में आंशिक रूप से संशोधन किए गए।
- **1934 ई. का कारखाना अधिनियम:** लॉर्ड विलिंगटन के समय में लाये गये इस अधिनियम में मौसमी कारखाने एवं सदैव कार्यरत कारखानों में अंतर स्थापित किया गया। वयस्क श्रमिकों के काम के घंटों को 11 घंटे प्रतिदिन तय किया गया। नियमित रूप से कार्य करने वाले उद्योगों या कारखानों में वयस्क श्रमिकों के प्रतिदिन कार्य की अवधि को 10 घंटे निश्चित कर दिया गया और साथ ही श्रमिकों के आराम एवं उनके इलाज की भी व्यवस्था की गई।
- **1946 ई. का कारखाना अधिनियम:** लॉर्ड वेवेल के समय में 1934 ई. के कारखाना अधिनियम को संशोधित कर प्रस्तुत किया गया। इस संशोधित अधिनियम में श्रमिकों के कार्य करने की अवधि को 11 घंटे से कम करके 9 घंटे कर दिया गया। साथ ही, 200 से अधिक श्रमिकों के कार्य करने वाले कारखानों में कैंटीनों की व्यवस्था पर जोर दिया गया।

चूँकि ऊपर दिए गए सभी कारखाना अधिनियम ऐसे समय में लाये गये थे जब भारत गुलाम था, अतः इनमें श्रमिकों की सुविधाओं पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया था। तत्पश्चात स्वतंत्र भारत का प्रथम विस्तृत कारखाना अधिनियम 1948 ई. में लाया गया, जिसमें श्रमिकों की स्थिति को बेहतर बनाने की दिशा में प्रयास किया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-2

ब्रिटिश भारत में औपनिवेशिक नीतियाँ
(Colonial Policies in British India)

**** (इस खंड का उल्लेख मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 2 में है। दृष्टि द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग 2 से है।)*

ब्रिटिश भारत में शिक्षा का विकास *(Educational Development in British India)*

भारत की परंपरागत शिक्षा प्रणाली तथा शिक्षण संस्थाओं को मुगल साम्राज्य के पतन के बाद जबरदस्त धक्का लगा और देश में राजनीतिक अस्थिरता के कारण शिक्षा के माहौल में लगातार गिरावट आने लगी। कंपनी की भारत विजय के बाद भी अंग्रेज़ों ने शिक्षा को निजी हाथों में ही रहने दिया। अंग्रेज़ी सिखाने के लिए स्कूलों का जाल बिछा देने का विचार सबसे पहले ईस्ट इंडिया कंपनी के एक सिविल सेवक चार्ल्स ग्रांट (Charles Grant) के मन में आया। उसने शिक्षा के प्रचार के लिए अंग्रेज़ी भाषा को ही सबसे उपयुक्त माध्यम बताया। वास्तव में, अंग्रेज़ी शिक्षा की अग्रिम रूपरेखा का निर्माण चार्ल्स ग्रांट ने ही किया। इसीलिए उसे 'भारत में आधुनिक शिक्षा का जन्मदाता' कहा जाता है।

इसी बीच 1781 में गवर्नर जनरल वारेन हेस्टिंग्स ने कलकत्ता मदरसा (Calcutta Madrasa) की स्थापना की, जिसका उद्देश्य कंपनी के भारतीय अधिकारियों को फारसी (तत्कालीन कामकाज की भाषा) का कार्यसाधक ज्ञान कराना था। तत्पश्चात् सन् 1784 में हेस्टिंग्स के सहयोगी सर विलियम जोन्स ने एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल (Asiatic Society of Bengal) की स्थापना की, जिसने प्राचीन भारतीय इतिहास और संस्कृति के अध्ययन हेतु महत्वपूर्ण प्रयास किये। उन्होंने 'एशियाटिक रिसर्चेज' नामक पत्रिका का प्रकाशन किया, जिसका उद्देश्य भारत के गौरवशाली अतीत को प्रकाश में लाना था। नवंबर 1784 में एशियाटिक सोसाइटी ऑफ बंगाल के एक सदस्य विल्किंसन ने पहली बार मूल 'श्रीमदभगवत् गीता' का संस्कृत से अंग्रेज़ी में अनुवाद किया। तत्पश्चात् 1787 में विल्किंसन ने 'हितोपदेश' का भी अनुवाद किया। 1789 ई॰ में विलियम जोन्स ने कालिदास रचित 'अभिज्ञान शाकुंतलम्' का अंग्रेज़ी अनुवाद भी किया। इसके पश्चात् सन् 1789 में विलियम जोन्स ने 'गीतगोविंद' का अंग्रेज़ी अनुवाद किया और उनकी मृत्यु के बाद सन् 1794 में 'इंस्टीट्यूट ऑफ हिन्दू लॉ' के नाम से 'मनुस्मृति' का अनुवाद प्रकाशित हुआ। वस्तुतः विलियम जोन्स तथा विल्किंसन महोदय भारत विषयक ज्ञानशास्त्र के जन्मदाता थे। मनुस्मृति ही वह प्रथम ग्रंथ है जिसका अनुवाद सबसे पहले संस्कृत से अंग्रेज़ी भाषा में 'ए कोड ऑफ जेन्टू लॉज़' (A Code of Gentoo Laws) के नाम से प्रकाशित हुआ।

ब्रिटिश रेजीडेंट जोनाथन डंकन के प्रयत्नों के फलस्वरूप 1792 ई॰ में बनारस में एक संस्कृत कॉलेज खोला गया, जिसका उद्देश्य हिन्दुओं के धर्म, साहित्य और कानून का अध्ययन और प्रसार करना था। सन् 1800 में लॉर्ड वेलेजली ने कंपनी के असैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिये फोर्ट विलियम कॉलेज (Fort William College) की स्थापना की। इस कॉलेज में अंग्रेज़ी-हिन्दुस्तानी कोश, हिन्दुस्तानी व्याकरण तथा कुछ अन्य पुस्तकें प्रकाशित की गईं, परंतु यह कॉलेज सन् 1802 में निदेशकों के आदेश से बंद कर दिया गया।

ईसाई मिशनरियों ने भारत में शिक्षा के प्रसार के लिए महत्वपूर्ण प्रयास किए। उन्होंने भारत में अनेक अंग्रेज़ी विद्यालय स्थापित किए, फिर भी समस्त जनता को अंग्रेज़ी माध्यम से शिक्षा देने को नितांत अव्यावहारिक बताया। उन्होंने सरकार की इस कारण आलोचना की कि वह भारतीय भाषाओं के विद्यालयों की उपेक्षा कर रही है। ईसाई मिशनरियों ने केवल उन्हीं स्थानों में अंग्रेज़ी माध्यम से पाश्चात्य ज्ञान और अंग्रेज़ी साहित्य की शिक्षा को प्रोत्साहन दिया जहाँ उन्हें सफलता मिलने की आशा थी। मिशनरियों ने आधुनिक भारतीय भाषाओं के अध्ययन को महत्व दिया। इस शृंखला में शब्द-कोश तैयार किए गए, व्याकरण पर पुस्तकें लिखी गईं, बाइबिल का भारतीय भाषाओं में अनुवाद किया गया। नारी शिक्षा के क्षेत्र में भी मिशनरियों ने अग्रणी कार्य किया। उन्होंने बालिकाओं के लिए विद्यालय खोले, अनाथालय स्थापित किए और मध्यवर्गीय एवं उच्चवर्गीय महिलाओं के लिए गृह विज्ञान व महिला शिक्षा का शुभारंभ किया। इन मिशनरियों ने अपने कार्य का प्रारंभ मूलतः मद्रास एवं बंगाल में किया। बंगाल में विलियम केरी, वार्ड तथा मार्शमैन, सीरमपुर की डच बस्ती में आकर रहे। इस प्रकार, प्रसिद्ध 'सीरमपुर त्रयी' सन् 1799 में अस्तित्व में आई। वैसे इन्हें बंगाल में कंपनी का विरोध भी झेलना पड़ा।

सन् 1813 के चार्टर एक्ट में एक लाख रुपए का प्रावधान भारत में विद्या के प्रसार के लिए रखा गया, जिसमें भारत में साहित्य के पुनरुद्धार तथा विकास के लिये और स्थानीय विद्वानों को प्रोत्साहन देने के लिए खर्च करने की व्यवस्था थी। इसी क्रम में राजा

Copyright – Drishti The Vision Foundation

राममोहन राय, डेविड हेयर और सर हाइड ईस्ट के संयुक्त प्रयासों से सन् 1817 में हिन्दू कॉलेज की स्थापना की गई। बाद में वित्तीय समस्या के चलते इस विद्यालय का प्रबंधन कंपनी को सौंप दिया गया और सन् 1854 में यह एक महाविद्यालय बन गया। डेविड हेयर ने शिक्षा के प्रसार की एक नई पद्धति विकसित की, जिसमें संस्कृत और अरबी के बजाय बांग्ला और अंग्रेज़ी पढ़ाई जाती थी। इस प्रकार हम कह सकते हैं कि हेयर ने ही सबसे पहले धर्मनिरपेक्ष शिक्षा की संकल्पना प्रस्तुत की।

प्राच्य-पाश्चात्य विवाद *(Orientalist-Anglicist Controversy)*

लोक शिक्षा महासमिति (General Committee of Public Education) जो भारत में शिक्षा संबंधी नीतियाँ बनाती थी, में 10 सदस्य थे। ये सदस्य दो गुटों में विभाजित थे– एक दल प्राच्य विद्या समर्थक दल था, जिसका नेतृत्व एच. टी. प्रिंसेप के हाथ में था। प्राच्य विद्या समर्थकों ने वारेन हेस्टिंग्स और लॉर्ड मिंटो की शिक्षा नीति का समर्थन किया। उन्होंने हिन्दुओं एवं मुस्लिमों के परंपरागत साहित्य के पुनरुत्थान को अधिक महत्व दिया। इस दल के लोग विज्ञान के महत्व को स्वीकार तो करते थे, किंतु वे इसका अध्ययन भारतीय भाषाओं में करने के पक्ष में थे। दूसरा दल था– पाश्चात्य या आंग्ल शिक्षा के समर्थकों का जिसका नेतृत्व लॉर्ड मैकाले के पास था। यह दल शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी किए जाने के पक्ष में था। अंत में दोनों दलों ने निर्णय के लिए अपना विवाद गवर्नर जनरल के समक्ष रखा।

गवर्नर जनरल की कार्यकारिणी परिषद (Executive Council) का सदस्य होने के नाते 1831 में लॉर्ड मैकाले ने अपना महत्वपूर्ण कार्यवृत्त (Macaulay's Minute) लिखा और उसे परिषद के सम्मुख रखा। उसने आंग्ल दल का समर्थन करते हुए लिखा था– 'यूरोप के एक अच्छे पुस्तकालय की अलमारी का एक कक्ष भारत और अरब के समस्त साहित्य से अधिक मूल्यवान है।' मैकाले के कार्यवृत्त को गवर्नर जनरल लॉर्ड विलियम बैंटिक ने 1835 में स्वीकार कर लिया। इस प्रस्ताव के अनुसार कंपनी सरकार को यूरोप के साहित्य का विकास अंग्रेज़ी भाषा के माध्यम से करना था। साथ ही, भविष्य में धन का व्यय इसी पर किया जाना था। इस संदर्भ में ध्यान देने योग्य बात यह है कि लॉर्ड मैकाले भारतीय संस्कृति को अंधविश्वासों की खान मानते थे।

शिक्षा का अधोमुखी निस्पंदन सिद्धांत *(Downward Filtration Theory of Education)*

'शिक्षा समाज के उच्च वर्ग को ही दी जाए, इस वर्ग के शिक्षित होने पर शिक्षा का प्रभाव छन-छन कर जनसाधारण तक पहुँचेगा।' शिक्षा के अधोमुखी निस्पंदन सिद्धांत का वस्तुतः यही अर्थ था। इस सिद्धांत का क्रियान्वयन सरकारी नीति के रूप में लॉर्ड ऑकलैण्ड द्वारा किया गया। बहरहाल, मैकाले ने भी इसी सिद्धांत पर कार्य किया था। सन् 1854 से पूर्व उच्च शिक्षा के विकास की गति काफी धीमी थी। लॉर्ड ऑकलैण्ड ने बंगाल को 9 भागों में बाँटा और प्रत्येक जिले में विद्यालय स्थापित किए। सन् 1840 तक इस प्रकार के 40 विद्यालय स्थापित हो चुके थे।

सन् 1835 में लॉर्ड विलियम बैंटिक के कार्यकाल में ही कलकत्ता मेडिकल कॉलेज की आधारशिला रखी गई और सन् 1851 में पूना संस्कृत कॉलेज तथा पूना अंग्रेज़ी स्कूल को मिलाकर पूना कॉलेज बनाया गया। संयुक्त प्रांत (United Province) (आधुनिक उत्तर प्रदेश) के लेफ्टिनेंट गवर्नर जेम्स टॉमसन ने सन् 1847 में रुड़की इंजीनियरिंग कॉलेज की स्थापना की। इसे आज भारत के प्रथम इंजीनियरिंग कॉलेज के रूप में जाना जाता है।

शिक्षा पर वुड का घोषणा-पत्र, 1854 *(Wood's Education Despatch, 1854)*

भारतीय शिक्षा पर एक व्यापक योजना बोर्ड ऑफ कंट्रोल के प्रधान चार्ल्स वुड द्वारा 1854 में प्रस्तुत की गई। इसे ही वुड का डिस्पैच (Wood's Dispatch) कहा गया। इस प्रस्ताव में शिक्षा के उद्देश्य, माध्यम, सुधारों आदि पर विचार व्यक्त किया गया था। इस घोषणा-पत्र को 'भारतीय शिक्षा का मैग्नाकार्टा' (Magna Carta of Indian Education) कहा जाता है। वुड के घोषणा-पत्र के प्रमुख प्रस्ताव इस प्रकार थे–

- उच्च शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी हो और जनसाधारण की शिक्षा का माध्यम देशी भाषा।
- शिक्षा क्षेत्र में निजी उद्यमों को प्रोत्साहन दिया जाए।
- पाश्चात्य शिक्षा का व्यापक प्रचार-प्रसार हो।
- लंदन विश्वविद्यालय की तर्ज पर कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास में विश्वविद्यालय खोले जाएँ, जिनका कार्य केवल परीक्षा लेना हो।
- तकनीकी विद्यालय और महाविद्यालय स्थापित किए जाएँ।
- अध्यापक-प्रशिक्षण संस्थाओं की स्थापना हो तथा महिला शिक्षा पर जोर दिया जाए।
- हर प्रांत में शिक्षा विभाग की स्थापना की जाए।
- सरकारी शिक्षा का स्वरूप नितांत धर्मनिरपेक्ष हो।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

वुड के घोषणा-पत्र के सुझाव पर सन् 1855 में पाँच प्रांतों– बंगाल, बंबई, मद्रास, पंजाब और उ.प्र. सीमा-प्रान्त में लोक शिक्षा विभाग स्थापित किया गया तथा सन् 1857 में कलकत्ता, बंबई तथा मद्रास विश्वविद्यालयों की स्थापना की गई। वुड का घोषणा-पत्र मुख्यतः विश्वविद्यालय-स्तरीय शिक्षा से ही संबंध रखता था।

हंटर आयोग, 1882-83 *(Hunter Commission, 1882-83)*

विलियम हंटर की अध्यक्षता में सरकार ने सन् 1854 की शिक्षा नीति की प्रगति के लिए 1882 ई. में एक शिक्षा आयोग नियुक्त किया। इस आयोग के आठ सदस्य भारतीय थे। इस आयोग का कार्य विश्वविद्यालयों के कार्य की समीक्षा करना नहीं था, बल्कि इसे केवल प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा तक ही सीमित रखना था। इस आयोग ने निम्नलिखित सुझाव दिए–

- सरकार प्राथमिक शिक्षा के सुधार एवं विकास की ओर विशेष ध्यान दे तथा इसका माध्यम स्थानीय भाषा ही हो। इस स्तर पर शिक्षा का नियंत्रण जिला और नगर बोर्डों को सौंपा गया।
- माध्यमिक शिक्षा के दो खण्ड हों– पहला, विश्वविद्यालय स्तर की प्रवेश-परीक्षा के लिए विद्यार्थियों को तैयार करे और दूसरा, विद्यार्थियों को व्यावसायिक एवं व्यापारिक जीवन के लिए तैयार करे।
- शिक्षा के क्षेत्र में निजी उद्यमों को बढ़ावा दिया जाए। इसके लिए सहायता अनुदान में उदारता तथा सहायताप्राप्त विद्यालयों को सरकारी विद्यालयों के बराबर मान्यता प्राप्त करने के लिए अवसर उपलब्ध हों।
- सरकार को यथाशीघ्र माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा से हट जाना चाहिए।

आयोग ने प्रेसीडेंसी नगरों अर्थात बंबई, कलकत्ता और मद्रास के अतिरिक्त अन्य सभी स्थानों पर महिला शिक्षा के पर्याप्त न होने पर खेद प्रकट किया और इसे बढ़ावा देने की सिफारिश भी की। इस आयोग की संस्तुतियों आने के बाद 20 वर्षों में माध्यमिक और कॉलेज शिक्षा में अभूतपूर्व विस्तार हुआ। इसके अलावा, अध्यापन तथा परीक्षा विश्वविद्यालय भी बनने लगे। इसी क्रम में सन् 1882 में पंजाब और सन् 1887 में इलाहाबाद विश्वविद्यालय की स्थापना की गई।

भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम, 1904 *(Indian Universities Act, 1904)*

वायसराय लॉर्ड कर्जन ने सितम्बर 1901 में उच्च शिक्षा और विश्वविद्यालय अधिकारियों का शिमला में एक सम्मेलन बुलाया। इस सम्मेलन में पारित प्रस्ताव 'शिमला प्रस्ताव' के नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसमें 150 प्रस्ताव पारित किये गये, जो शिक्षा के सभी पक्षों से संबंधित थे। इसके बाद एक आयोग सर टॉमस रैले की अध्यक्षता में नियुक्त किया गया। इसका उद्देश्य भारतीय विश्वविद्यालयों की स्थिति का अनुमान लगाना और उनके संविधान तथा कार्यक्षमता के बारे में सुझाव देना था। इस आयोग के अधिकारक्षेत्र की परिधि से प्राथमिक और माध्यमिक शिक्षा दूर थी। इसकी संस्तुतियों के आधार पर सन् 1904 में भारतीय विश्वविद्यालय अधिनियम (Indian Universities Act, 1904) पारित किया गया। इस अधिनियम के मुख्य प्रावधान इस प्रकार थे–

- अध्ययन तथा शोध को बढ़ावा देने के लिये विश्वविद्यालयों में योग्य प्राध्यापकों तथा व्याख्याताओं की नियुक्ति हो और उपयोगी आधारभूत संरचना स्थापित की जाए।
- विश्वविद्यालय के उप-सदस्यों की संख्या 50 से कम तथा 100 से अधिक न हो और उनकी सदस्यता आजीवन की बजाय केवल छह वर्ष तक के लिए हो।
- उप-सदस्य सरकार द्वारा मनोनीत हों और उनकी कार्यावधि छह वर्ष हो।
- उपर्युक्त अधिनियम से विश्वविद्यालयों पर सरकारी नियंत्रण बढ़ गया तथा सरकार को विश्वविद्यालय की सीनेट द्वारा पारित प्रस्ताव पर निषेधाधिकार (Veto) प्राप्त हो गया।
- दूसरे, इस अधिनियम द्वारा गैर-शासकीय कॉलेजों पर सरकारी नियंत्रण कठोर हो गया।
- इसके अंतर्गत गवर्नर-जनरल को विश्वविद्यालय की क्षेत्रीय सीमा निर्धारित करने का अधिकार मिल गया। साथ ही कॉलेजों को विश्वविद्यालय से संबद्ध करने का अधिकार सरकार ने अपने नियंत्रण में ले लिया।

ब्रिटिश भारत में शिक्षा आयोग

समिति/आयोग/योजना	वर्ष	गवर्नर जनरल
• चार्ल्स वुड डिस्पैच	1854	लॉर्ड डलहौजी
• हंटर आयोग	1882	लॉर्ड रिपन
• रैले आयोग	1902	लॉर्ड कर्जन
• सैडलर आयोग	1917	लॉर्ड चेम्सफोर्ड
• इंचकैप आयोग	1923	लॉर्ड रीडिंग
• हार्टोग समिति (प्राथमिक शिक्षा)	1929	लॉर्ड इर्विन
• लिंडसे आयोग (प्रौढ़ शिक्षा)	1929	लॉर्ड इर्विन
• सार्जेंट आयोग	1944	लॉर्ड वेवेल

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इस अधिनियम की विधान परिषद् के अंदर और बाहर राष्ट्रवादियों ने कड़ी आलोचना की। यहाँ तक कि सन् 1917 में सेडलर आयोग ने भी इस तथ्य को स्वीकार किया कि सन् 1904 के अधिनियम के तहत भारतीय विश्वविद्यालय संसार में सबसे अधिक पूर्णतः सरकारी विश्वविद्यालय बन गये थे। कर्जन की इस नीति का परिणाम यह भी हुआ कि विश्वविद्यालयों के सुधार के लिये सन् 1902 से 5 लाख रुपए वार्षिक पाँच वर्ष के लिये निश्चित किए गए और इसके बाद से सरकारी अनुदान को सरकारी नीति की एक नियमित विशेषता के रूप में जाना जाने लगा।

सरकार का प्रस्ताव, 1913 *(Government Resolution, 1913)*

बड़ौदा रियासत ने अपने यहाँ सन् 1906 में निःशुल्क एवं अनिवार्य प्राथमिक शिक्षा प्रारंभ कर दी। इसका संदर्भ देकर राष्ट्रवादियों ने सरकार से प्रश्न किया कि आखिर क्यों वह ऐसे प्रगतिशील कदम देशभर के लिए नहीं उठा रही। गोपालकृष्ण गोखले ने शिक्षा के व्यापक प्रसार के लिये इस तरह की माँगें विधानपरिषद में व्यापकता से उठायीं। 21 फरवरी, 1913 को सरकार ने एक शिक्षा नीति की घोषणा की। यद्यपि इस नीति में गोपालकृष्ण गोखले द्वारा उठाई गई अनिवार्य निःशुल्क प्राथमिक शिक्षा की माँग नकार दी गई, किंतु निरक्षरता समाप्त करने की नीति को स्वीकार कर लिया गया। इस प्रस्ताव में सरकार ने प्रत्येक प्रांत में एक विश्वविद्यालय खोलने की घोषणा की। सरकार ने प्रांतीय सरकारों को प्रेरित किया कि वे समाज के निर्धन एवं अत्यंत पिछड़े वर्गों को मुफ्त प्राथमिक शिक्षा प्रदान करने की व्यवस्था करें। तत्पश्चात् इस क्षेत्र में गैर-सरकारी उद्यमों को भी प्रोत्साहन दिया गया।

सेडलर विश्वविद्यालय आयोग, 1917 *(Sadler University Commission, 1917)*

सरकार ने कलकत्ता विश्वविद्यालय की समस्याओं तथा संभावनाओं के अध्ययन हेतु लीड्स विश्वविद्यालय के कुलपति डॉ. एनी सेडलर की अध्यक्षता में 1917 ई. में एक आयोग का गठन किया गया। इस आयोग में दो भारतीय-सर आशुतोष मुखर्जी तथा जिआउद्दीन अहमद भी थे। आयोग को कलकत्ता विश्वविद्यालय के साथ-साथ माध्यमिक तथा प्राथमिक स्तर तक की शिक्षा पर अपनी रिपोर्ट देने को कहा गया। आयोग का विचार था कि विश्वविद्यालयी स्तर की शिक्षा की गुणवत्ता तब तक नहीं सुधरेगी, जब तक कि माध्यमिक शिक्षा का स्तर नहीं सुधारा जायेगा। अतः आयोग ने सन् 1904 के अधिनियम की निंदा की और कहा कि कॉलेज तथा विश्वविद्यालय शिक्षा का तालमेल सही नहीं है। इस आयोग की सिफारिशें इस प्रकार थीं-

- विद्यालयी शिक्षा 12 वर्ष की हो और विद्यार्थियों को हाई स्कूल के बाद नहीं बल्कि माध्यमिक परीक्षा के बाद विश्वविद्यालय में प्रवेश मिले।
- इंटरमीडिएट के बाद स्नातक की उपाधि तीन वर्ष की हो। प्रतिभाशाली विद्यार्थियों के लिए प्रवीण (Honours) पाठ्यक्रम साधारण (Pass) पाठ्यक्रम से अलग होना चाहिए।
- भारत सरकार के नियंत्रण से मुक्त कर के कलकत्ता विश्वविद्यालय को बंगाल सरकार के अधीन किया जाए।
- ढाका में एक अन्य विश्वविद्यालय स्थापित किया जाए ताकि कलकत्ता विश्वविद्यालय पर भार कम हो और इसी प्रकार यह प्रयास होना चाहिए कि अन्य विश्वविद्यालयों के केन्द्र भी स्थापित हों।
- कलकत्ता विश्वविद्यालय में महिलाओं की शिक्षा के लिए एक विशेष बोर्ड बनना चाहिए और महिला शिक्षा के लिए सुविधाओं का प्रसार होना चाहिए।
- ढाका और कलकत्ता विश्वविद्यालयों में ऐसे शिक्षा विभाग स्थापित किये जाएँ जहाँ अध्यापकों के प्रशिक्षण के लिए प्रचुर सुविधायें हों।

सेडलर आयोग के सुझावों पर संयुक्त प्रांत (उत्तर प्रदेश) में एक बोर्ड ऑफ सैकेंडरी एजुकेशन की स्थापना हुई। सन् 1916 और 1921 के बीच मैसूर, पटना, बनारस, अलीगढ़, ढाका, लखनऊ और उस्मानिया नामक नये विश्वविद्यालय उभर कर आये।

हार्टोग समिति, 1929 *(Hartog Committee, 1929)*

देश में शिक्षा प्रसार के निजी एवं सरकारी प्रयासों से साक्षरता में तो वृद्धि हुई किंतु शिक्षा पद्धति के प्रति असंतोष ही बढ़ा। भारतीय सांविधिक आयोग (Indian Statutory Commission) ने सर फिलिप हार्टोग की अध्यक्षता में सन् 1929 में एक सहायक समिति नियुक्त की, जिसे शिक्षा के विकास पर रिपोर्ट देने के लिए कहा गया। इस समिति ने निम्नलिखित सिफारिशें प्रस्तुत कीं-

1. प्राथमिक शिक्षा के राष्ट्रीय महत्व पर जोर दिया जाए और सुधार एवं एकीकरण की नीति अपनाई जाए।
2. ग्रामीण संस्कृति के छात्रों को मिडिल स्कूल तक की ही शिक्षा दी जाये, इसके बाद उन्हें औद्योगिक एवं व्यावसायिक शिक्षा दी जाये।
3. विश्वविद्यालयों को सुधारने के प्रयास किये जायें तथा उच्च शिक्षा केवल उन्हीं को मिले जो उसके योग्य हों।

तदोपरांत हार्टोग समिति की सिफारिश के आधार पर सन् 1935 में केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड का पुनर्गठन किया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

वर्धा बुनियादी शिक्षा योजना, 1937 *(Wardha Plan for Basic Education, 1937)*

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के प्रावधानों के अनुसार प्रांतों को उसी वर्ष स्वायत्तता दे दी गई। इसके फलस्वरूप दो वर्षों में ही लोकप्रिय मंत्रिमंडल अपने-अपने प्रांतों में कार्य करने लगे। सन् 1937 में महात्मा गांधी ने अपने पत्र 'द हरिजन' *(The Harijan)* में लेखों की एक श्रृंखला के माध्यम से एक शिक्षा योजना का प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इसे ही वर्धा योजना (Wardha Plan) कहा गया। जाकिर हुसैन समिति ने इस योजना का ब्यौरा प्रस्तुत किया। योजना का मूलभूत सिद्धान्त विक्रय योग्य हस्त-निर्मित वस्तुओं का उत्पादन करना था जिससे शिक्षकों के वेतन का भी प्रबंध हो जाता। इसके अंतर्गत विद्यार्थी को मातृभाषा के माध्यम से सात वर्ष तक विद्या अध्ययन करना था।

इस योजना की मुख्य शर्तें इस प्रकार थीं–

1. 7 से 14 वर्ष के बच्चों को नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा दी जाए।
2. शिक्षा का माध्यम मातृभाषा ही हो ताकि विद्यार्थी स्वावलंबी बन सकें।
3. हर छात्र/छात्रा को उसकी रुचि के अनुरूप व्यावसायिक शिक्षा प्राप्त हो।

बहरहाल द्वितीय विश्व युद्ध के आरंभ होने और कांग्रेसी मंत्रिमंडल के त्यागपत्र देने से यह योजना लागू नहीं हो सकी। इस कार्य को सन् 1947 के पश्चात् राष्ट्रीय सरकार ने अपने नियंत्रण में ले लिया।

सार्जेंट योजना, 1944 *(Sergeant Plan, 1944)*

देश में शिक्षा के विकास के लिये केन्द्रीय शिक्षा सलाहकार बोर्ड (Central Advisory Board of Education) ने 1944 ई. में एक राष्ट्रीय योजना की सिफारिश की। इस मंडल के अध्यक्ष सर जॉन सार्जेण्ट ही भारत के प्रमुख शिक्षा परामर्शदाता थे। उन्होंने अपनी रिपोर्ट में निम्नलिखित सिफारिशें कीं–

1. प्राथमिक विद्यालय तथा उच्च-माध्यमिक विद्यालय देश भर में स्थापित किये जाएँ।
2. 6 से 11 वर्ष तक के बालक-बालिकाओं के लिए नि:शुल्क एवं अनिवार्य शिक्षा की व्यापक व्यवस्था हो।
3. 11 से 17 वर्ष की आयु के छात्र-छात्राओं के लिए छह वर्ष की शिक्षा की व्यवस्था हो।

इनके अलावा, समिति ने उच्चतर विद्यालयों की स्थापना की बात भी कही थी, जो कि दो प्रकार से प्रस्तावित थे–

(क) विद्या-विषयक

(ख) प्राविधिक और व्यावसायिक शिक्षा हेतु

सार्जेंट योजना के अंतर्गत उत्तर-माध्यमिक श्रेणी को समाप्त किया जाना था और 40 वर्षों के भीतर देश में शिक्षा के पुनर्निर्माण का कार्य पूरा होना था, लेकिन खेर समिति ने इस अवधि को घटाकर मात्र 16 वर्ष कर दिया। सार्जेंट योजना के बाद 15 अगस्त, 1947 को भारत स्वतंत्र हो गया और इस प्रकार भारतीय शिक्षा में ब्रिटिश काल का पटाक्षेप हो गया।

भारत में प्रेस का विकास *(Development of Press in India)*

समाचार-पत्रों का विकास *(Development of Newspapers)*

संचार के क्षेत्र में छपाई हेतु मुद्रण यंत्रों यानी प्रेस के आ जाने से विचारों के आदान-प्रदान एवं संप्रेषण तथा ज्ञानार्जन की प्रक्रिया न केवल कम खर्चीली हो गई, बल्कि उनकी पहुँच भी और व्यापक हो गयी। अंग्रेज़ी और देशी भाषा के समाचार-पत्रों में अनेक प्रतिबंधों के बावजूद तेजी से वृद्धि होने से औपनिवेशिक प्रशासन के अत्याचारों के विरुद्ध सशक्त जनमत तैयार हुआ, जिसने राष्ट्रवाद के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय समाचार-पत्रों का इतिहास यूरोपीय लोगों के आने के साथ ही आरंभ हुआ।

भारत में प्रिंटिंग प्रेस की शुरुआत 16वीं सदी में उस समय हुई जब गोवा के पुर्तगाली पादरियों ने सन् 1557 में एक पुस्तक छापी। ईस्ट इंडिया कंपनी ने अपना पहला प्रिंटिंग प्रेस सन् 1684 में बंबई में स्थापित किया। लगभग 100 वर्षों तक कंपनी के अधिकार वाले प्रदेशों में कोई समाचार-पत्र नहीं छपा क्योंकि कंपनी के कर्मचारी यह नहीं चाहते थे कि उनके अनैतिक, अवांछनीय तथा निजी व्यापार से जुड़े कारनामों की जानकारी ब्रिटेन पहुँचे। इसीलिए भारत में पहला समाचार-पत्र निकालने का प्रयास कंपनी के असंतुष्ट कर्मचारियों ने ही किया था। सन् 1766 में कंपनी के असंतुष्ट कर्मचारी विलियम बोल्ट्स ने अपने द्वारा निकाले गये समाचार-पत्र में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स की नीतियों के विरुद्ध लिखा, लेकिन, बोल्ट्स को शीघ्र ही इंग्लैंड भेज दिया गया।

कालांतर में भारत में स्वतंत्र तथा तटस्थ पत्रकारिता के क्षेत्र में प्रथम प्रयास जेम्स ऑगस्टस हिक्की द्वारा सन् 1780 में किया गया। उसके द्वारा प्रकाशित प्रथम समाचार-पत्र का नाम 'बंगाल गजट' अथवा 'द कलकत्ता जनरल एडवरटाइज़र' था। शीघ्र ही उसकी निष्पक्ष

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

शासकीय आलोचनात्मक पत्रकारिता के कारण उसका मुद्रणालय जब्त कर लिया गया। सन् 1784 में कलकत्ता गजट, 1785 में बंगाल जनरल तथा द ओरियंटल मैगजीन ऑफ कलकत्ता अथवा द कलकत्ता एम्यूजमेंट, 1788 में मद्रास कुरियर इत्यादि अनेक समाचार-पत्र निकलने आरंभ हुए। जब कभी कोई समाचार-पत्र कंपनी के विरुद्ध कोई समाचार प्रकाशित करता तो कंपनी की सरकार कभी-कभी पूर्व-सेंसरशिप की नीति भी लागू कर देती थी और तथाकथित अपराधी संपादक को निर्वासन की सजा सुना दिया करती थी।

गंगाधर भट्टाचार्य द्वारा सन् 1816 में प्रकाशित बंगाल गजट (Bengal Gazette) किसी भी भारतीय द्वारा अंग्रेजी में प्रकाशित पहला समाचार-पत्र था। दूसरी ओर, हिन्दी में प्रकाशित प्रथम समाचार-पत्र 'उदन्त मार्तण्ड' था, जिसका प्रकाशन सन् 1826 में कानपुर से जुगल किशोर ने किया। सन् 1818 में मार्शमैन द्वारा बांग्ला भाषा में 'दिग्दर्शन' नामक मासिक पत्रिका का प्रकाशन आरंभ किया गया। राजा राममोहन राय प्रथम भारतीय थे, जिन्हें राष्ट्रीय प्रेस की स्थापना का श्रेय दिया जाता है। उन्होंने सन् 1821 में अपने साप्ताहिक पत्र 'संवाद कौमुदी' और सन् 1822 में फारसी पत्र 'मिरात-उल अखबार' का प्रकाशन कर भारत में प्रगतिशील राष्ट्रीय प्रवृत्ति के समाचार-पत्रों का शुभारंभ किया। सन् 1851 में दादा भाई नौरोजी के संपादकत्व में बंबई से एक गुजराती समाचार-पत्र 'रफ्त गोफ्तार' का प्रकाशन आरंभ हुआ। इसी समय 19वीं शताब्दी के महान भारतीय पत्रकार हरिशचंद्र मुखर्जी ने कलकत्ता से 'हिन्दू पैट्रियॉट' (Hindu Patriot) नामक पत्र का प्रकाशन किया। एक अन्य साप्ताहिक समाचार-पत्र 'चंद्रिका' हिन्दू समाज के रूढ़िवादी वर्ग का प्रतिनिधित्व करता था।

भारतीय स्वामित्व वाले समाचार-पत्रों की संख्या और प्रभाव में 19वीं शताब्दी के परवर्ती काल में तेजी से वृद्धि हुई। प्रकाशित होने वाले समाचार-पत्रों में शिशिर कुमार घोष तथा मोतीलाल घोष द्वारा संपादित 'अमृत बाजार पत्रिका' तथा मद्रास से प्रकाशित 'हिन्दू' प्रभावशाली पत्र थे। देशी भाषाओं के प्रेस पर लगे प्रतिबंध से बचने के लिए अमृत बाजार पत्रिका तत्काल एक अंग्रेजी का समाचार-पत्र बन गयी। प्रख्यात समाज-सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने सन् 1859 में बंगाली भाषा में 'सोम प्रकाश' का संपादन किया। यही पहला ऐसा समाचार-पत्र था जिसके विरुद्ध लिटन का वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट (Vernacular Press Act) लागू हुआ था। बाल गंगाधर तिलक ने बंबई से अंग्रेजी में 'मराठा' और मराठी में 'केसरी' का प्रकाशन किया। प्रारंभ में 'केसरी' का संपादन आगरकर तथा 'मराठा' का संपादन केलकर किया करते थे।

देश के अनेक समाचार-पत्रों का संपादन अंग्रेजों द्वारा भी किया गया। भारत में अंग्रेजों द्वारा संपादित समाचार-पत्रों में प्रमुख इस प्रकार थे- टाइम्स ऑफ इंडिया (1861 ई.), स्टेट्समैन (1875 ई.), फ्रेंड ऑफ इंडिया, मद्रास मेल, पायनियर (इलाहाबाद), सिविल एंड मिलिटरी गजट (लाहौर), इंगलिश मैन आदि। इन एंग्लो-इंडियन अखबारों में 'इंगलिश मैन' सर्वाधिक रूढ़िवादी एवं प्रतिक्रियावादी, 'स्टेट्समैन' सर्वाधिक उदारवादी दृष्टिकोण वाले और 'पायनियर' सरकार-समर्थक अखबार के रूप में जाने जाते थे।

प्रेस पर लगाए गए प्रतिबंध *(Restrictions on Press)*

- **प्रेस नियंत्रण अधिनियम, 1799** : ब्रिटिश भारत में प्रेस पर कानूनी नियंत्रण की शुरुआत सबसे पहले तब हुई जब लॉर्ड वेलेजली ने प्रेस नियंत्रण अधिनियम द्वारा सभी समाचार-पत्रों पर नियंत्रण (सेंसर) लगा दिया। तत्पश्चात् सन् 1818 में इस प्री-सेंसरशिप को समाप्त कर दिया गया।
- **भारतीय प्रेस पर पूर्ण प्रतिबंध, 1823** : कार्यवाहक गवर्नर जनरल जॉन एडम्स ने सन् 1823 में भारतीय प्रेस पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया। इसके कठोर नियमों के अंतर्गत मुद्रक तथा प्रकाशक को मुद्रणालय स्थापित करने हेतु लाइसेंस लेना होता था तथा मजिस्ट्रेट को मुद्रणालय जब्त करने का भी अधिकार था। इस प्रतिबंध के चलते राजा राममोहन राय की पत्रिका 'मिरात-उल-अखबार' का प्रकाशन रोकना पड़ा।
- **लिबरेशन ऑफ दि इंडियन प्रेस अधिनियम, 1835** : लॉर्ड विलियम बेंटिक ने समाचार-पत्रों के प्रति उदारवादी दृष्टिकोण अपनाया। इस उदारता को और आगे बढ़ाते हुए चार्ल्स मेटकॉफ ने सन् 1823 के भारतीय अधिनियम को रद्द कर दिया। अतः चार्ल्स मेटकॉफ को भारतीय समाचार-पत्र का मुक्तिदाता कहा जाता है। सन् 1835 के अधिनियम के अनुसार मुद्रक तथा प्रकाशक के लिए प्रकाशन के स्थान की सूचना देना जरूरी होता था।
- **लाइसेंसिंग अधिनियम, 1857** : सन् 1857 के विद्रोह से निपटने के लिए ब्रिटिश सरकार ने एक वर्ष की अवधि के लिए बिना लाइसेंस मुद्रणालय रखने और उसके प्रयोग पर प्रतिबंध लगा दिया।
- **पंजीकरण अधिनियम, 1867** : इस अधिनियम के अंतर्गत प्रत्येक मुद्रित पुस्तक तथा समाचार-पत्र पर मुद्रक, प्रकाशक और मुद्रण स्थान का नाम होना अनिवार्य था तथा प्रकाशन के एक मास के भीतर पुस्तक की एक प्रति स्थानीय सरकार को निःशुल्क भेजनी होती थी। सन् 1869-70 में हुए वहाबी विद्रोह के कारण ही सरकार ने राजद्रोही लेख लिखने वालों के लिए आजीवन अथवा कम काल के लिए निर्वासन या फिर दण्ड का प्रावधान रखा।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, 1878** : लॉर्ड लिटन द्वारा लागू किया गया वर्नाक्यूलर प्रेस एक्ट, 1878 मुख्यत: 'अमृत बाजार पत्रिका' के लिए लाया गया था जो बांग्ला समाचार-पत्र था। इससे बचने के लिए ही यह पत्रिका रातों-रात अंग्रेज़ी भाषा की पत्रिका में बदल गई। इस एक्ट के प्रमुख प्रावधान थे–
  - प्रत्येक प्रेस को यह लिखित वचन देना होगा कि वह सरकार के विरुद्ध कोई लेख नहीं छापेगा।
  - प्रत्येक मुद्रक तथा प्रकाशक के लिए जमानत राशि (Security Deposit) जमा करना आवश्यक होगा।
  - इस संबंध में ज़िला मजिस्ट्रेट का निर्णय अंतिम होगा तथा उसके खिलाफ अपील नहीं की जा सकेगी।

  इस अधिनियम को 'मुँह बंद करने वाला अधिनियम' कहा गया। जिन पत्रों के विरुद्ध इस अधिनियम को लागू किया गया, उनमें प्रमुख थे– सोम-प्रकाश तथा भारत-मिहिर। इस एक्ट को लॉर्ड रिपन ने सन् 1881 में निरस्त कर दिया।
- **आपराधिक प्रक्रिया संहिता, 1898** : इस अधिनियम द्वारा सेना में असंतोष फैलाने अथवा किसी व्यक्ति को राज्य के विरुद्ध काम करने को उकसाने वालों के लिए दण्ड का प्रावधान किया गया।
- **समाचार-पत्र अधिनियम, 1908** : इस अधिनियम के द्वारा मजिस्ट्रेट को यह अधिकार दे दिया गया कि वह हिंसा या हत्या को प्रेरित करने वाली आपत्तिजनक सामग्री प्रकाशित करने वाले समाचार-पत्रों की सम्पत्ति या मुद्रणालय को जब्त कर ले।
- **भारतीय प्रेस अधिनियम, 1910** : इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्नवत् थे–
  - किसी मुद्रणालय के स्वामी या समाचार-पत्र के प्रकाशक से स्थानीय सरकार पंजीकरण जमानत माँग सकती है, जो कि न्यूनतम रु. 500 तथा अधिकतम रु. 2000 होगी।
  - आपत्तिजनक सामग्री के निर्णय का अधिकार प्रांतीय सरकार को होगा न कि अदालत को।

  सर तेजबहादुर सप्रू, जो उस समय विधि सदस्य थे, की अध्यक्षता में सन् 1921 में एक समाचार-पत्र समिति की नियुक्ति की गई, जिसकी सिफारिशों पर 1908 और 1910 के अधिनियम निरस्त कर दिए गए।
- **भारतीय प्रेस (संकटकालीन शक्तियाँ) अधिनियम, 1931** : इस अधिनियम के द्वारा प्रांतीय सरकार को जमानत राशि जब्त करने का अधिकार मिला तथा राष्ट्रीय कांग्रेस के विषय में समाचार प्रकाशित करना अवैध घोषित कर दिया गया।

  उपर्युक्त अधिनियमों के अतिरिक्त, सन् 1932 के एक्ट द्वारा पड़ोसी देशों के प्रशासन की आलोचना पर तथा 1934 ई. के एक्ट द्वारा भारतीय रजवाड़ों की आलोचना पर रोक लगा दी गयी। सन् 1939 में इसी अधिनियम द्वारा प्रेस को सरकारी नियंत्रण में लाया गया।
- 11वीं समाचार-पत्र जाँच समिति : मार्च 1947 में भारत सरकार ने एक समाचार-पत्र जाँच समिति का गठन किया और उसे आदेश दिया कि वह संविधान सभा में स्पष्ट किए गए मौलिक अधिकारों के संदर्भ में समाचार-पत्र संबंधी कानूनों का पुनरावलोकन करे।
- **समाचार-पत्र (आपत्तिजनक विषय) अधिनियम, 1951**: 26 जनवरी, 1950 को नया संविधान लागू होने के बाद सन् 1951 में सरकार ने संविधान के अनुच्छेद 19(2) में संशोधन किया और फिर समाचार-पत्र (आपत्तिजनक विषय) अधिनियम पारित किया। यह अधिनियम उन सभी समाचार-पत्र संबंधी अधिनियमों से अधिक व्यापक था जो कि उस दिन तक पारित हुए थे। इसके द्वारा केन्द्रीय तथा राजकीय समाचार-पत्र अधिनियम, जो उस समय लागू था, समाप्त कर दिया गया। नये कानून के तहत सरकार को समाचार-पत्रों तथा मुद्रणालयों से आपत्तिजनक विषय प्रकाशित करने पर उनकी जमानत जब्त करने का अधिकार मिल गया। परंतु अखिल भारतीय समाचार-पत्र संपादक सम्मेलन तथा भारतीय कार्यकर्ता पत्रकार संघ ने इस अधिनियम का भारी विरोध किया। अत: सरकार ने इस कानून की समीक्षा करने के लिए न्यायाधीश जी. एस. राजाध्यक्ष की अध्यक्षता में एक समाचार-पत्र आयोग नियुक्त किया। इस आयोग ने अपनी रिपोर्ट अगस्त 1954 में प्रस्तुत की, जिसके आधार पर समाचार-पत्रों के पीड़ित संपादक तथा मुद्रणालय के स्वामियों को जूरी द्वारा न्याय माँगने का अधिकार प्राप्त हो गया।

प्रेस की भूमिका एवं प्रभाव *(Role and Impact of Press)*

राष्ट्रीय भावना के उदय एवं विकास में प्रेस ने निश्चय ही देश के स्वतंत्रता आंदोलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन में राजनीतिक, आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं प्रत्येक स्तर पर इसकी भूमिका सराहनीय रही। वस्तुत: ब्रिटिश सरकार के वास्तविक उद्देश्य को, उसकी दोहरी चालों को तथा उसके द्वारा भारतीयों के शोषण को जनता के समक्ष रखने वाला माध्यम प्रेस ही था। प्रेस की भूमिका एवं प्रभाव संबंधी अन्य तथ्य इस प्रकार हैं–

- तत्कालीन युग का मुख्य उद्देश्य जन जागरण था और इस उद्देश्य की प्रगति में प्रेस की भूमिका सक्रिय तथा सशक्त रही।
- कांग्रेस की स्थापना से पहले समाचार-पत्र देश में लोकमत का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। पत्रकारिता को अपना बहुमूल्य समय

Copyright – Drishti The Vision Foundation

देकर समाचार-पत्रों के माध्यम से सरकार की नीतियों की आलोचना कर तथा विभिन्न विषयों पर लेख लिखकर शिक्षित भारतीय देशवासियों को सरकार के विभिन्न कार्यों तथा देश की समकालीन स्थिति से अवगत करा रहे थे।

- भारतीय समाचार-पत्रों ने लोगों को राजनीतिक शिक्षा देने का जिम्मा अपने ऊपर ले लिया था। कांग्रेस की माँग को बार-बार दोहराकर प्रेस सरकार तथा जनता को प्रभावित करता रहता था।
- अतिवादी जुझारू राष्ट्रवाद को फैलाने में बाल गंगाधर तिलक, लाला लाजपत राय, बारिंद्र घोष, अरविंद घोष, विपिनचंद्र पाल इत्यादि ने प्रेस का ही सहारा लिया।

सर्वाधिक उल्लेखनीय रूप से, राष्ट्रीय आंदोलन को लोकप्रिय बनाने में समाचार-पत्रों के अमूल्य योगदान को नकारा नहीं जा सकता। इन पत्रों के संपादकों एवं आम जनता के बीच भावनात्मक एकता एवं सहानुभूति का संबंध कायम हो चुका था। यह कहना भी गलत न होगा कि जनमत का निर्माण एवं विकास भारतीय भाषायी पत्रों की स्थापना एवं विकास के परिणामस्वरूप ही संभव हो सका।

भारत में स्थानीय स्वशासन का विकास *(Development of Local Self-Government in India)*

ऐसा माना जाता है कि भारत में स्थानीय स्वशासन की शुरुआत वैदिक काल से ही हो चुकी थी। मौर्य काल में यह व्यवस्था परिपक्वता के शिखर पर थी तथा चोल युग स्थानीय स्वशासन के विचार से सर्वश्रेष्ठ काल माना जाता है। तथापि, वर्तमान समय में जो स्थानीय स्वशासन का स्वरूप है, उसका विकास अंग्रेजी शासनकाल में ही हुआ।

अंग्रेजों ने स्थानीय संस्थाएँ सबसे पहले प्रेसीडेंसी नगरों में स्थापित कीं। सन् 1687 में बोर्ड ऑफ डायरेक्टर्स ने मद्रास में नगर निगम बनाने की स्वीकृति दी। सन् 1726 में मद्रास नगर निगम के महापौर का न्यायालय स्थापित हुआ। तदोपरांत, इसी प्रकार के न्यायालय बंबई और कलकत्ता में भी स्थापित किए गए। सन् 1793 के चार्टर एक्ट के तहत इन स्थानीय संस्थाओं को वैधानिक आधार प्राप्त हुआ। गवर्नर जनरल को प्रेसीडेंसी नगरों में शांति अधिकारी नियुक्त करने का अधिकार दिया गया तथा इन अधिकारियों को मकान पर कर लगाने का अधिकार भी मिल गया। सन् 1840 से 1853 के मध्य स्थानीय करदाताओं को निगमों के सदस्यों के चुनाव का अधिकार दिया गया। यह अधिकार सन् 1853 में समाप्त कर (बम्बई नगर में) समस्त प्रशासनिक शक्ति एक मनोनीत आयुक्त के अधीन कर दी गई। मद्रास एवं कलकत्ता में भी इसी प्रक्रिया की पुनरावृत्ति देखी गई।

बंगाल अधिनियम, 1842 के द्वारा प्रेसीडेंसी नगरों से बाहर स्थानीय संस्थाओं की शुरुआत हुई। इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य नगरों में सार्वजनिक स्वास्थ्य तथा सुविधाओं की व्यवस्था करना था। सन् 1850 में यह अधिनियम सभी ब्रिटिश प्रांतों में लागू कर दिया गया तथा इसके द्वारा नगरपालिकाओं को अप्रत्यक्ष कर लगाने का अधिकार सौंप दिया गया। तत्पश्चात् उत्तर-पश्चिमी प्रांत के बहुत से नगरों में नगरपालिकाएँ अस्तित्व में आईं। सन् 1868 में राजकीय सैन्य स्वच्छता आयुक्त की रिपोर्ट के प्रकाशित होने के बाद नागरिक संस्थाओं का महत्त्व बढ़ गया। कुछ समय बाद सिंध प्रशासन द्वारा स्थानीय संस्थाओं को भूमिकर तथा मुद्रांकन शुल्क पर अतिरिक्त उपकर लगाने का अधिकार भी दे दिया गया।

सन् 1869 में एक अधिनियम पारित हुआ जिसमें मालगुजारी पर उपकर लगाने तथा उसका खर्च एक अलग कमेटी द्वारा किए जाने का प्रावधान था। यह स्थानीय स्वशासन की दिशा में प्रथम प्रयास था जो बंबई में हुआ। यहाँ यह व्यवस्था सफल रही, जिससे प्रोत्साहित होकर इसे सन् 1870 में अन्य प्रान्तों के जिलों में भी अपनाया गया। इन समितियों का अध्यक्ष जिला कलेक्टर होता था और ये सार्वजनिक स्वास्थ्य, शिक्षा एवं अन्य स्थानीय आवश्यकताओं के प्रति उत्तरदायी होती थीं।

लॉर्ड मेयो का प्रस्ताव, 1870 *(Lord Mayo's Resolution, 1870)*

वैधानिक विकेन्द्रीकरण की नीति भारतीय परिषद अधिनियम, 1861 (Indian Council Act, 1861) के द्वारा आरंभ की गई। लॉर्ड मेयो द्वारा प्रस्तावित सन् 1870 का वित्तीय विकेन्द्रीकरण का प्रस्ताव, उसी अधिनियम की स्वाभाविक परिणति थी। इस प्रस्ताव के अंतर्गत प्रांतीय सरकारों को शिक्षा, स्वास्थ्य, सड़कें एवं कुछ अन्य विभागों का नियंत्रण दे दिया गया। इसी के परिणामस्वरूप स्थानीय वित्त का शुभारंभ हुआ। सन् 1871 के बंगाल जिला बोर्ड उपकर अधिनियम द्वारा बंगाल के ग्रामीण क्षेत्रों में स्थानीय स्वशासन लाने का प्रथम प्रयास किया गया। तदोपरांत इसी प्रकार के अधिनियम पंजाब, मद्रास और उत्तर-पश्चिमी प्रांत में भी पारित किए गए।

लॉर्ड रिपन का प्रस्ताव, 1882 *(Lord Ripon's Resolution, 1882)*

भारत में स्थानीय स्वशासन के जनक कहे जाने वाले लॉर्ड रिपन द्वारा सन् 1882 में लाया गया उनका प्रस्ताव स्थानीय स्वशासन के विकास में महत्वपूर्ण स्थान रखता है। लॉर्ड रिपन ने प्रांतीय सरकारों को आज्ञा दी कि वे स्थानीय नागरिक वित्तीय साधनों का एक सर्वेक्षण करें, जिससे यह निश्चित किया जा सके कि स्थानीय प्रशासन को किन-किन मदों का आय-व्यय सौंपा जा सकता

Copyright – Drishti The Vision Foundation

है तथा किन-किन मदों का पुनर्विभाजन जरूरी है। साथ ही, किन प्रयासों से समस्त साम्राज्य में नागरिक तथा स्थानीय करों में एकरूपता लाई जा सकती है, वे यह भी बताएँ। प्रांतीय सरकारों से रिपोर्ट मिलने के पश्चात् केन्द्र सरकार ने सन् 1882 में एक प्रस्ताव पारित किया जिसके परिणामस्वरूप भारत में स्थानीय स्वायत्त शासन का प्रभावकारी सूत्रपात हुआ। इस प्रस्ताव के तहत निम्नलिखित व्यवस्थाएँ की गईं–

1. स्थानीय बोर्डों के कार्य एवं आय के स्रोत सुनिश्चित किये गये।
2. ग्रामीण क्षेत्रों की आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु तालुका बोर्ड अथवा जिला बोर्ड का गठन किया गया।
3. स्थानीय संस्थाओं में जनता द्वारा निर्वाचित गैर-सरकारी सदस्यों का बहुमत सुनिश्चित किया गया।
4. सरकारी हस्तक्षेप न्यूनतम कर दिया गया।

बहरहाल, उपर्युक्त व्यवस्थाओं के बावजूद ऋण लेना, नागरिक संपत्ति का हस्तांतरण, नए कर लगाना आदि के संबंध में सरकार की अनुमति अब भी आवश्यक थी।

विकेन्द्रीकरण आयोग की रिपार्ट, 1908 *(Decentralization Commission Report, 1908)*

अपनी रिपोर्ट के के माध्यम से विकेंद्रीकरण के लिए राजकीय आयोग ने निम्नलिखित तथ्य और सुझाव निर्देश जारी किए–

1. स्थानीय संस्थाओं के प्रभावशाली ढंग से कार्य करने में धन का अभाव ही प्रमुख बाधा है।
2. ग्राम पंचायतों को सशक्त बनाने के लिए उन्हें और अधिकार प्रदान किए जाने चाहिए।
3. पंचायतों को आय के पर्याप्त साधन सुलभ होने चाहिए।
4. पंचायतों के कार्य में जिलाधिकारियों का हस्तक्षेप न्यूनतम होना चाहिए।

उपर्युक्त के अलावा, आयोग के द्वारा प्रत्येक तालुका अथवा तहसील में उप-जिला बोर्ड की स्थापना के साथ-साथ जिलों और उप-जिलों के भिन्न-भिन्न कार्यों पर भी बल दिया गया। बहरहाल, सरकार की अकर्मण्यता की नीति के कारण ये सुझाव भी कागजी ही बने रहे। तत्पश्चात् इस आयोग की सिफारिशों का सीमित रूप से क्रियान्वयन मई 1918 के प्रस्ताव द्वारा किया गया।

द्वैध-शासन के अधीन स्थानीय स्वशासन *(Local Self-Government Under Diarchy)*

भारत शासन अधिनियम, 1919 द्वारा प्रस्तावित द्वैध-शासन में स्थानीय स्वशासन ने एक हस्तांतरित विषय का रूप ले लिया। इसके परिणामस्वरूप केन्द्र सरकार ने इस विषय में प्रांतीय सरकारों को आदेश देना बंद कर दिया। इस प्रकार, प्रत्येक प्रांत को अपनी आवश्यकतानुसार स्थानीय संस्थाओं का विकास करने की इजाजत मिल गई।

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत स्थानीय स्वशासन *(Local Self-Government Under Government of India Act, 1935)*

भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत स्थानीय संस्थाओं को और भी अधिक अधिकार प्राप्त हो गए। अब लोकप्रिय सरकारें वित्त का भी नियंत्रण करने लगी थीं। अतः वे इन स्थानीय संस्थाओं को और अधिक धन उपलब्ध करवा सकती थीं। प्रांतीय एवं स्थानीय करों के बीच का अंतर भी मिटा दिया गया।

स्वतंत्रताप्राप्ति पश्चात् स्थानीय स्वशासन *(Local Self-Government in Post-Independence Period)*

संविधान के अनुच्छेद-40 में स्थानीय संस्थाओं के विकास के लिए राज्यों को निर्देश दिए गए हैं। इससे स्थानीय स्वायत्त संस्थाओं का अभूतपूर्व विकास हुआ। वर्ष 1993 में संविधान के 73वें एवं 74वें संशोधन के द्वारा न केवल स्थानीय संस्थाओं के गठन को संवैधानिक स्वीकृति ही प्रदान की गई वरन् इन्हें अनिवार्य भी कर दिया गया।

ब्रिटिश भारत में रेलवे का विकास *(Development of Railways in British India)*

भारत में रेलवे के निर्माण संबंधी आर्थिक एवं राजनीतिक महत्व को सर्वप्रथम सन् 1853 में लॉर्ड डलहौजी ने उजागर किया था। तत्पश्चात् उन्होंने ही भारत में रेल निर्माण की दिशा में प्रथम प्रयास सन् 1846 में किया। परिणामतः प्रथम रेलवे लाइन सन् 1853 में बंबई और थाणे के बीच डलहौजी के समय में ही बिछाई गई। तथापि, भारत में रेलवे लाइन का सर्वाधिक विस्तार लॉर्ड कर्जन

Copyright – Drishti The Vision Foundation.

के समय में हुआ। साम्राज्यवादी विद्वानों के अनुसार रेलवे का निर्माण भारत के औद्योगीकरण के लिए किया गया था, परंतु ध्यानपूर्वक देखने पर हमें ज्ञात होता है कि रेलवे का निर्माण पूरी तरह ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों की ओर ही उन्मुख था। डेनियल थॉर्नर, पैक फर्ग्युसन आदि अनेक विद्वानों ने रेलवे के औपनिवेशिक महत्व को स्पष्ट किया है। उनके अनुसार, रेलवे का निर्माण निम्नलिखित उद्देश्यों से परिचालित था–

ब्रिटिश भारत में गठित रेलवे आयोग

आयोग	वर्ष	गवर्नर जनरल
थॉमस रॉबर्टसन आयोग	1902	लॉर्ड कर्जन
एक्वर्थ आयोग	1919	लॉर्ड चेम्सफोर्ड

- ब्रिटिश वस्तुओं के लिए भारतीय बाजार का विकास अर्थात् भारत के दूरस्थ क्षेत्रों तक ब्रिटिश उत्पादों को पहुँचाना।
- भारत से कच्चे माल (Raw Material) की निकासी।
- अंग्रेज पूँजीपतियों के निवेश (Investment) के उद्देश्य को पूरा करना।
- इंग्लैंड के लोहा एवं इस्पात उद्योग तथा अन्य उद्योगों को बढ़ावा देना।
- द्रुतगति से एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में सैनिकों को पहुँचाना अर्थात् सामरिक उद्देश्यों की पूर्ति।

दरअसल, 1850 के दशक में जब बड़ी मात्रा में संचित ब्रिटिश पूँजी के लिए निकास की समस्या पैदा हुई तो भारत सरकार ने रेलवे निर्माण में ब्रिटिश पूँजी को आमन्त्रित किया। सन् 1853 से 1869 के बीच में रेलवे निर्माण में निजी उद्यमियों को प्रोत्साहन दिया गया। सन् 1854 में रेलवे के निर्माण हेतु दो कंपनियों की स्थापना की गयी– ईस्ट इंडियन रेलवे तथा ग्रेट इंडियन पेनिंसुलर रेलवे। निजी पूँजी की सुरक्षा हेतु 5% गारंटीशुदा मुनाफे का प्रावधान रखा गया। तत्पश्चात् 1869 से 1880 के बीच रेलवे निर्माण का कार्य सरकार ने अपने हाथों में ले लिया। बहरहाल, सन् 1880 के बाद रेलवे निर्माण का कार्य सरकार तथा निजी उद्यम दोनों के तहत फिर से आ गया।

रेलवे के महत्व को भारत के संदर्भ में देखे जाने पर इस तथ्य से इंकार नहीं किया जा सकता कि भारत को इसका सीमित लाभ ही प्राप्त हुआ। इन सीमित लाभों में शामिल थे– भारत की भौगोलिक दूरी कम हो गयी और भारतीय बाजार का एकीकरण हुआ। तथापि, इससे अंग्रेजों का उद्देश्य भी पूरा नहीं हुआ क्योंकि सूती वस्त्र के बाजार में प्रतिस्पर्धी के रूप में भारतीय व्यापारी खड़े ही रहे। दूसरे शब्दों में भारतीय जुलाहे टूटने के बाद भी संघर्ष कर रहे थे। दूसरी तरफ शीघ्र ही बॉम्बे तथा अहमदाबाद ब्रिटिश सूती वस्त्र के प्रतिस्पर्धी केन्द्र के रूप में उभरकर आए। अतः इस तथ्य से भी इंकार नहीं किया जा सकता कि रेलवे का निर्माण पूरी तरह ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों के लिए ही किया गया था। इसके समर्थन में तथ्य निम्नवत् हैं:

1. रेलवे के निर्माण में लगायी गई पूँजी 'लगभग 350 लाख पौंड स्टर्लिंग' में भारत का योगदान शून्य था और गारंटीशुदा मुनाफे के प्रावधान के कारण भारत में रेलवे का निर्माण काफी महँगा हो गया था। यदि हम भारतीय रेलवे के निर्माण की तुलना अमेरिका के रेलवे निर्माण से करें तो हमें यह ज्ञात होगा कि भारत में यह डेढ़ गुना महँगी सिद्ध हुई और आगे चलकर यह गृह-व्यय के रूप में भारत से धन की निकासी का माध्यम बन गयी, जैसा कि दादाभाई नौरोजी ने दावा किया।
2. रेलवे का निर्माण तथा भाड़ा और शुल्क इस प्रकार तय किया गया था कि भारत से कच्चे माल की निकासी हो तथा ब्रिटेन में तैयार माल का आयात संभव हो।
3. कार्ल मार्क्स के अनुसार, "रेलवे भारत में आधुनिक युग का अग्रदूत है और भारत में रेलवे का निर्माण अनचाहे रूप में औद्योगीकरण को जन्म देगा।" तथापि, ऐसा नहीं हो सका क्योंकि रेलवे निर्माण के लिए लौह इंजन और अन्य सामग्री ब्रिटेन से ही आयात की गयीं।

भारत के अलावा अन्य देशों में ऐसा देखा गया कि रेलवे निर्माण ने वहाँ औद्योगीकरण को जन्म दिया था। इसका कारण यह था कि रेलवे निर्माण के क्रम में ही कुछ संबद्ध उद्योगों का विकास हुआ था। दूसरी ओर, ब्रिटिश औपनिवेशिक नियंत्रण के अंतर्गत भारत में संबद्ध उद्योगों के विकास हेतु प्रयास नहीं किया गया, उल्टे ये सामग्रियाँ ब्रिटेन से सीधे आयात कर ली जाती थीं।

अंग्रेजों की अकाल-नीति *(British Famine Policy)*

भारत के संदर्भ में ब्रिटिश नीति एवं उसके प्रभाव की व्याख्या ब्रिटिश पक्षधर विद्वानों ने एकदम अलग तरीके से की है। उनके अनुसार, ब्रिटिश नीति का उद्देश्य था– सभी क्षेत्रों में व्यावसायीकरण को बढ़ावा देना। उनके विचार से ब्रिटिश शासन के अंतर्गत भारत में सिंचाई परियोजनाओं का विकास हुआ तथा कृषि के व्यावसायीकरण को बढ़ावा मिला जिससे कृषि का व्यापक प्रसार हुआ तथा अधिक से अधिक लोगों को अनाज मिलने लगा। लेकिन, सूक्ष्म मूल्यांकन करने पर ब्रिटिश विद्वानों के दावों की सीमा स्पष्ट हो जाती है। वास्तव में, ब्रिटिश पक्षधर इतिहासकार श्वेतों के अधिभार सिद्धांत (White Man's Burden Theory) का औचित्य सिद्ध करना चाहते थे। परंतु, ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि ब्रिटिश आर्थिक नीति का एक अपरिहार्य परिणाम था– दुर्भिक्ष अर्थात् अकाल।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

सन् 1765 से लेकर 1855 तक भारत में 12 बार अकाल पड़ा तथा उसे चार बार खाद्यान्न का भीषण अभाव झेलना पड़ा। सर्वप्रथम बंगाल में ईस्ट इंडिया कंपनी के अंतर्गत द्वैध-शासन (Diarchy) की स्थापना के साथ ही 1770 के दशक में भीषण अकाल पड़ा। सन् 1784 में उत्तरी भारत में फिर एक बार अकाल पड़ा तथा सन् 1792 में मद्रास में भीषण अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। यदि हम इस काल में अकाल के कारणों का विश्लेषण करते हैं तो अकाल के बदलते हुए स्वरूप को रेखांकित करना बहुत ही सरल हो जाता है। स्पष्टत: ब्रिटिश शासन से पूर्व होने वाले अधिकतर अकालों के लिए प्राकृतिक आपदा (Natural Disaster) उत्तरदायी होती थी, परंतु सन् 1860 के बाद इसमें कुछ नये पहलू शामिल हो गए।

ब्रिटिश भारत में अकाल आयोग

समिति	वर्ष	गवर्नर जनरल
कैम्पवेल आयोग	1866	सर जॉन लॉरेन्स
स्ट्रेची आयोग	1880	लॉर्ड लिटन
कॉकरेल आयोग	1886	लॉर्ड डफरिन
लॉयल आयोग	1896	लॉर्ड एल्गिन-II
मैकडॉनल आयोग	1900	लॉर्ड कर्जन
वुडहेड आयोग	1943	लॉर्ड वेवेल

इस प्रकार, हम कह सकते हैं कि इस काल में पड़ने वाले अधिकतर अकालों एवं भुखमरी के लिए ब्रिटिश नीति ही उत्तरदायी थी। उदाहरण के लिए, इस काल में रोजगार के अवसर कम होने के कारण लोगों की क्रय शक्ति बहुत कम हो गयी तथा अनाजों को खरीदना उनके लिए मुश्किल हो गया। दूसरी ओर, इसी काल में ब्रिटिश औपनिवेशिक सरकार भारत से अनाज के निर्यात को प्रोत्साहन दे रही थी। किसानों की भुखमरी को बढ़ाने में कृषि के व्यावसायीकरण की भी बड़ी भूमिका थी। व्यावसायिक फसलों को अपनाने से मोटे अनाजों के उत्पादन को गहरा धक्का लगा जिससे भुखमरी और भी बढ़ती गई। ब्रिटिश क्राउन (British Crown) के अधीन रहकर भी भारत में अकाल एवं भुखमरी एक सामान्य-सी घटना रही।

सन् 1866 में उड़ीसा में भयंकर अकाल पड़ा। तत्पश्चात् 1868 में उत्तर भारत में अकाल की स्थिति उत्पन्न हो गयी। इससे राजपूताना एवं मध्य भारत भी प्रभावित हुआ। सन् 1876-78 में मद्रास, बॉम्बे, उत्तर भारत तथा पंजाब में भी एक बड़ा अकाल पड़ा। अत: 19वीं सदी में औपनिवेशिक सरकार के अंतर्गत एक अकाल नीति (Famine Policy) का निर्धारण किया गया। सर्वप्रथम उड़ीसा में अकाल के बाद कैम्पवेल के अधीन एक अकाल आयोग (Famine Commission) का गठन हुआ। उसके बाद 1880 के दशक में अकाल संहिता (Famine Code) निर्माण हुआ। फिर तो समय-समय पर अनेक अकाल आयोगों का गठन होता रहा। लॉर्ड कर्जन के समय में मैकडॉनल आयोग का गठन किया गया। हालाँकि अकाल संहिता में यह प्रावधान था कि यदि तीन-चौथाई फसल नष्ट हो जाए तो भू-राजस्व की राशि माफ कर दी जाए, परंतु व्यवहारत: इसका क्रियान्वयन कठिन था तथा इस माँग को पूरा करवाने के लिए किसानों को एक बड़ा संघर्ष करना पड़ता था। उदाहरण के लिए, सन् 1896-97 में दक्कन के मामले में पूना सार्वजनिक सभा ने हस्तक्षेप किया और फिर सन् 1918 में खेड़ा के मामले में महात्मा गांधी द्वारा हस्तक्षेप किया गया।

उपर्युक्त के अलावा, सरकार द्वारा रैय्यतों (किसानों) की सुरक्षा के लिए भी कुछ अधिनियम बनाये गये। उदाहरण के लिए, इस दौरान पश्चिमोत्तर प्रांत लगान अधिनियम, 1881; मध्य प्रांत काश्तकारी विधेयक, 1883; बंगाल एवं पंजाब के काश्तकारी कानून, 1885 तथा अवध लगान अधिनियम, 1886 पारित हुए। बहरहाल, यह कहा जा सकता है कि इन सुधार अधिनियमों का वास्तविक उद्देश्य किसानों का कल्याण करना कम, बल्कि राजनीतिक असंतोष की धार को कम करना अधिक था। साथ ही, उनका उद्देश्य किसानों में यह भ्रम फैलाना था कि सरकार उनकी भलाई के लिए काम कर रही है।

लोक सेवाओं का विकास *(Development of Civil Services)*

ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन की प्रमुख विशेषता रही-- लोक सेवाओं का विकास। इस विकास की खास बात यह थी कि इसका भारत में प्रचलित परंपरागत लोक सेवाओं से किसी भी तरह का कोई संबंध नहीं था। यह पूरी तरह स्वतंत्र विकास के रूप में सामने आया। अपनी स्थापना के समय कंपनी एक व्यापारिक संस्था थी तथा उसे अपना काम चलाने के लिए ऐसे लोगों की आवश्यकता थी जो गणित, लेखांकन एवं व्यापारिक क्रियाओं का ज्ञान रखते हों। वस्तुत: कंपनी के कर्मचारी आरंभ में इसी आधार पर नियुक्त किए जाते थे। प्रशिक्षण का अभाव तथा भ्रष्टाचार कंपनी के लोक सेवकों की मुख्य कमजोरी थी। अत: क्लाइव तथा वॉरेन हेस्टिंग्स द्वारा लोकसेवकों में व्याप्त भ्रष्टाचार को समाप्त करने का प्रयास किया गया। वैसे, वे इसमें सफल नहीं रहे।

कंपनी की लोक सेवाएँ प्रसंविदायुक्त लोक सेवाएँ (Covenanted Civil Services) कहलाती थीं। इस प्रसंविदा में उसकी सेवा-शर्तों का उल्लेख रहता था।

ब्रिटिश भारत में लोकसेवा संबंधी आयोग

आयोग	वर्ष	गवर्नर जनरल
एचिंसन आयोग	1886	लॉर्ड डफरिन
एसलिंगटन आयोग	1912	yRZgkMx-II
ली आयोग	1923	लॉर्ड रीडिंग

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- कंपनी की लोक सेवाओं के विकास में लॉर्ड कार्नवालिस का विशिष्ट योगदान है। उसने कर्मचारियों के निजी व्यापार पर पूरी तरह रोक लगा दी तथा भेंट व उपहार लेना भी निषेध कर दिया। उसके एवज में कर्मचारियों की वेतन वृद्धि कर दी गई।
- सन् 1793 के चार्टर एक्ट (Charter Act, 1793) में यह भी व्यवस्था की गई कि लोक सेवाओं में नियुक्ति हेतु चयन सामान्यत: भारत में कार्यरत कर्मचारियों में से ही किया जाए।

भारतीयों की योग्यता एवं चरित्र में अविश्वास रखते हुए कार्नवालिस ने लोक सेवाओं का पूरी तरह से यूरोपीकरण कर दिया जो कि उसके द्वारा स्थापित व्यवस्था की सबसे बड़ी कमजोरी थी। इससे प्रशासन के व्यय में वृद्धि तो हुई ही, साथ ही, स्थानीय परिस्थितियों एवं परंपराओं से सही ढंग से परिचित न होने के कारण प्रशासन चलाने में लोक सेवकों को कठिनाई भी हुई। इसके अलावा, कार्नवालिस ने लोक सेवकों के प्रशिक्षण की भी कोई व्यवस्था नहीं की थी, अत: वह उनकी कार्यक्षमता में वृद्धि भी नहीं कर सका।

लॉर्ड वेलेजली द्वारा लोक सेवाओं को प्रशिक्षण द्वारा अधिक सक्षम बनाने की दिशा में महत्वपूर्ण कदम उठाए गए। नवंबर 1800 में लोक सेवकों के प्रशिक्षण हेतु उसने कलकत्ता में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना की। किंतु, इस प्रशिक्षण केन्द्र को निदेशकों ने बंद करवा दिया क्योंकि उन्हें डर था कि इससे कहीं लोकसेवकों का संरक्षण अधिकार उनके हाथ से निकलकर गवर्नर जनरल के हाथ में न चला जाए।

- अत: उन्होंने सन् 1805 में हर्फ़र्डशायर में ईस्ट इंडिया कॉलेज की स्थापना की, जिसका स्थानांतरण बाद में हैलीबरी में कर दिया गया। लोक सेवा की गुणवत्ता को सुधारने के लिए 1831-32 में हाउस ऑफ कॉमन्स की सेलेक्ट कमेटी (Select Committee) को सुझाव दिया कि लोकसेवकों की भर्ती प्रतियोगितात्मक परीक्षा द्वारा की जाए, किंतु यह सुझाव निदेशकों को नहीं भाया। दरअसल, इससे उनके संरक्षण अधिकार पर चोट पहुँचती थी।
- 1833 के चार्टर एक्ट द्वारा लोक सेवाओं के यूरोपीकरण के सिद्धांत को छोड़ दिया गया जिससे भारतीयों की भी नियुक्ति का रास्ता खुल गया। इस प्रकार, चार्टर एक्ट, 1833 द्वारा सीमित अर्थ में प्रतियोगिता के द्वारा भर्ती की पद्धति आरंभ हुई।

इस पद्धति के अनुसार जितने पद रिक्त होते थे, निदेशक मंडल उससे चार-गुना अधिक नाम चुनता फिर उनके मध्य प्रतियोगिता के माध्यम से अंतिम नियुक्ति की जाती। लोक सेवाओं में भर्ती में प्रतियोगिता के सिद्धांत को और प्रभावी ढंग से लागू करने की संभावना पर विचार करने के लिए लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में एक आयोग गठित किया गया। बहरहाल, इसके सुझाव निदेशकों के विरोध के कारण लागू नहीं किए जा सके।

एक कानून द्वारा सन् 1837 में हैलीबरी संस्थान में प्रशिक्षण हेतु भर्ती के लिए प्रारंभिक परीक्षा के आयोजन की व्यवस्था की गई।

- चार्टर एक्ट, 1853 द्वारा खुली प्रतिस्पर्धा एवं परीक्षा का सिद्धांत लागू कर दिया गया। कंपनी के शासनकाल में प्रसंविदायुक्त सेवा के साथ ही प्रसंविदामुक्त सेवा (Covenant-free Service) का भी विकास हुआ। इस सेवा में मुख्यत: लिपिक (Clerk) वर्ग की भर्ती की जाती थी।
- साम्राज्ञीय घोषणा, 1858 (Queen's Proclamation, 1858) में लोक सेवाओं में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष नियुक्तियों की बात कही गई थी, परंतु लोकसेवा अधिनियम, 1861 ने कुछ पदों को प्रतिज्ञाबद्ध लोकसेवकों के लिए निश्चित कर दिया।
- आगे वर्ष 1860, 1866 और 1878 में लोकसेवा परीक्षा में बैठने की अधिकतम आयु कम करके क्रमश: 22, 21 और 19 वर्ष कर दी गयी। इस तरह भारतीयों के इसमें शामिल होने के अवसर कम कर दिये गये।
- आरंभिक दौर में कुछ भारतीय इस सेवा में किसी तरह शामिल होने में सफल रहे। इनमें सत्येन्द्रनाथ टैगोर (सन् 1863), सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, रमेशचंद्र दत्त और बिहारी लाल गुप्ता (सभी सन् 1869) प्रमुख थे।

उच्च वर्गों को आकर्षित करने की दृष्टि से लॉर्ड लिटन ने सन् 1878-79 में लोक सेवाओं में भारतीयों के मनोनयन का प्रावधान बनाया। यह अधिकार स्थानीय सरकार को था, जिसके लिए परिषद के अलावा वायसराय और राज्य सचिव की अनुमति भी आवश्यक होती थी।

- 1880 के दशक में राष्ट्रवाद (Nationalism) के उदय के साथ सिविल सेवा परीक्षा का इंग्लैंड एवं भारत में एक साथ आयोजित किया जाना तथा अधिकतम आयु-सीमा प्रमुख मुद्दे बने। 2 जून, 1893 को कॉमन्स सभा (House of Commons) ने परीक्षाओं के भारत और इंग्लैंड में एक साथ आयोजित कराने का प्रस्ताव पारित किया, परंतु यह प्रस्ताव कोई प्रभाव नहीं छोड़ सका।
- मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड रिपोर्ट, 1919 (Montagu-Chelmsford Report, 1919) ने परीक्षाएँ एक साथ आयोजित करने की

Copyright – Drishti The Vision Foundation

सिफारिश की। भारतीय लोक सेवा के एक-तिहाई पदों की भर्ती भारत में की जानी थी, जिनमें 1.5 प्रतिशत वार्षिक वृद्धि की व्यवस्था की गयी थी। भारत सरकार अधिनियम, 1935 (Government of India Act, 1935) ने ली आयोग (Lee Fareham Commission) की अनुशंसा पर एक संघीय लोकसेवा आयोग और प्रांतीय लोकसेवा आयोग की स्थापना हेतु प्रावधान रखे। इन्हें अपने-अपने क्षेत्रों में विभिन्न सेवाओं के लिए नियुक्तियाँ करने का जिम्मा सौंपा गया था। नेहरू समिति, 1928 ने केन्द्र तथा प्रांतों के लिए अलग-अलग लोक सेवाओं का सुझाव दिया। गोलमेज सम्मेलन, 1930-31 में पूरे मुद्दे की जाँच के लिए एक उप-समिति का गठन किया गया।

- ली कमीशन के सुझावों के आधार पर भारत सरकार अधिनियम, 1935 के अंतर्गत संघीय लोकसेवा आयोग (Union Public Service Commission) का निर्माण किया गया।

सन् 1946 में जब कांग्रेस अंतरिम सरकार में शामिल हुई तब यही स्थिति थी। तत्पश्चात् 1947 के बाद स्वतंत्र भारत ने उसी व्यवस्था को अपनाया जिस रूप में इसे प्रांतों और केन्द्र में अक्टूबर 1946 के पहले लागू किया गया था। इसमें दो अखिल भारतीय सेवाओं– भारतीय प्रशासनिक अधिकारी (I.A.S) और भारतीय पुलिस सेवा (I.P.S) का निर्माण किया गया तथा भारतीय संविधान की धारा 312 के अधीन इन्हें वैधानिक दर्जा भी प्रदान किया गया। कल्याणकारी प्रजातंत्रात्मक सरकार की परिकल्पना के साथ ही इन लोक सेवाओं को विकास, प्रशासन आदि वे कार्य सौंप दिए गए जो कि प्रांतों और केन्द्र सरकारों द्वारा आरंभ किए गए थे। इस प्रकार, विभिन्न कल्याण और विकास संबंधी कार्यक्रमों को कार्यान्वित करने में लोक सेवाएँ प्रमुख यंत्र बन गयीं।

न्याय-प्रशासन का विकास *(Development of Justice Administration)*

भारत में ब्रिटिश शासन के पदार्पण से पूर्व अर्थात् उत्तरवर्ती मुगलकाल में शासन के ह्रास से न्याय-व्यवस्था भी बुरी तरह प्रभावित हुई थी। बंगाल में द्वैध-शासन (Diarchy) के समय न्याय-व्यवस्था की स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गई थी। न्याय की जिम्मेदारी अब नवाब पर थी जो कि व्यवस्था स्थापित करने में सक्षम नहीं था। दूसरी ओर, कंपनी स्वयं को भू-राजस्व (Land Revenue) से संबंधित न्याय के मामलों तक ही समेटे हुए थी। दरअसल, सन् 1772 से पूर्व कंपनी सरकार ने न तो न्याय-व्यवस्था की तरफ ध्यान ही दिया और न ही उसे सुधारने का प्रयत्न किया। इसी वर्ष वारेन हेस्टिंग्स द्वारा द्वैध-शासन की समाप्ति के बाद न्याय-प्रशासन (Justice Administration) को संगठित रूप देने की दिशा में कदम उठाए गए।

ब्रिटिश भारत में गठित अन्य महत्वपूर्ण आयोग

आयोग	वर्ष	गवर्नर जनरल
• फ्रेजर आयोग (पुलिस सुधार)	1902	लार्ड कर्जन
• हंटर आयोग (पंजाब अशांति)	1919	लार्ड चेम्सफोर्ड
• बटलर आयोग (भारतीय रियासतों के साथ संबंध पर)	1927	लार्ड इर्विन
• हिटले आयोग (श्रम)	1929	लार्ड इर्विन
• सप्रू आयोग (बेरोजगारी)	1935	लार्ड विलिंगटन
• हैमण्ड आयोग (श्रमिक प्रतिनिधियों को सामान्य सभा में लाने हेतु कुछ निर्वाचन क्षेत्रों की व्यवस्था)	1935	लार्ड विलिंगटन

वारेन हेस्टिंग्स *(Warren Hastings)*

बंगाल का संपूर्ण शासन अपने हाथ में ले लिये जाने के पश्चात् सन् 1772 में कंपनी सरकार के लिए आवश्यक हो गया था कि वह न्याय-व्यवस्था की ओर भी ध्यान दे। इस संदर्भ में वारेन हेस्टिंग्स ने एक प्रकार से भारत की न्याय-व्यवस्था को नए सिरे से स्थापित करने का प्रयास शुरू किया। न्याय-व्यवस्था को पुनर्गठित करते समय हेस्टिंग्स इस बात को भली-भाँति जानता था कि पश्चिम की न्याय-व्यवस्था को बंगाल में एक दम से लागू करना संभव नहीं है। अतः उसने मुगलकालीन न्याय-व्यवस्था को ही नए सिरे से गठित करने का प्रयास किया। उपर्युक्त व्यवस्था में, दस रुपए से कम के दीवानी मामले गाँव के मुखिया द्वारा सुने जा सकते थे और 500 रुपए तक के मामलों का निर्णय कलक्टर की अध्यक्षता वाली जिला दीवानी अदालत कर सकती थी। इसके निर्णयों के विरुद्ध अपील के लिए कलकत्ता में सदर दीवानी अदालत की स्थापना की गई, जिसका अध्यक्ष बंगाल का गवर्नर होता था।

वारेन हेस्टिंग्स की न्याय-व्यवस्था में फौजदारी मामलों की सुनवाई के लिए प्रत्येक जिले में फौजदारी अदालत की व्यवस्था की गई, जिसका अध्यक्ष काज़ी होता था जो दो मुफ्तियों की सहायता से न्याय करता था। जिला न्यायालय के निर्णयों के विरुद्ध अपील मुर्शिदाबाद स्थित 'सदर निजामत अदालत' में की जाती थी। इस अदालत का अध्यक्ष नायब नाज़िम होता था।

Copyright – Drishti The Vision

अदालती कार्यवाही का लिखित रिकॉर्ड रखने की परंपरा की शुरूआत वारेन हेस्टिंग्स द्वारा की गई। न्याय करने के लिए उसने हिन्दू एवं मुसलमानों के सर्वमान्य व प्रचलित कानूनों को बांग्ला एवं फारसी में संहिताबद्ध (Codify) करवाया। फौजदारी मामलों की सुनवाई केवल मुस्लिम कानूनों के आधार पर ही होती थी। वारेन हेस्टिंग्स के शासनकाल में ही रेग्युलेटिंग एक्ट, 1773 (Regulating Act, 1773) द्वारा कलकत्ता में एक सुप्रीम कोर्ट की स्थापना की गई। इससे बंगाल में न्याय की दोहरी व्यवस्था लागू हुई। इसका परिणाम यह हुआ कि सुप्रीम कोर्ट और सदर अदालतों के बीच क्षेत्राधिकार को लेकर टकराव होने लगा।

लॉर्ड कार्नवालिस *(Lord Cornwallis)*

लॉर्ड कार्नवालिस ने न्यायिक क्षेत्र में वारेन हेस्टिंग्स के कार्य को आगे बढ़ाते हुए दीवानी न्याय के ढाँचे का पुनर्गठन किया। अपने कार्यकाल (1786-93) में उसने प्रत्येक जिले के मुख्य कस्बे में रजिस्ट्रार, अमीन व मुंसिफ की अदालतों का गठन किया। इनके ऊपर जिला मजिस्ट्रेट की अध्यक्षता वाली जिला अदालत थी जिसके निर्णयों के विरुद्ध अपील के लिए कलकत्ता, ढाका, मुर्शिदाबाद और पटना में प्रांतीय अदालतें स्थापित की गईं। प्रांतीय अदालतों के ऊपर गवर्नर जनरल की अध्यक्षता में सदर दीवानी अदालत थी, जिसके निर्णयों के विरुद्ध अपील लंदन स्थित प्रिवी काउंसिल (Privy Council) में की जा सकती थी।

कार्नवालिस ने फौजदारी न्यायालयों का भी पुनर्गठन किया और उसने जिला फौजदारी न्यायालय को समाप्त कर चार भ्रमणशील न्यायालयों (Circuit Courts) की स्थापना की। दो अंग्रेज न्यायाधीशों वाले इस न्यायालय के लिए आवश्यक था कि वह वर्ष में दो बार आंतरिक प्रदेशों का दौरा करके न्याय संबंधी कार्य करे। इसके अलावा, सदर फौजदारी अदालत को मुर्शिदाबाद से कलकत्ता लाया गया। फौजदारी कानूनी सिद्धांतों में भी कार्नवालिस ने महत्वपूर्ण परिवर्तन किए। फौजदारी न्याय की प्रक्रिया और सिद्धांतों में परिवर्तन करते हुए हत्या के मामले में 'रक्त मूल्य का सिद्धांत' समाप्त कर दिया गया, अर्थात् अब मृतक के अभिभावक दोषी को क्षमा नहीं कर सकते थे। धर्म-विशेष के मामलों की सुनवाई में साक्षी (Witness) का महत्व नहीं रह गया था तथा किसी मुस्लिम की हत्या के मामले में अन्य धर्म को मानने वालों का साक्ष्य भी अब मान्य होगा। इसके अतिरिक्त हत्या के मामले में प्रयुक्त अस्त्र या शस्त्र को बजाय हत्यारे के उद्देश्य को ध्यान में रखने का नियम बनाया गया और क्रूरता के प्रतीक अंगभंग के दंड (Punishment of Mutilation) पर भी प्रतिबंध लगा दिया। कार्नवालिस ने कानून को संहिताबद्ध किया। वादी से अदालत द्वारा फीस लिए जाने का नियम भी कार्नवालिस ने लागू करवाया।

न्याय-व्यवस्था को अधिक व्यवस्थित करने के साथ ही कार्नवालिस ने उसका पाश्चात्यीकरण भी किया। जहाँ तक संभव हुआ उसने भारतीयों को न्याय के पदों से अलग कर अंग्रेज न्यायाधीशों को न्याय की जिम्मेदारी सौंपी। इस तरह कार्नवालिस की व्यवस्था में न्याय तार्किक और आधुनिक तो हुआ परंतु यह न्याय महँगा और धीमा भी हो गया। अब मुकदमेबाजी बढ़ गई और कानून एवं न्यायिक प्रक्रिया की जटिलता ने यह जरूरी कर दिया कि अपने मामले को सही ढंग से रखने के लिए अथवा अपना बचाव करने के लिए वादी एवं प्रतिवादी दोनों द्वारा कानूनी दाँव-पेंच के जानकारों अर्थात् वकीलों की सहायता ली जाए।

लॉर्ड वेलेजली *(Lord Wellesley)*

लॉर्ड वेलेजली के शासनकाल में लॉर्ड कार्नवालिस द्वारा स्थापित न्याय-व्यवस्था में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन किए गए। समय का अभाव होने के कारण गवर्नर जनरल और उसकी परिषद सदर अदालतों के अध्यक्ष के रूप में अपने कार्य को प्रभावी ढंग से नहीं कर पा रहे थे। अत: उन्हें कार्य से मुक्त कर दिया गया तथा सदर दीवानी व सदर निजामत अदालत के लिए तीन सवैतनिक न्यायाधीश नियुक्त किए गए। निचले स्तर पर अदालतों के बढ़ते कार्यभार को कम करने के लिए 50 से 100 रुपए तक के मामले की सुनवाई हेतु 'सदर अमीन की अदालत' गठित की गई और इसमें भारतीय न्यायाधीशों की नियुक्ति की गई क्योंकि अंग्रेज न्यायाधीश महँगे पड़ते थे। कलक्टर को दंडनायक के रूप में कार्य करने का अधिकार दे दिया गया। इस व्यवस्था में निचले स्तर पर मुकदमों की शीघ्र सुनवाई के उद्देश्य से मद्रास तथा बंबई में ग्राम-सभाओं को भी न्याय का सीमित अधिकार मिल गया।

लॉर्ड विलियम बैंटिक *(Lord William Bentinck)*

लॉर्ड वेलेजली तथा लॉर्ड हेस्टिंग्स के समय हुए परिवर्तनों के बावजूद विलियम बैंटिक के शासनकाल (1833-1835) तक न्याय-प्रशासन का मूलाधार कार्नवालिस द्वारा स्थापित व्यवस्था ही रही। जेम्स मिल के अनुसार, इस व्यवस्था में तीन बड़े दोष थे- पहला, न्यायपालिका के अधिकारों का असीमित तथा निरंकुश होना; दूसरा, व्यक्ति के अधिकारों की कोई निश्चित परिभाषा का न होना; तथा तीसरा, अधिकतर कानूनों का अलिखित रूप में होना।

विलियम बैंटिक को जिस समय भारत भेजा गया उस समय सन् 1803 के चार्टर की अवधि समाप्त होने को थी। नया चार्टर प्राप्त करने के लिए कंपनी के डायरेक्टर भारत में अपनी उपलब्धियों का बेहतर रिकॉर्ड पेश करना चाहते थे। अत: उनके निर्देश पर विलियम बैंटिक को सुधारों का व्यापक कार्यक्रम लागू करना पड़ा, जिसमें इसमें न्याय-प्रशासन का सुधार भी सम्मिलित था। न्याय

Copyright – Drishti The Vision Foundation

के क्षेत्र में विलियम बैंटिक द्वारा किया गया एक मुख्य सुधार था– अपील तथा भ्रमण की चार अदालतों को समाप्त करना। इन अदालतों के न्यायिक कार्य मजिस्ट्रेट तथा कलक्टर को सौंप दिए गए। मजिस्ट्रेट उन मुकदमों को सुनता था जिनमें तीन वर्ष तक के कारावास का दण्ड दिया जा सकता हो। 14 वर्ष तक के दंड के मामले सेशन जज (Session Judge) के सामने जाते थे। इनसे अधिक गंभीर मामलों की सुनवाई सदर जज (Sadar Judge) करता था। मृत्युदंड अब दो न्यायाधीशों की बेंच द्वारा सुनवाई के बाद ही दिया जा सकता था।

विलियम बैंटिक के समय में इलाहाबाद में सदर दीवानी तथा सदर निजामत अदालत की स्थापना की गई। एक विधि आयोग (Law Commission) की स्थापना लॉर्ड मैकाले की अध्यक्षता में की गई। इस आयोग द्वारा कानून को संहिताबद्ध करने का महत्वपूर्ण कार्य किया गया। मैकाले ने दंड-संहिता में सुधार किया और उसे अधिक सरल तथा उपयोगी बनाया। इस व्यवस्था में दंड की कठोरता में भी कमी की गई। छोटी अदालतों में स्थानीय भाषा के प्रयोग की अनुमति मिल गई जबकि बड़ी अदालतों का कामकाज अब भी अंग्रेज़ी भाषा में ही किया जाता था।

न्याय-व्यवस्था में सुधार हेतु कंपनी के शासनकाल में अंतिम कदम चार्टर एक्ट, 1853 के समय उठाया गया। इस समय दूसरे विधि आयोग की नियुक्ति की गई जिसकी सिफारिशों के आधार पर सन् 1859-61 के मध्य दंड विधि, सिविल प्रक्रिया विधि तथा दंड प्रक्रिया विधि आदि संहिताओं को पारित किया गया।

अंग्रेज़ों की विदेश नीति *(British Foreign Policy)*

अपनी साम्राज्यवादी नीति के तहत अंग्रेज़ों ने 1818 ई॰ तक पंजाब और सिंध को छोड़कर लगभग संपूर्ण भारत को जीत लिया था। भारत में साम्राज्य स्थापना के बाद अंग्रेज़ों ने दोहरी नीति अपनाई जिसका उद्देश्य एक ओर उन्नत प्रशासनिक व्यवस्था स्थापित करना था तो दूसरी ओर जीते गए प्रदेशों की सीमाओं को सुरक्षित रखना। ब्रिटिश शासन के अधीन भारत की विदेश नीति को प्रायः साम्राज्यवादी नीति (Imperialist Policy) भी कहा जाता है, क्योंकि इसको ब्रिटिश साम्राज्य के हितों को ध्यान में रखकर ही निर्धारित किया जाता था। यद्यपि उक्त ब्रिटिश विदेश नीति काफी हद तक स्वतंत्र थी। इसके समर्थन में कई तर्क दिए जा सकते हैं, जैसे–

- अंग्रेज़ी राज की जड़ें जमते ही भारत में अफ़गानिस्तान एवं ईरान से होने वाले आक्रमण तथा सीमांत कबीलों की लूटपाट रुक गई।
- ब्रिटिश साम्राज्य की विदेश नीति के निर्धारण में भारत की महत्वपूर्ण भूमिका थी क्योंकि वह ब्रिटिश साम्राज्य का एक बड़ा एवं महत्वपूर्ण घटक था।
- चूँकि भारत और इंग्लैंड के बीच काफी दूरी थी, अतः ब्रिटिश सरकार को भारत की विदेश-नीति के निर्धारण में अपने विवेक से कार्य करने तथा कुछ सीमा तक स्वतंत्र निर्णय लेने का अधिकार था।
- कुछ क्षेत्रों में अंग्रेज़ों के साम्राज्यवादी हित भारत के हितों से मेल खाते थे। ये क्षेत्र थे– रूस, ईरान तथा चीन से लगे इलाके।

उपर्युक्त सशक्त तर्कों के बावजूद अंतिम सत्य यही था कि भारत इंग्लैंड का उपनिवेश था। अतः ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विश्वव्यापी हितों का पोषण ही भारत की राजनीतिक गतिविधियों का अंतिम उद्देश्य था।

यदि भारतीय विदेश नीति के विकास का अध्ययन किया जाए तो उसका आरंभ हम तब से मान सकते हैं, जब ब्रिटिश ईस्ट इंडिया कंपनी द्वारा देशी राज्यों के साथ राजनीतिक संबंध स्थापित किये गये, जबकि 1818 ई. को भारतीय विदेश नीति की शुरूआत के द्वितीय समयकाल (Time-Period) के रूप में देखा जा सकता है क्योंकि इस दौरान अंग्रेज़ी राज की सुदृढ़ता के युग की शुरूआत हुई। यदि अंतर्राष्ट्रीय कानून के दृष्टिकोण से देखा जाए तो सन् 1858 को भारतीय विदेश नीति का आरंभिक समय माना जाएगा क्योंकि इसी समय भारत पर शासन का औपचारिक अधिकार ईस्ट इंडिया कंपनी से ब्रिटिश महारानी के हाथ आ गया था।

आंग्ल-नेपाल संबंध *(Anglo-Nepal Relations)*

अंग्रेज़ नेपाल के संपर्क में बंगाल के नवाब मीर कासिम के समय ही आ गए थे। इसी दौरान एक व्यापारिक अंग्रेज़ रेजीडेंट द्वारा नेपाल के विरुद्ध की गई कार्रवाई असफल रही। दोनों के मध्य एक व्यापारिक संधि हुई, परंतु इसका कोई विशेष लाभ नहीं हो पाया। इसके बाद नेपाल की शक्ति में लगातार वृद्धि होती रही। लॉर्ड हेस्टिंग्स (Lord Hastings) के आगमन तक नेपाल एक विस्तृत और शक्तिशाली राज्य बन चुका था। इसके उत्तर में चीन का विशाल साम्राज्य स्थापित था, जिस ओर अंग्रेज़ विस्तार नहीं कर सकते थे। अतः उन्होंने अपने साम्राज्य का विस्तार दक्षिण में बंगाल और अवध की ओर करना आरम्भ कर दिया। दूसरी ओर, बंगाल और अवध में अंग्रेज़ स्वयं अपनी शक्ति और साम्राज्य का विस्तार कर रहे थे। जब अंग्रेज़ों ने 1801 ई॰ में गोरखपुर जिले पर अपना अधिकार कर लिया तो अंग्रेज़ी राज्य की सीमाएँ नेपाल से मिलने लगीं। अतः हिमालय की तराई के विभिन्न जिलों को

Copyright – Drishti The Vision Foundation

लेकर दोनों ही पक्ष अपना-अपना दावा पेश करने लगे। इनके बीच 1814 ई॰ में उस समय झगड़ा शुरू हो गया जब नेपालियों ने बस्ती जिले के उत्तर में शिवराज और बुटवाल पर कब्जा कर लिया। शीघ्र ही अंग्रेज़ों ने दोनों जिलों पर फिर से अधिकार कर लिया। इससे दोनों शक्तियों के बीच लड़ाई छिड़ गई।

सुगौली की संधि और उसका महत्व *(Sugauli Treaty and Its Significance)*

एक सैन्य शक्ति के रूप में नेपाली अंग्रेज़ों के समक्ष टिक नहीं सके और उन्हें 1816 ई॰ में सुगौली की संधि करनी पड़ी। इस संधि से अंग्रेज़ों को कुमायूँ और गढ़वाल का विस्तृत क्षेत्र प्राप्त हो गया। नेपालियों ने सिक्किम पर अपना दावा छोड़ दिया और काठमाण्डू में एक अंग्रेज़ रेजीडेंट रखना स्वीकार कर लिया। इस संधि से उत्तरी सीमा का विवाद तो हमेशा के लिए समाप्त हो ही गया, साथ ही नेपालियों के रूप में अंग्रेज़ों को एक विश्वस्त सहयोगी प्राप्त हुआ। अंग्रेज़ों को सदैव यहाँ से कट्टर, लड़ाकू और बहादुर गोरखा सैनिक प्राप्त होते रहे। 1857 ई॰ के विद्रोह के समय भी ये अंग्रेज़ों के राजभक्त बने रहे। इन्होंने अंग्रेज़ी साम्राज्य के प्रसार में भी अपना योगदान दिया।

अंग्रेज़ों ने नेपाली शासकों से संधि हो जाने के पश्चात् संबंध बनाये रखने में बड़ी चलाकी और कुशलता से काम लिया। वे नेपाली शासकों को प्रभु (Sovereign) का दर्जा देते थे तथा उन्हें योर मैजेस्टी (Your Majesty) कहकर संबोधित करते थे। भारत की सुरक्षा के लिए नेपाल अंग्रेज़ी साम्राज्य और तिब्बत व चीन के मध्य बफर राज्य (Buffer State) की भूमिका निभाता रहा। इसके अलावा, नेपाल ने ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध किसी भी भावना को समर्थन नहीं दिया जैसा कि अफगानिस्तान करता था। इसी कारण अंग्रेज़ अपनी उत्तरी सीमा के प्रति आश्वस्त रहे, जबकि उत्तरी-पश्चिमी सीमा की समस्या उन्हें निरंतर परेशान करती रही। जहाँ तक विदेश नीति का संबंध है तो बिना किसी औपचारिक शर्त के नेपाल सरकार ने अपनी विदेश नीति को अंग्रेज़ों के हितों के अनुकूल ढाल लिया। गौरतलब है कि ब्रिटिश राजनयिक शिष्टमंडल के अतिरिक्त किसी अन्य शिष्टमंडल को नेपाल में प्रवेश करने की इजाजत नहीं थी।

आंग्ल-बर्मा संबंध *(Anglo Burma Relations)*

अंग्रेज़ों को बर्मा से 18वीं सदी के पूर्वार्ध तक किसी प्रकार का भय नहीं था, किंतु इसी सदी के उत्तरार्ध में जब बर्मा के राजा ने साम्राज्यवादी नीति अपनाना आरंभ कर दिया तो दोनों के बीच संघर्ष अवश्यम्भावी हो गया।

प्रथम आंग्ल-बर्मा युद्ध (1824-26) *[First Anglo-Burmese War (1824-26)]*

जब तेन्नसरिम, अराकान और मणिपुर को बर्मा के राजा ने जीत लिया तो उसके राज्य की सीमाएँ ब्रिटिश सीमाओं से मिल गईं। इसी दौरान बर्मा के राजा ने अंग्रेज़ों से उन व्यक्तियों को सौंपने की माँग की जो बर्मा से भागकर अंग्रेज़ों की शरण में चले गए थे। अंग्रेज़ों के मना करने पर दोनों के बीच संबंधों में भयंकर कटुता उत्पन्न हो गई। आखिरकार जब बर्मा के राजा ने चटगाँव स्थित शाहीपुर द्वीप पर अधिकार कर लिया तो युद्ध प्रारंभ हो गया। इस युद्ध में बर्मा की हार हुई। तत्पश्चात् 1826 ई॰ में दोनों के मध्य यांडबू की संधि हुई।

यांडबू की संधि *(Yandaboo Treaty)*

यांडबू संधि से बर्मा ने अराकान एवं तेनासरिम के प्रदेश अंग्रेज़ों को दे दिए। साथ ही, उन्हें युद्ध दंड के रूप में एक करोड़ पाउण्ड देने पड़े। बर्मी सरकार ने असम, कछार और जयंतिया में किसी भी प्रकार का हस्तक्षेप न करना स्वीकार किया। उन्हें मणिपुर राज्य की स्वतंत्रता भी स्वीकार करनी पड़ी। बर्मा ने रंगून में एक अंग्रेज़ रेजीडेंट एवं अंग्रेज़ों ने कलकत्ता में एक बर्मी दूत रखना स्वीकार किया।

इस संधि के चलते बर्मा के निचले तट पर अंग्रेज़ों का अधिकार हो गया। इससे अंग्रेज़ों के साम्राज्य और प्रभाव में काफी वृद्धि हुई। बर्मा के विरुद्ध मिली अपार सफलता के कारण लॉर्ड एमहर्स्ट (Lord Amherst) को अर्ल ऑफ अराकान (Earl of Arakan) की उपाधि से अलंकृत किया गया।

द्वितीय आंग्ल-बर्मा युद्ध, 1852-53 *(Second Anglo-Burmese War, 1852-53)*

शीघ्र ही यांडबू की संधि अस्थायी सिद्ध हो गई। इसका मुख्य कारण था--बर्मा में बसने वाले अंग्रेज़ व्यापारियों द्वारा बर्मी कानूनों का उल्लंघन किया जाना। साथ ही, बर्मी सरकार भी संधि की शर्तों को मानने में आनाकानी कर रही थी। नए राजा थारावादी ने यह कहकर यांडबू की संधि को मानने से मना कर दिया कि 'यह संधि मेरे भाई से की गई थी, मुझसे नहीं। अब अगर अंग्रेज़ व्यापारियों ने कानून का उल्लंघन किया तो बर्मी सरकार द्वारा उन्हें दंडित किया जाएगा।'

राजा थारावादी की घोषणा से घबराकर अंग्रेज़ व्यापारियों ने बर्मा सरकार की लॉर्ड डलहौजी से शिकायत की। डलहौजी ने इस मुद्दे पर तुरंत तत्परता दिखाई और कमोडोर लैम्बर्ट (Commodore Lambert) के नेतृत्व में तीन युद्धपोत रंगून भेजे और बर्मी सरकार से क्षतिपूर्ति की माँग की। उसे क्षतिपूर्ति न किये जाने पर दोनों पक्षों में युद्ध छिड़ गया जिसमें बर्मा की एक बार फिर हार हुई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

अंग्रेज़ों ने अक्टूबर 1852 तक संपूर्ण निचले बर्मा पर अधिकार कर लिया। ऊपरी बर्मा पर अधिकार करने की डलहौजी की इच्छा नहीं थी क्योंकि इस क्षेत्र को हस्तांतरित करने से उसे कोई लाभ मिलने वाला नहीं था। इसलिए उसने इस क्षेत्र को यथास्थिति बनाये रखा। स्थिति को दृष्टिगत रखते हुए दोनों पक्षों के बीच संधि के लिए बातचीत शुरू हुई, लेकिन बर्मी सरकार ने संधि को मानने से इंकार कर दिया। अत: डलहौजी ने संधि किए बिना ही एक घोषणा द्वारा पेगू अर्थात् संपूर्ण निचले बर्मा को अंग्रेज़ी साम्राज्य में शामिल कर लिया।

तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध, 1885-86 *(Third Anglo-Burmese War, 1885-86)*

कालांतर में जब अंग्रेज़ विभिन्न संधियों द्वारा अपने अधिकार में वृद्धि करने लगे तो एक बार फिर दोनों शक्तियों के बीच युद्ध की पृष्ठभूमि तैयार हो गयी। बर्मा और फ्रांस के बीच एक व्यापारिक संधि हुई और यह भी तय हुआ कि फ्रांसीसी अधिकारी बर्मा के सैनिकों को प्रशिक्षित करेंगे।

तत्पश्चात् बर्मा और इटली के बीच एक संधि हुई जिसमें इटली ने बर्मा को हथियार देना स्वीकार कर लिया। साथ ही, बर्मी राजा ने रूस और फारस में शिष्टमंडल भेजने का प्रयास किया। उसने इंग्लैंड के साथ सीधे राजनीतिक संबंध स्थापित करने का भी विफल प्रयास किया। वास्तव में ये सभी प्रयास बर्मा के राजा ने अपनी सुरक्षा की खातिर ही किए थे। कुल मिलाकर वह असफल ही रहा।

दरअसल, बंबई-बर्मा व्यापारिक कॉर्पोरेशन के झगड़े के कारण तृतीय आंग्ल-बर्मा युद्ध का आरंभ हुआ। इस झगड़े का मुख्य कारण कंपनी द्वारा टैक्स की चोरी किया जाना था। सैन्य अभियान के द्वारा मात्र दो महीने के भीतर ही अंग्रेज़ों ने बर्मा को जीत लिया। एक घोषणा द्वारा (1866 ई०) बर्मा के संपूर्ण राज्य को अंग्रेज़ी साम्राज्य में शामिल कर लिया गया। तत्पश्चात् अंग्रेज़ों की कुटिल नीतियों के चलते 1935 ई० से बर्मा भारत का अंग नहीं रहा।

आंग्ल-अफगान संबंध *(Anglo-Afghan Relations)*

लॉर्ड आकलैंड (1836 ई०-1842 ई०) के भारत का गवर्नर जनरल बनकर आने के समय ब्रिटेन और रूस के संबंध अच्छे नहीं थे। अंग्रेज़ों को भय था कि कहीं रूस भारत पर आक्रमण न कर दे। अंग्रेज़ों ने तुर्की की ओर रूस की प्रगति में रुकावट डाली थी, अत: रूस ने भी फारस और अफगानिस्तान की ओर अपना दबाव बढ़ा दिया। ऐसी स्थिति में अंग्रेज़ों की रूसी चिंता प्रासंगिक हो गयी। उन्होंने भी अफगानिस्तान में अपना प्रभाव बढ़ाने की नीति अपना ली। अंग्रेज़ों ने यहां के शासक दोस्त मोहम्मद के सामने रूसी आक्रमण का भय दिखाकर संधि करने का प्रस्ताव रखा। दोस्त मोहम्मद भी अंग्रेज़ों से दोस्ती करना चाहता था। अत: उसने इस शर्त पर संधि करने की इच्छा व्यक्त की कि उसे पेशावर दे दिया जाए। मगर अंग्रेज़ इसके लिए तैयार नहीं हुए, जिसके परिणामस्वरूप दोस्त मोहम्मद का झुकाव रूस की ओर हो गया और शीघ्र ही रूस और अफगानिस्तान ने आपस में संधि कर ली।

लॉर्ड ऑकलैंड द्वारा भेजे गए बर्न्स प्रतिनिधिमंडल के असफल होकर वापस लौट आने पर उसने दोस्त मोहम्मद के प्रतिनिधि शाहशुजा को अफगानिस्तान का शासक बनाने का फैसला कर लिया। इसके लिए रणजीत सिंह, शाहशुजा और अंग्रेज़ों के बीच जून 1838 ई० में एक त्रिदलीय संधि (Tri-Party Agreement) हुई इसके कुछ समय बाद ही लॉर्ड ऑकलैंड ने अफगानिस्तान के खिलाफ युद्ध का ऐलान कर दिया।

प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध (1838-42) *[First Anglo-Afghan War (1838-42)]*

प्रथम आंग्ल-अफगान युद्ध जो लगभग चार वर्षों तक चला, से अंग्रेज़ों को कोई फायदा नहीं हुआ। अपनी सैन्य शक्ति के बल पर अंग्रेज़ों ने शाहशुजा को अफगानिस्तान का शासक बना दिया। शाहशुजा अफगानिस्तान की जनता में लोकप्रिय नहीं था, अत: दोस्त मोहम्मद के पुत्र अकबर खाँ के नेतृत्व में बगावत हो गई। जिसमें शाहशुजा मारा गया। इस प्रकार अंग्रेज़ों का कोई मनसूबा पूरा नहीं हो सका।

द्वितीय आंग्ल-अफगान युद्ध (1878-80) *[Second Anglo-Afghan War (1878-80)]*

लॉर्ड लिटन (Lord Lytton) उग्र नीति का समर्थक था। अत: वायसराय बनकर आने पर उसने अपने पूर्वगामी वायसरायों की कुशल अकर्मण्यता की नीति नहीं अपनाई। कार्यभार संभालते ही उसने अफगानिस्तान के अमीर शेर अली से काबुल में एक अंग्रेज़ रेजीडेंट रखने के लिए कहा। चूँकि शेर अली को यह आशंका थी कि अंग्रेज़ी रेजीडेंसी अफगानिस्तान पर अंग्रेज़ी अधिकार की पृष्ठभूमि तैयार कर सकती है, अत: उसने अंग्रेज़ रेजीडेंट रखने से साफ मना कर दिया। इस पर लॉर्ड लिटन ने शेर अली को चेतावनी दी कि यदि उसने अंग्रेज़ों की बजाय रूस से मित्रता की तो उसके घातक परिणाम होंगे, परंतु शेर अली ने इस धमकी पर ध्यान

Copyright – Drishti The Vision Foundation

न देकर रूस से संधि कर ली और काबुल में रूसी रेजीडेंट रखना स्वीकार कर लिया। इसके परिणामस्वरूप कुछ समय बाद दोनों पक्षों में युद्ध शुरू हो गया। हारने पर शेर अली काबुल छोड़कर भाग गया और अंग्रेज़ों ने उसके पुत्र याकूब खाँ से संधि कर ली, जिसे गंडमक की संधि (Gandamak Treaty) के नाम से जाना जाता है।

गंडमक की संधि (2 मई 1879) अधिक समय तक कारगर नहीं रही और सितंबर, 1879 को काबुल में ब्रिटिश रेजीडेंट मेजर केवेगनरी की हत्या कर दी गई। अंग्रेज़ी सेना पुनः अफगानिस्तान में घुस गई तथा उसने काबुल और कंधार को फिर से जीत लिया। पदच्युत याकूब खाँ को बंदी बनाकर देहरादून भेज दिया गया। दूसरी ओर, ब्रिटेन में अप्रैल 1880 ई॰ में ग्लैडस्टन ने उदारवादी दल की सरकार बनाई। लॉर्ड लिटन ने इस्तीफा दे दिया और लॉर्ड रिपन (Lord Ripon) को भारत का गवर्नर जनरल बनाया गया। इसी बीच शेर अली का भतीजा अब्दुर्रहमान काबुल पहुँच गया। उसे लॉर्ड रिपन द्वारा काबुल का अमीर स्वीकार कर लिया गया।

तृतीय आंग्ल-अफगान युद्ध, 1919 *(Third Anglo-Afghan War, 1919)*

अब्दुर्रहमान की मृत्यु के बाद जब उसका पुत्र हबीबुल्ला अफगानिस्तान का अमीर बना तो उसने अंग्रेज़ों से मित्रता रखी और अपने पिता की नीति का ही अनुसरण किया। वह पाश्चात्य देशों की भाँति अफगानिस्तान का संघटन करना चाहता था, परंतु कट्टरपंथी अफगानी उसके विरोधी थे। अतः उन्होंने 20 फरवरी, 1919 को हबीबुल्ला की निर्मम हत्या कर दी। इसके बाद उसका पुत्र अमानुल्ला अफगानिस्तान की गद्दी पर बैठा। वह अपने पिता तथा दादा की नीतियों का प्रबल विरोधी था और अफगानिस्तान को अंग्रेज़ों के प्रभाव से मुक्त रखना चाहता था। इसी गतिरोध के चलते सन् 1919 में तृतीय आंग्ल-अफगान युद्ध हुआ।

बहरहाल, अमानुल्ला ब्रिटिश शक्ति का सामना नहीं कर सका और 10 दिनों में ही अफगान पराजित हो गए। अतः मजबूर होकर अफगानी अमीर ने अंग्रेज़ों से संधि कर ली। इस संधि के द्वारा अमीर को अब [illegible] आर्थिक सहायता बंद कर दी गई, किंतु अमीर की स्वतंत्रता यथावत स्वीकारी गई। इसके साथ ही अफगानिस्तान की विदेश नीति पर अंग्रेज़ों का प्रभाव समाप्त हो गया। दूसरी ओर, अफगानियों ने भी अंग्रेज़ों के लिए अब समस्याएं पैदा करना छोड़ दिया।

आंग्ल-तिब्बत संबंध *(Anglo-Tibet Relations)*

भारत की उत्तर-पूर्वी सीमांत नीति के अंतर्गत अंग्रेज़ों ने तिब्बत से संबंध स्थापित कर वारन हेस्टिंग्स ने व्यापारिक सुविधाएँ प्राप्त करने के लिहाज से अपने कार्यकाल के दौरान 1774-1775 ई॰ में एक शिष्टमंडल तिब्बत भेजा, परंतु उसे कोई विशेष सफलता नहीं मिली। इसके बाद एक लंबे समय तक अंग्रेज़ों और तिब्बत के बीच कोई संपर्क नहीं रहा। लगभग 110 वर्ष के बाद 1887 ई॰ में अंग्रेज़ों ने तिब्बत-सिक्किम राज्य पर हमला किया, लेकिन अंग्रेज़ पुनः तिब्बत में विफल रहे। तत्पश्चात तिब्बत की संप्रभुता पर दावा करने वाले चीन के साथ अंग्रेज़ों की एक संधि हुई जिसके अनुसार व्यापारिक सुविधाओं हेतु एक संयुक्त आयोग का गठन किया गया, किंतु तिब्बत ने इस संधि को मानने से इंकार कर दिया।

कालांतर में लॉर्ड कर्जन ने तिब्बत की ओर विशेष ध्यान दिया। चीन के प्रभुत्व को समाप्त करने के लिए तिब्बतवासी रूस से सहायता प्राप्त करने की कोशिश कर रहे थे। इसी बीच 1901 ई॰ में उसे ज्ञात हुआ कि तिब्बत में रूस और चीन के बीच एक संधि हुई है जिसके अनुसार तिब्बत पर रूस का अधिकार स्थापित हो गया है। अतः 1904 ई॰ में उसने कर्नल यंगहस्बैंड की अध्यक्षता में गोरखा सेना के साथ एक शिष्टमंडल तिब्बत भेजा, जिसके फलस्वरूप मजबूर होकर तिब्बत ने अंग्रेज़ों के साथ ल्हासा की संधि (Lhasa Treaty) की। इस संधि के अनुसार तिब्बत ने 75 लाख रुपए युद्ध क्षतिपूर्ति के रूप में देने स्वीकार किए, किंतु बाद में गृह सरकार के हस्तक्षेप से यह राशि घटाकर 25 लाख कर दी गई। जब अंग्रेज़ों को सिक्किम और भूटान का भू-भाग प्राप्त हुआ तो तिब्बत ने अंग्रेज़ों को यह आश्वासन दिया कि वह किसी भी विदेशी शक्ति को रेल, तार व सड़क आदि बनाने की सुविधाएँ प्रदान नहीं करेगा। इस प्रकार, लॉर्ड कर्जन की नीति तिब्बत में रूस के प्रभाव को रोकने में कारगर साबित हुई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-3

सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलन
(Social, Cultural and Religious Reform Movement)

*** *(इस खंड का उल्लेख मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 2 में है। दृष्टि द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग 2 से है।)*

भारत में सुधार आंदोलनों का उदय *(Emergence of Reform Movements in India)*

ब्रिटिश शासन के दौरान शुरू की गई नयी सामाजिक, आर्थिक एवं प्रशासनिक प्रणाली ने भारतीय समाज के आधारभूत ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन ला दिया। परिणामस्वरूप, पुरातन एवं नई व्यवस्था के संघर्ष ने भारतीय समाज में एक आंतरिक उथल-पुथल को जन्म दिया, जिसकी परिणति सामाजिक सुधार आंदोलनों के रूप में देखने को मिली। भारत में पाश्चात्य शिक्षा (Western Education) का आरंभ भी सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण का एक महत्त्वपूर्ण कारण था। इस सामाजिक-सांस्कृतिक जागरण में पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त व्यक्तियों ने महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। इन लोगों ने पाश्चात्य लोकतंत्र, स्वतंत्रता, समानता एवं न्याय के आधारभूत सिद्धान्तों के साथ-साथ तार्किक, वैज्ञानिक एवं मानवतावादी मूल्यों को भी अपनाया था। इन मूल्यों से प्रभावित होकर इस वर्ग ने तत्कालीन भारतीय समाज की रूढ़ियों और जड़ताओं को खत्म करने का काम किया। उन्होंने अस्पृश्यता, जातिवाद, सामाजिक विषमता, कर्मकांड, अंधविश्वास आदि का विरोध करते हुए नयी शिक्षा के माध्यम से समाज में आधारभूत परिवर्तन लाने का प्रयास किया। उन्नीसवीं सदी में इस सांस्कृतिक जागरण के प्रस्फुटन का एक सूत्र पश्चिमी देशों द्वारा प्रचारित की जा रही अपनी जातीय, भाषायी एवं सांस्कृतिक श्रेष्ठता के विरुद्ध भारतीयों की प्रतिक्रिया के रूप में भी देखा जा सकता है। वास्तव में, यही वह ब्रिटिश दंभ था, जिसने भारतवासियों को पुनः अपने अतीत के गौरवशाली पृष्ठों को पलटने और उनकी पुनर्व्याख्या किए जाने को प्रेरित किया।

उपर्युक्त कारणों के अतिरिक्त कुछ अन्य स्थूल कारणों ने भी सामाजिक-सांस्कृतिक आंदोलनों की पृष्ठभूमि तैयार करने की प्रेरणा दी। उन्नीसवीं सदी में ब्रिटिश शासन की स्थापना होने के बाद हुए तकनीकी परिवर्तनों से भारतीयों के बीच न केवल सामाजिक संपर्क बढ़ने लगा, बल्कि उनके सामाजिक समूहों का पुराना ढाँचा भी विघटित होने लगा। जाति-प्रथा के बंधन अब शिथिल पड़ गए तथा पारंपरिक स्वावलंबी ग्रामीण अर्थव्यवस्था ने अपनी पहचान ही खो दी। इन सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक परिवर्तनों ने भारतीयों के बीच एकता बढ़ायी। आधुनिक तकनीकी परिवर्तनों, जैसे रेल, डाक, तार व अन्य द्रुतगामी संचार माध्यमों के प्रयोग से भारत के विभिन्न प्रदेशों के बीच की दूरियाँ कम हो गईं। इन बदलावों ने सामाजिक समूहों के अंतर्संबंधों को प्रभावित किया और इस प्रकार एक नई जीवंत इकाई का प्रादुर्भाव हुआ। परंपरागत व्यवस्था के लिए यह स्थिति सामाजिक मूल्यों की चुनौती के रूप में सामने आई, जिसके प्रति देश भर में गंभीर प्रतिक्रिया देखी गई। इस स्थिति ने एक बौद्धिक एकता (Intellectual Unity) को प्रोत्साहन दिया। इस तरह भारतीय नवजागरण की चेतना जगाने में पश्चिमी देशों से संपर्क का महत्त्वपूर्ण प्रभाव रहा है। परंतु, गौरतलब है कि इसे उपनिवेशवादी शासन द्वारा प्रारंभ किया गया सुधारात्मक प्रयास नहीं मानना चाहिए। वास्तव में, भारत में पश्चिमी शिक्षा के प्रचार-प्रसार एवं रेल, डाक, तार आदि संचार माध्यमों द्वारा देश भर में संपर्क-सूत्र कायम कर देने का प्रयास अंग्रेजी शासन के प्रशासनिक एवं राजनीतिक हितों को साधने के लिए हुआ, न कि भारतीयों को जागरूक बनाने के लिए।

कुल मिलाकर यह कहा जा सकता है कि व्यापक स्तर पर सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक पुनर्जागरण की प्रक्रिया भारत में अनेक तत्त्वों के समन्वित प्रभाव से ही आरंभ हुई। इसके मूल में उभरता हुआ पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त मध्यवर्ग था। इस वर्ग ने धार्मिक सार्वभौमिकता, मानवतावाद, तर्कवाद एवं विज्ञानवाद को बौद्धिक आधार (Intellectual Base) बनाते हुए सुधार आन्दोलन को एक वैचारिक धरातल प्रदान किया। सामाजिक प्रासंगिकता को तर्कवाद के रूप में मान्यता देते हुए उन्होंने प्रत्येक सामाजिक आचार-विचार एवं व्यवहार को वर्तमान संदर्भ में परखने का प्रयास किया। इस प्रकार, भारत में सामाजिक-सांस्कृतिक पुनर्जागरण पश्चिमी औपनिवेशिक शासन, पश्चिमी उदारवादी विचार एवं शिक्षा, भारतवर्ष के गौरवशाली अतीत की चेतना, पाश्चात्य एवं भारतीय संस्कृति के संघर्ष तथा भारतीयों के अथक प्रयासों के परिणामस्वरूप ही आया।

सामाजिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक सुधार आंदोलनों की प्रकृति
(Nature of Social, Cultural and Religious Reform Movements)

भारत में 19वीं सदी के सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक सुधार आंदोलन वस्तुतः बौद्धिक एवं तार्किक आंदोलन थे। ऐसा इसलिए है कि ये आंदोलन आस्था और कोरी भावुकता के स्थान पर तर्क और बुद्धि पर केंद्रित थे। इन आंदोलनों से जुड़े विचारकों

Copyright – Drishti The Vision Foundation

ने अपनी सामाजिक, धार्मिक और ऐतिहासिक परंपराओं को तर्क की कसौटी पर कसने का काम किया और उनकी तत्कालीन प्रासंगिकता को ही उन्हें स्वीकारने या नकारने का मानदंड बनाया। यही वजह थी कि इन आंदोलनों ने सती-प्रथा और वर्ण-व्यवस्था जैसी अमानवीय व अप्रासंगिक प्रथाओं का निषेध तथा विधवा-विवाह जैसी प्रगतिशील परंपराओं की सराहना की। ये आंदोलन सामाजिक और धार्मिक दोनों ही स्तरों पर सुधार के प्रति वचनबद्ध थे। इनसे जुड़े चिंतकों का मानना था कि धार्मिक संरचना में बदलाव लाए बिना भारतीय सामाजिक संरचना में कोई भी परिवर्तन संभव नहीं है, क्योंकि धर्म भारतीय समाज की रीढ़ है। इसीलिए इन आंदोलनों ने धार्मिक स्तर पर सुधार का प्रयास भी किया। इसी क्रम में उन्होंने धर्म को कर्मकांडों एवं शास्त्रों की जड़ता से मुक्त कर उनकी मानवतावादी एवं उपयोगितावादी व्याख्या प्रस्तुत की। वस्तुतः इन आंदोलनों का उद्देश्य सुधारात्मक परिवर्तन लाना था, न कि संरचनात्मक परिवर्तन लाना। यह कहा जा सकता है कि ये आंदोलन परंपरागत सामाजिक व्यवस्था में कोई नाटकीय परिवर्तन ले आने की बजाय इसमें व्याप्त दोष एवं बुराइयों को दूर किए जाने की दिशा में कार्यरत थे।

ये सभी उपयोगितावादी दृष्टिकोण (Utilitarian Approach) रखने वाले आंदोलन थे। इन्होंने सदा मानव जीवन को सुखमय बनाने की दिशा में प्रयास किया तथा धर्म एवं दर्शन की भी उपयोगितावादी व्याख्या की। इन आंदोलनों ने लोगों में सांसारिकता के प्रति दृष्टिकोण विकसित किया जो कि इनके विचारकों द्वारा ईश्वर, पुनर्जन्म, मोक्ष तथा कर्मफल जैसे अमूर्त विचारों की जगह मानवीय प्रगति एवं विकास के लिए अपनी चिंता व्यक्त किए जाने में प्रकट होता है। एक प्रकार से ये राजनीतिक चेतना से संपन्न आंदोलन भी थे क्योंकि इनके सुधारात्मक प्रयासों में कानून, विधि, प्रशासन एवं राजनीति को प्रभावित करने के प्रयास भी शामिल थे। इसके उदाहरण के रूप में राजा राममोहन राय और डेरोजियो के प्रयासों को देखा जा सकता है। दरअसल, इन आंदोलनों की राजनीतिक चेतना ही इन्हें मध्ययुगीन सुधार आंदोलनों से अलग करती है। इनकी एक महत्त्वपूर्ण बात यह भी थी कि लगभग सभी सुधार आंदोलन किसी-न-किसी धर्म और किसी-न-किसी प्रदेश से जुड़े रहे हैं। उदाहरण के लिए, ब्रह्म समाज (Brahmo Samaj) हिन्दू धर्म और बंगाल से जुड़ा आंदोलन था और अलीगढ़ आंदोलन इस्लाम धर्म से संबद्ध। इन आंदोलनों से जुड़ी संस्थाओं ने शिक्षा, विशेषतः नारी-शिक्षा के प्रचार-प्रसार पर बहुत जोर दिया। वस्तुतः ये संस्थाएं शिक्षा को जागरण और प्रगति का महत्त्वपूर्ण साधन मानती थीं। इसीलिए इन आंदोलनों से जुड़ी लगभग सभी संस्थाओं ने अपने स्कूल और कॉलेज शुरू किए। मुख्य तौर पर मध्यवर्ग से जुड़े होने के कारण ये आंदोलन मध्यवर्गीय सामाजिक चेतना एवं आकांक्षाओं का प्रतिनिधित्व करते थे और सबसे अहम बात यह थी कि ये आंदोलन पूर्णतः मानवतावादी आंदोलन थे। यही कारण था कि इन आंदोलनों ने अनेक प्रकार की सामाजिक विषमताओं का पुरजोर विरोध करते हुए प्रजातंत्र, स्वतंत्रता एवं समानता जैसे मानवीय मूल्यों की जोरदार वकालत की।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों की प्रकृति

- बौद्धिक तथा तार्किक आंदोलन
- सामाजिक एवं धार्मिक स्तर पर सुधार
- समाज का सुधारात्मक परिवर्तन न कि संरचनात्मक
- उपयोगितावादी आंदोलन
- राजनीतिक चेतना का आंदोलन
- धर्मों में आंतरिक सुधार की प्रवृत्ति
- मध्यवर्गीय चरित्र
- क्रांतिवादी दृष्टिकोण अनुपस्थित

सुधार आंदोलनों की प्रवृत्ति *(Trends of Reform Movements)*

उन्नीसवीं शताब्दी के दौरान भारत में हुए सुधार आन्दोलनों में मुख्य रूप से चार प्रवृत्तियाँ देखने को मिलती हैं। ये प्रवृत्तियाँ इस प्रकार हैं–

1. **आंतरिक सुधार :** इस प्रवृत्ति के प्रवर्तकों का मानना था कि कोई भी सुधार तभी प्रभावी होता है जब वह समाज के भीतर से निकलकर आया हो। इस प्रवृत्ति के अनुयायियों का मुख्य प्रयास रहा– लोगों में जागरूकता लाना। खासतौर पर राजा राममोहन राय द्वारा चलाए गए अभियान का प्रभाव शताब्दी भर बना रहा। उनके अनुसार, वेदांत दर्शन तर्क सिद्धांत पर आधारित है। वे स्वयं न तो भारत के अतीतजीवी होने के पक्षधर थे और न ही पश्चिम के अंधानुकरण के समर्थक। वे भारत के पश्चिम से शिक्षा ग्रहण करने के पक्ष में तो थे, परंतु उनका विश्वास था कि यह शिक्षा बौद्धिक एवं सृजनात्मक स्तर पर हो, ताकि उसके माध्यम से अपनी संस्कृति एवं उसकी विचारधारा का पुनरुद्धार किया जा सके। यह किसी भी प्रकार से भारत पर पाश्चात्य सभ्यता का आरोपण नहीं था। राजा राममोहन राय हिन्दू धर्म में सुधार के प्रबल पक्षधर थे और हिन्दू धर्म पर ईसाई धर्म के प्रभावीकरण के घोर विरोधी। उन्होंने हिन्दू धर्म और दर्शन की ईसाई धर्म-प्रचारकों के निर्मम प्रहारों से सफलतापूर्वक रक्षा की।
2. **विधानों या कानूनों के माध्यम से सुधार :** इस प्रवृत्ति के प्रवर्तकों का मानना था कि सुधार उस समय तक नहीं हो सकता जब तक कि उसे राज्य का समर्थन प्राप्त न हो। अतः उन्होंने सरकार से कानूनी विवाह एवं विधवा-पुनर्विवाह जैसे सुधारों तथा विवाह की आयु में वृद्धि करने के लिए कानूनी स्वीकृति के लिए अनुरोध किया। बंगाल में केशवचंद्र सेन,

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

महाराष्ट्र में एम. जी. रानाडे, आंध्र में वीरेशलिंगम आदि इसी प्रवृत्ति के समर्थक थे। विधवा-पुनर्विवाह के संबंध में महाराष्ट्र के एम. जी. रानाडे का विचार था– "जिस प्रकार मृत व्यक्तियों को सदा के लिए दफना दिया जाता है अथवा अग्नि में भस्म कर दिया जाता है, उसी प्रकार मृतप्राय अतीत को विस्मृत कर दिया जाना ही श्रेष्यकर है क्योंकि उसे पुनर्जीवित नहीं किया जा सकता।" उन्होंने महाराष्ट्र में विधायिका का सक्रिय सहयोग लेते हुए सामाजिक सुधार के अनेक कार्य किए। बहरहाल, इन सुधारकों की रणनीति में एक दोष यह रहा कि इससे औपनिवेशिक संस्थाओं पर निर्भरता बढ़ने लगी और वे यह अनुभव नहीं कर पाए कि सामाजिक सुधार में ब्रिटिश सरकार का हित उसके संकीर्ण राजनीतिक-आर्थिक लाभ से प्रेरित था। इसके अलावा, ये सुधारक सामाजिक परिवर्तन के वाहक के रूप में विधान की सीमाओं का आकलन करने में भी विफल रहे।

3. **परिवर्तन के प्रतीकों के माध्यम से सुधार :** यह प्रवृत्ति गैर-मतावलंबी व्यक्तिगत गतिविधि के द्वारा प्रकट हुई जो कि केवल यंग बंगाल (Young Bengal) या डेरोजियो के आंदोलन तक सीमित रही। इन्होंने सुधार आंदोलन के भीतर उग्रधारा का प्रतिनिधित्व किया। ये महिला अधिकारों के प्रबल समर्थक थे तथा इन्होंने प्राचीन एवं ह्रासोन्मुख प्रथाओं, कर्मकांडों तथा रीति-रिवाजों की कड़ी आलोचना की। ये रूढ़ियों के बहिष्कार तथा प्रचलित असामाजिक मानदंडों के प्रति विद्रोह के पक्षधर थे। ये पश्चिम के नवीन विचारों से अत्यधिक प्रभावित थे तथा इन्होंने सामाजिक समस्याओं के प्रति कठोर तार्किक रवैया दर्शाया। इस प्रवृत्ति का सबसे बड़ा दोष रहा कि यह भारतीय समाज की सांस्कृतिक परंपराओं पर कोई विशेष प्रभाव नहीं छोड़ सका।

4. **सामाजिक कार्यों के माध्यम से सुधार :** यह प्रवृत्ति विशेष रूप से दयानंद सरस्वती के आर्य समाज, स्वामी विवेकानंद के रामकृष्ण मिशन तथा महाराष्ट्र में प्रार्थना समाज के क्रियाकलापों में दिखाई दी। इनके अनुसार, समाज-सुधार कार्यों में धर्म की स्वीकृति का होना या न होना कोई अर्थ नहीं रखता। इसी परंपरा में उक्त संगठनों ने सामाजिक कार्यों के माध्यम से सुधार और पुनरुत्थान के विचारों को जनसामान्य तक पहुँचाने के लिए अथक प्रयास किए।

19वीं शताब्दी के प्रमुख सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन
(Important Socio-Religious Reform Movements of 19th Century)

ब्रह्म समाज *(Brahmo Samaj)*

एक धार्मिक संस्था के रूप में ब्रह्म समाज का उद्देश्य एकेश्वरवाद (Monotheism) की शिक्षा देना और हिन्दू धर्म को रूढ़िमुक्त बनाना था। इस संस्था ने भारतीय समाज को जीवन के सभी क्षेत्रों में नयी विचारधारा प्रदान की। धार्मिक क्षेत्र में इस संस्था ने अवतारवाद, बहुदेववाद, मूर्तिपूजा तथा कर्मकांडों का विरोध किया। इस संस्था ने एकेश्वरवाद और सभी धर्मों के सार-तत्व को आधार बनाते हुए हिन्दू धर्म में सुधार किया और उसे आधुनिक बनाने का प्रयास किया तथा मानवीय अंतरात्मा एवं विवेक को धर्मग्रंथों की तुलना में अधिक महत्त्व दिया।

ब्रह्म समाज का समाज सुधार के क्षेत्र में योगदान अत्यधिक महत्त्वपूर्ण है। इसने विदेश यात्रा पर तत्कालीन प्रतिबंधों को चुनौती दी और नारी गरिमा को प्रतिष्ठित करने का प्रयास किया। ब्रह्म समाज ने सती-प्रथा, बहु-विवाह, बाल-विवाह, वर्ण-व्यवस्था, पर्दा-प्रथा आदि सामाजिक कुरीतियों का पुरजोर विरोध किया। राजा राममोहन राय ने सती-प्रथा जैसे जघन्य कृत्य के विरोध में एक लंबा आंदोलन चलाया। इसके साथ ही नारी शिक्षा, विधवा-विवाह एवं अंतर्जातीय विवाह जैसे प्रगतिशील कदमों को भी इस संस्था का भरपूर समर्थन मिला।

राजनीतिक उत्थान एवं राष्ट्रीय चेतना का जागरण भी ब्रह्म समाज के सामाजिक-धार्मिक सुधारों का लक्ष्य रहा। जाति-प्रथा का विरोध एवं एकेश्वरवाद का वैदांतिक संदेश देकर इसने विविध समूहों में बँटे भारतीय समाज की एकता का आधार तैयार किया। इस संस्था ने बंगाल में किसानों पर जमींदारों के शोषण का विरोध किया और भारतीय वस्तुओं पर से भारी निर्यात शुल्क को हटाने का भी सुझाव रखा।

ब्रह्म समाज ने अपने सुधारात्मक कार्यों के लिए विभिन्न सकारात्मक साधनों का उपयोग किया। देश में शिक्षा के प्रचार-प्रसार के लिए उसने स्कूलों तथा कॉलेजों की स्थापना की। जनसामान्य को सामाजिक समस्याओं से जोड़ने एवं उनमें राष्ट्रीय चेतना जगाने के लिए इस संस्था ने भाषण, लेख, सभाओं एवं पत्र- पत्रिकाओं आदि का सहारा लिया। अतः-कहा जा सकता है कि ब्रह्म समाज ने धार्मिक तथा सामाजिक क्षेत्रों में बहुमुखी सुधारों के माध्यम से भारतीय समाज में नए रक्त का संचार किया और इस प्रकार आधुनिक भारत के निर्माण में अपनी महती भूमिका निभाई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

ब्रह्म समाज की परवर्ती शाखाएँ *(Sucessive Branches of Brahmo Samaj)*

राजा राममोहन राय के मृत्योपरांत ब्रह्म समाज का संचालन उनके शिष्य द्वारिकानाथ टैगोर तथा पंडित रामचन्द्र विद्यावागीश ने किया। तत्पश्चात् 1843 ई. में देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज का नेतृत्व सँभाला। नेतृत्व सँभालने से पहले उन्होंने सत्य की खोज करने के उद्देश्य से 1839 ई. में जोरासांकी (कलकत्ता) में तत्त्वबोधनी या रंजनी सभा की स्थापना की। तत्त्वबोधनी सभा का मुख्य उद्देश्य धर्म के वास्तविक तत्त्व की खोज को बढ़ावा देना तथा उपनिषदों के ज्ञान का प्रचार-प्रसार करना था। उस समय राजेन्द्रलाल मित्र, अक्षयकुमार दत्त, ईश्वरचंद्र विद्यासागर, ताराचंद्र चक्रवर्ती तथा प्यारेलाल मित्र जैसे समाज-सुधारक तत्त्वबोधनी सभा के सदस्य थे। इन्होंने तत्त्वबोधनी स्कूल की भी स्थापना की। अक्षयकुमार दत्त जैसे विद्वानों ने इस विद्यालय में अध्यापन किया। साथ ही, इन्होंने एक मासिक पत्रिका 'तत्त्वबोधनी' का भी प्रकाशन शुरू किया। देवेन्द्रनाथ टैगोर ने 'ब्रह्म धर्म' नामक एक धार्मिक पुस्तिका का संकलन भी तैयार किया। इसमें अनेक हिन्दू धर्मग्रंथों के आध्यात्मिक एवं नैतिक उद्धरण दिये गये थे। उन्होंने उपासना के ब्रह्म स्वरूप या ब्रह्मोपासना का भी शुभारंभ किया। सन् 1856 में ये शिमला की पहाड़ियों पर एकांतवास के लिये चले गये। उनके बाद इस संस्था का नेतृत्व केशवचन्द्र सेन ने संभाला।

केशवचन्द्र सेन ने अपने उदारवादी विचारों से ब्रह्म समाज की विचारधारा को बेहद लोकप्रिय बना दिया। बंगाल के बाहर संयुक्त प्रांत (उत्तर-प्रदेश), पंजाब एवं मद्रास में इसकी शाखाएँ इन्हीं के समय में खोली गईं। केशवचन्द्र सेन ने युवक अनुयायियों के साथ मिलकर 'संगत सभा' का गठन किया। इस सभा की बैठकों में सदस्य अपनी जाति को छोड़ देने, यज्ञोपवीत का त्याग करने, किसी मूर्तिपूजक व्यक्ति का निमंत्रण न स्वीकार करने, वैश्याओं द्वारा किये जाने वाले नृत्य-समारोहों को प्रोत्साहित न करने आदि का संकल्प लेते थे। उनके उदारवादी विचारों से उनके तथा परंपरागत विचारधारा वाले ब्रह्म-समाजियों के बीच मतभेद उत्पन्न हो गए। परिणामस्वरूप, 1865 ई० में देवेन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रह्म समाज की न्यासी

राजा राममोहन राय *(Raja Ram Mohan Roy)*

भारत में सुधारवादी आन्दोलन के प्रवर्तक राजा राममोहन राय का जन्म 1774 ई. में बंगाल के हुगली जिले के राधानगर गाँव में हुआ था। इनके पिता रमाकांत राय बंगाल के नवाब के यहाँ नौकरी में थे। इनकी शुरुआती शिक्षा पटना एवं वाराणसी में हुई थी तथा इन्होंने अनेक भाषाओं का ज्ञान प्राप्त किया, यथा- अरबी, संस्कृत, अंग्रेजी, फ्रांसीसी, लैटिन, हिब्रू आदि। मूर्तिपूजा के प्रश्न पर पिता से मतभेद होने पर इन्होंने घर छोड़ दिया और ईस्ट इंडिया कंपनी में नौकरी कर ली।

अपने धार्मिक, दार्शनिक और सामाजिक दृष्टिकोण में राजा राममोहन राय इस्लाम के एकेश्वरवाद, सूफी मत के रहस्यवाद, ईसाई धर्म की आचार-शास्त्रीय नीतिपरक शिक्षा और पश्चिम के आधुनिक उदारवादी तथा बुद्धिवादी सिद्धांतों से काफी प्रभावित थे। सन् 1809 में राजा राममोहन राय की फारसी भाषा की पुस्तक 'तोहफात-उल-मुआहिदीन' (एकेश्वरवादियों का उपहार) प्रकाशित हुई। इस पुस्तक में उन्होंने मूर्तिपूजा का विरोध किया और एकेश्वरवाद को सब धर्मों का मूल बताया। सन् 1814-15 में उन्होंने कंपनी से त्याग-पत्र देकर 'आत्मीय सभा' का गठन किया। इसके बाद 1816 ई. में उन्होंने 'वेदांत सोसाइटी' की स्थापना की। सन् 1820 में उनकी पुस्तक प्रीसेप्ट्स ऑफ जीसस (ईसा के नीति वचन, शांति और खुशहाली का मार्ग) प्रकाशित हुई। इसी में उन्होंने ईसाई धर्म की सहजता और नैतिकता के बारे में अपना दृढ़ विश्वास व्यक्त किया। उनके बड़े भाई की पत्नी (भाभी) द्वारा सती हो जाने से उनकी विचारधारा में परिवर्तन आ गया। उक्त घटना के बाद से राजा राममोहन राय ने इस अमानवीय प्रथा के उन्मूलन का दृढ़ निश्चय कर लिया। अंततः उनके प्रयासों से लॉर्ड विलियम बैंटिक ने अधिनियम-17 (Act-XVII) के द्वारा सती-प्रथा पर प्रतिबंध लगा दिया। दिसंबर 1821 में उन्होंने अपने विचार लोगों तक पहुँचाने के उद्देश्य से बांग्ला साप्ताहिक 'संवाद कौमुदी' अथवा 'प्रज्ञाचाँद' का प्रकाशन किया। संवाद कौमुदी शायद भारतीयों द्वारा संपादित तथा प्रकाशित प्रथम भारतीय समाचार-पत्र था। उन्होंने इस पत्र का उपयोग सती-प्रथा के उन्मूलन के लिये वैचारिक जनमत बनाने के लिए किया। इसके एक वर्ष बाद उन्होंने फारसी भाषा में एक अन्य साप्ताहिक समाचार-पत्र 'मिरात-उल-अखबार' या 'बुद्धि दर्पण' का प्रकाशन शुरू किया। उन्होंने एक डच घड़ीसाज डेविड हेयर के सहयोग से 1817 ई. में कलकत्ता में हिन्दू कॉलेज तथा 1825 ई. में वेदान्त कॉलेज की स्थापना की।

राजा राममोहन राय स्वतंत्रता एवं राष्ट्रीय विचारधारा के कट्टर समर्थक थे। उनकी इस प्रवृत्ति का सबसे ज्वलंत उदाहरण तब मिलता है, जब वे नेपल्स की क्रांति की विफलता से काफी व्यथित हुए और 1823 ई. में स्पैनिश क्रांति की सफलता पर उन्होंने सार्वजनिक भोज देकर अपनी प्रसन्नता व्यक्त की। 20 अगस्त, 1828 को उन्होंने ब्रह्म सभा की स्थापना हिन्दू धर्म के एकेश्वरवादी मत का प्रचार करने के लिये की। यही संस्था बाद में ब्रह्म समाज के रूप में प्रसिद्ध हुई। समकालीन मुगल बादशाह अकबर द्वितीय ने उन्हें 1830 ई. में राजा की उपाधि दी तथा अपने राजदूत के रूप में ब्रिटिश सम्राट विलियम चतुर्थ के दरबार में स्वयं को मिलने वाली पेंशन की अपर्याप्तता के संदर्भ में अपना पक्ष रखने भेजा। 27 सितंबर, 1833 को ब्रिस्टल (इंग्लैंड) में इनका निधन हो गया। इन्होंने उन नवीन विचारों का प्रवर्तन किया, जिन्होंने भारतीय पुनर्जागरण आंदोलन की पृष्ठभूमि तैयार की। अतएव इन्हें 'अतीत और भविष्य के मध्य सेतु', 'भारतीय राष्ट्रवाद का जनक' और 'आधुनिक भारत के पिता' आदि नाम से जाना जाता है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

(Trustee) की हैसियत से केशवचंद्र सेन को आचार्य की पदवी से अपदस्थ कर दिया। तत्पश्चात् 1866 ई. में केशवचंद्र सेन ने एक नये संगठन 'नवीन ब्रह्म-समाज' या 'नव्य धाम समाज' या 'भारतवर्षीय ब्रह्म-समाज' की स्थापना की। दूसरी ओर, देवेन्द्रनाथ टैगोर के नेतृत्व वाला समूह 'आदि ब्रह्म-समाज' (Adi Brahmo Samaj) कहलाया।

सन् 1870 में केशवचंद्र सेन इंग्लैण्ड की यात्रा पर गये तथा सामाजिक सुधारों और लोक-कल्याणकारी कार्यों के लिये अधिक प्रतिबद्धता एवं दुगुने उत्साह के साथ वापस लौटे। दो ही वर्ष बाद अर्थात् सन् 1872 में उनके प्रयासों से ब्रह्म विवाह अधिनियम (Brahmo Marriage Act, 1872) को कानूनी मान्यता प्राप्त हो गयी। तदोपरांत उन्होंने भारतीय सुधार संघ (Indian Reform Association) नामक संस्था की स्थापना की। उनके संपादकत्व में 'इंडियन मिरर' नामक मासिक पत्र का प्रकाशन 1861 ई. में प्रारंभ हुआ। यह अंग्रेज़ी का पहला दैनिक समाचार-पत्र था, जिसने बाद में ब्रह्म समाज के सशक्त मुखपत्र (Mouthpiece) का रूप ले लिया।

सन् 1878 में जब केशवचंद्र सेन ने अपनी अल्पवयस्क (Minor) बेटी का विवाह कूच बिहार के महाराजा से किया तो इस संगठन में एक और फूट पड़ी। यह विवाह परंपरागत हिन्दू पद्धति के अनुसार तथा ब्रह्म विवाह अधिनियम, 1872 का उल्लंघन करते हुए कराया गया था। अतः केशवचंद्र के बहुत से अनुयायी सामूहिक रूप से उनसे अलग हो गये तथा उन्होंने साधारण ब्रह्म समाज (Sadharan Brahmo Samaj) की स्थापना की। यह संस्था जाति-प्रथा एवं मूर्तिपूजा का विरोध तथा नारी शिक्षा का समर्थन करती थी। इस द्वितीय विभाजन से ब्रह्म समाज आंदोलन को गहरा आघात पहुँचा। साधारण ब्रह्म समाज के नेताओं में शिवनाथ शास्त्री, आनंद मोहन बोस, विपिनचंद्र पाल, द्वारकानाथ गांगुली तथा सुरेन्द्रनाथ बनर्जी आदि शामिल थे। उक्त संस्थाओं ने अनेक पत्रिकाओं, यथा तत्त्व कौमुदी, ब्रह्म जनमत, इंडियन मैसेन्जर, संजीवनी, नव्य भारत, मॉडर्न रिव्यू आदि का प्रकाशन जन-साधारण को शिक्षित करने के उद्देश्य से शुरू किया।

यंग बंगाल आंदोलन *(Young Bengal Movement)*

कलकत्ता के हिन्दू कॉलेज के अध्यापक हेनरी विवियन डेरोजियो इस आंदोलन के प्रवर्तक थे। अपने अध्यापन काल में ही उन्होंने हेस्परस और कलकत्ता साहित्यिक गजट का संपादन किया। साथ ही, वे 'इंडिया गजट' से भी जुड़े रहे। फ्रांसीसी क्रांति के आदर्शों से प्रभावित डेरोजियो ने छात्रों को स्वतंत्र एवं तर्कपूर्ण ढंग से सोचने, समानता एवं स्वतंत्रता से प्रेम तथा सत्य की पूजा करने का पाठ पढ़ाया। अपने क्रांतिकारी विचारों के कारण उन्हें कॉलेज से निकाल दिया गया। सन् 1831 में इनकी आकस्मिक मृत्यु हो गयी।

इस आंदोलन के समर्थक पुरानी एवं हानिकारक प्रथाओं का विरोध तथा नारी अधिकारों का समर्थन करते थे। इन्होंने प्रेस की स्वतंत्रता, विदेशी ब्रिटिश उपनिवेशों में भारतीय मजदूरों के साथ बेहतर व्यवहार, जमींदारों के अत्याचारों से रैय्यतों की सुरक्षा एवं उच्च सरकारी सेवाओं में भारतीयों की नियुक्ति को लेकर जन-आंदोलन शुरू किया। यद्यपि इनके प्रगतिशील विचारों के लिए उपयुक्त सामाजिक स्थिति के अभाव में यह आंदोलन ज्यादा फल-फूल नहीं पाया, फिर भी पत्र-पत्रिकाओं एवं सार्वजनिक संस्थाओं द्वारा जनता को सामाजिक, आर्थिक एवं राजनीतिक मुद्दों पर जाग्रत करने में इनका योगदान सदा महत्त्वपूर्ण रहा।

आर्य समाज *(Arya Samaj)*

आर्य समाज की स्थापना 1875 ई. में स्वामी दयानंद सरस्वती द्वारा बंबई में की गई। उनका वैदिक परंपरा में दृढ़ विश्वास था तथा वे तत्कालीन भारत की सभी समस्याओं का समाधान वेदों में देखते थे। इसीलिए उन्होंने 'पुनः वेदों की ओर लौटो' का नारा दिया। चूँकि यह हिन्दू धर्म का सुधारवादी आन्दोलन था, इसलिए इसका मुख्य उद्देश्य प्राचीन वैदिक धर्म को शुद्ध रूप से पुनः स्थापित करना था। उन्होंने वेदों को ईश्वरीय, शाश्वत, धर्मातीत और अपरिवर्तनीय बताया तथा पुराण एवं समस्त ऐसे वैदिकोत्तर साहित्य को अविश्वसनीय बताया जो वेदों से मेल नहीं खाता। उनका कहना था कि यह साहित्य कर्मकांड, रूढ़ियों और अंधविश्वासों से जकड़ा हुआ है और झूठी शिक्षाओं से भरे इस साहित्य की सहायता से अज्ञानी पुरोहितों ने हिन्दू धर्म को भ्रष्ट कर दिया है। अतः इससे मुक्ति का एकमात्र उपाय है– फिर से वेदों की ओर लौटना।

आर्य समाज ने भी तत्कालीन भारतीय नवजागरण से जुड़े अन्य आंदोलनों की तरह धार्मिक क्षेत्र में मूर्तिपूजा, बहुदेववाद, अवतारवाद, पशु बलि, श्राद्ध, तंत्र-मंत्र तथा झूठे कर्मकांडों का विरोध किया। इसने धार्मिक-सामाजिक क्षेत्र में पुरोहितों और ब्राह्मणों की सर्वोच्चता के दावे को भी खारिज किया। सामाजिक क्षेत्रों में इस संस्था ने जाति-प्रथा, छुआछूत, बहु-विवाह, बाल-विवाह, दहेज आदि सामाजिक बुराइयों पर कड़ा प्रहार किया। दयानंद भारतीय इतिहास के पहले सुधारक थे, जिन्होंने शूद्रों और स्त्रियों को भी वेद पढ़ने, यज्ञोपवीत धारण करने तथा उच्च वर्ण व पुरुषों के बराबर अधिकार प्राप्त कराने के लिए आंदोलन चलाया। सामाजिक समानता व एकता के संदर्भ में इन प्रयासों से जनता में आत्मसम्मान एवं स्वावलंबन का भाव जागा। इससे राष्ट्रवाद की भावना को बढ़ावा मिला। भारतीय चिंतकों में 'स्वराज' शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम दयानंद ने ही किया। वे स्वदेशी के प्रबल समर्थक थे। इसीलिए उनका मानना था कि बुरे से बुरे देशी राज्य भी अच्छे से अच्छे विदेशी राज्यों से अच्छा है। शिक्षा के प्रसार के क्षेत्र में भी आर्य समाज का योगदान सराहनीय रहा है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

शुद्धि आंदोलन और गोरक्षा आंदोलन आर्य समाज द्वारा चलाये गये आंदोलनों में प्रमुख माने जाते हैं। शुद्धि आंदोलन किन्हीं कारणों से हिन्दू धर्म छोड़कर जा चुके लोगों को पुनः इस धर्म में वापस लाने का प्रयास था। बाद में शाकाहार बनाम मांसाहार एवं शिक्षा के माध्यम के रूप में संस्कृत बनाम अंग्रेज़ी के मुद्दे पर आर्य समाज दो भागों में बँट गया। लाला लाजपतराय व लाला हंसराज के नेतृत्व में पहले वर्ग (नरमपंथी कॉलेज गुट) ने दयानंद एंग्लो-वैदिक कॉलेजों की स्थापना पर ध्यान दिया। इस गुट ने कांग्रेसी राजनीति में भी रुचि दिखाई। दूसरे वर्ग के नेता थे- लाला लेखराम और मुंशीराम। इन्होंने 1902 ई. में हरिद्वार में गुरुकुल कांगड़ी की स्थापना की जिसका उद्देश्य था- जनसामान्य को ब्रह्मचर्य और वेदों का प्रशिक्षण देना।

दयानन्द सरस्वती *(Dayanand Saraswati)*

आर्य समाज के संस्थापक दयानन्द का मूल नाम मूलशंकर था। उनका जन्म 1824 ई. में गुजरात के मौरवी में हुआ। उन्होंने मथुरा में स्वामी विरजानन्द से वैदिक धर्म एवं दर्शन का शुद्ध रूप से ज्ञान प्राप्त किया। इन्होंने अपने विचारों का प्रचार-प्रसार आगरा से आरम्भ किया। इन्होंने मूर्तिपूजा, अवतारवाद, बहुदेववाद, श्राद्ध, पशुबलि, तन्त्र-मन्त्र आदि आडम्बरों की कड़ी आलोचना की। उन्होंने वेदों को ईश्वरीय ज्ञान का स्रोत बताते हुए 'वेदों की ओर लौटो' का मूल मन्त्र दिया। उन्होंने शूद्रों व स्त्रियों को वैदिक शिक्षा व ज्ञान दिए जाने पर जोर दिया तथा अस्पृश्यता की परंपरा पर कड़ा प्रहार किया। राजनीति के क्षेत्र में इन्होंने स्वराज एवं स्वदेशी पर बल दिया। इन्होंने हिन्दी को राष्ट्रभाषा के रूप में स्वीकार किये जाने की माँग की। दयानंद सरस्वती ने सत्यार्थ प्रकाश (1874 ई., संस्कृत) ग्रंथ में अपने विचारों का प्रतिपादन किया है। वेलेंटाइन चिरोल ने अपनी पुस्तक 'इंडियन अनरेस्ट' में आर्य समाज को 'भारतीय अशांति का जन्मदाता' कहा है। सन् 1875 में बंबई में दयानंद सरस्वती ने आर्य समाज की स्थापना की और महाराष्ट्र, राजस्थान, उत्तर प्रदेश, पंजाब व बिहार में इसका प्रचार-प्रसार किया। सन् 1883 में विष दिए जाने से उनकी मृत्यु हो गई।

रामकृष्ण मिशन *(Ramakrishna Mission)*

स्वामी विवेकानंद ने अपने गुरु रामकृष्ण परमहंस की स्मृति में सन् 1897 ई. में 'रामकृष्ण मिशन' की स्थापना की। विवेकानंद और उनके द्वारा स्थापित रामकृष्ण मिशन ने पश्चिम की तथाकथित धार्मिक और सांस्कृतिक श्रेष्ठता की धारणा को चुनौती दी और हिन्दू धर्म एवं संस्कृति की उपलब्धियों को प्रकाश में लाने का काम किया। शिकागो विश्व धर्म सम्मेलन में हिन्दू धर्म और वेदांत को विश्व स्तर पर प्रतिष्ठित करते हुए उन्होंने कहा कि वेदांत न केवल हिन्दुओं का बल्कि सभी मनुष्यों का धर्म है। उन्होंने वेदांत की व्यावहारिक व्याख्या की तथा आध्यात्मिकता और दैनिक जीवन की खाइयों को पाटने का प्रयास किया। पश्चिम के भौतिकवाद और पूर्व के आध्यात्मवाद के सम्मिश्रण को उन्होंने मानव जाति की भलाई का सबसे अच्छा मार्ग बतलाया। इस प्रकार रामकृष्ण मिशन ने भारतीय एवं पश्चिमी संस्कृति के संश्लेषक (Connector) की भूमिका निभाई।

विभिन्न संप्रदायों एवं धर्मों के बीच संश्लेषण और शांतिमय सहअस्तित्व स्थापित करने का प्रयास भी मिशन ने किया। विवेकानंद मानवता की सेवा को ही सच्ची ईश्वर सेवा मानते थे। उनका मानना था कि ईश्वर की ओर ले जाने वाले कई मार्गों में मानव सेवा सबसे बढ़कर है। अपने मानवतावादी विचारों के कारण ही उन्होंने जातिवाद, छुआछूत, लैंगिक असमानता और किसी भी स्तर पर विषमताओं का आजीवन विरोध किया और उन्हें दूर करने हेतु लगातार कोशिश करते रहे। विवेकानंद राष्ट्र की दुर्बलता का कारण इन विषमताओं को ही मानते थे।

चूँकि विवेकानंद का दर्शन क्रियात्मक दर्शन था, इसलिए वे 'मोक्ष' के लिए 'संन्यास' के स्थान पर 'सेवा' को अधिक महत्त्वपूर्ण मानते थे। अपने विचारों को व्यावहारिक रूप में लाने के लिए उन्होंने स्कूल, पुस्तकालय, अनाथालय आदि की स्थापना की। वे सामाजिक बुराइयों के उन्मूलन का सशक्त माध्यम शिक्षा को ही मानते थे, विशेष रूप से प्राथमिक शिक्षा एवं नारी शिक्षा को।

उदीयमान भारतीय राष्ट्रवाद के विकास में विवेकानंद ने महत्त्वपूर्ण भूमिका निभायी। जनमानस की जागृति, भौतिक एवं नैतिक शक्ति का विकास, समान आध्यात्मिक विचारों पर अवलंबित एकता तथा प्राचीन भारतीय संस्कृति के गौरव के प्रति जागरूकता एवं स्वाभिमान उनकी राष्ट्रवादी विचारधारा के चार प्रमुख स्तंभ थे। आध्यात्मिक, शारीरिक एवं बौद्धिक विकास का आग्रह करते हुए उन्होंने युवकों से राष्ट्रीय उत्थान में योगदान देने को कहा। इस प्रकार विवेकानंद ने अंधराष्ट्रभक्ति के स्थान पर उदार एवं व्यापक अंतर्राष्ट्रीय दृष्टिकोण को अधिक महत्त्व दिया।

प्रार्थना समाज *(Prarthana Samaj)*

सन् 1867 में केशवचंद्र सेन की महाराष्ट्र यात्रा के परिणामस्वरूप और उनकी प्रेरणा से डॉ॰ आत्माराम पांडुरंग तथा महादेव गोविंद रानाडे ने 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। पश्चिमी भारत में रानाडे को 'सांस्कृतिक पुनर्जागरण का अग्रदूत' अथवा 'पश्चिम भारत का सुकरात' माना जाता है। उन्होंने हिन्दू धर्म में व्याप्त कुरीतियों के विरुद्ध आवाज़ उठाई तथा बाल-विवाह, पर्दा-प्रथा, बहुविवाह एवं जात-पाँत का विरोध किया तथा नारी शिक्षा एवं विधवा-विवाह को बढ़ावा दिया। रानाडे ने 'शुद्धि आंदोलन' भी चलाया, जिसने वेश्याओं द्वारा किये जाने वाले नृत्य एवं मद्यपान तथा विवाह में होने वाली फिजूलखर्ची के विरुद्ध आवाज़ उठाई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

रानाडे के आंदोलन ने शीघ्र ही अखिल भारतीय स्वरूप धारण कर लिया। उन्हें हिन्दू धर्म में गहरा विश्वास था, लेकिन उनका धर्म आधुनिक ईश्वरवादी दर्शन की मान्यताओं से ओतप्रोत तथा कुरीतियों एवं संकीर्णताओं से मुक्त था। उन्होंने आस्तिकता संबंधी अपने विचारों को 39 अनुच्छेदों में संकलित अपनी पुस्तक 'एक आस्तिक की धर्म में आस्था' में प्रस्तुत किया। रानाडे के धर्म और समाज संबंधी विचार मोटे तौर पर पश्चिमी विचारधारा से प्रभावित थे।

शिक्षा के प्रसार-प्रचार हेतु रानाडे ने पूना में 1884 ई. में दक्कन एजुकेशनल सोसायटी (Deccan Educational Society) तथा 1891 ई. में विधवा-पुनर्विवाह को प्रोत्साहित करने के लिए विधवा पुनर्विवाह संघ (Widow Remarriage Association) की स्थापना की। 19वीं शताब्दी में विधवाओं की दयनीय स्थिति में सुधार के लिए किये गये प्रयासों के लिए चार व्यक्तियों-ईश्वरचन्द्र विद्यासागर, डी॰ के॰ कर्वे, वीरेशलिंगम पन्तलु एवं विष्णु शास्त्री पण्डित का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है।

थियोसोफिकल सोसायटी *(Theosophical Society)*

सन् 1875 में मैडम हेलेना ब्लावत्स्की एवं कर्नल एच. एस. आल्कॉट ने अमेरिका में 'थियोसोफिकल सोसायटी' की स्थापना की। तदोपरांत भारत में इसकी स्थापना 1882 ई. में आड्यार (मद्रास) में की गयी। एक आयरिश महिला एनी बेसेंट सन् 1889 में इस सोसायटी की सदस्य बनीं। सन् 1893 में वे शिकागो के विश्व धर्म सम्मेलन में भाग लेने वहाँ गईं। वहाँ से नवंबर 1893 में वे भारत आ गईं तथा कालांतर में कर्नल आल्कॉट की मृत्यु के बाद इस संस्था की अध्यक्ष बनीं।

यह संस्था उपनिषद, सांख्य, योग व वेदांत के सिद्धांतों में रुचि रखती थी और उसका प्रारंभिक उद्देश्य हिन्दू पुनरुत्थान की दिशा में प्रयासरत रहना था। इसके अनुयायी मानते थे कि ईश्वरीय ज्ञान को आत्मिक हर्षोल्लास एवं अंतःदृष्टि द्वारा प्राप्त किया जा सकता है तथा ध्यान, योग एवं चिंतन के द्वारा ही व्यक्ति की आत्मा परमात्मा से जुड़ती है। इनका हिन्दू धर्म के पुनर्जन्म एवं कर्म सिद्धांत में अटूट विश्वास था।

स्वामी विवेकानंद *(Swamy Vivekananda)*

रामकृष्ण मिशन के संस्थापक स्वामी विवेकानंद का जन्म 12 जनवरी, 1863 को कलकत्ता में हुआ था। इनके बचपन का नाम नरेन्द्रनाथ दत्त था। ये विद्यार्थी जीवन में बहुत प्रतिभावान एवं जिज्ञासु छात्र थे। इन्होंने रामकृष्ण परमहंस से भेंट की और उनके विचारों से प्रभावित होकर उनका शिष्यत्व ग्रहण कर लिया। रामकृष्ण की मृत्यु के पश्चात् इन्होंने 1887 ई. में संन्यास ग्रहण कर लिया। इन्हें 'स्वामी विवेकानंद' नाम खेतड़ी के महाराजा ने दिया था।

अमेरिका के शिकागो शहर के विश्व धर्म सम्मेलन (Chicago World Religion Conference) में स्वामी विवेकानंद ने 1893 ई. में भाग लिया, जहाँ उन्होंने हिन्दू धर्म पर भाषण देकर वहाँ भारतीय सभ्यता एवं संस्कृति को गौरवान्वित किया। शिकागो के बाद स्वामी जी ने निरंतर तीन वर्षों तक अमेरिका तथा इंग्लैण्ड में अपने भाषणों एवं लेखों से हिन्दू धर्म का प्रचार-प्रसार किया और फिर अमेरिका में 'वेदांत समाज' की स्थापना की।

भारत लौटने पर उन्होंने 1 मई, 1897 को अपने गुरु के नाम पर 'रामकृष्ण मिशन' नामक संस्था की स्थापना की। इस संस्था का उद्देश्य मानवता की सेवा करना था। इसके सदस्यों ने 1897 ई. के मुर्शिदाबाद के अकाल एवं कलकत्ता में प्लेग की बीमारी के समय जनता की बहुत सेवा की। रामकृष्ण मिशन ने अनेक चिकित्सालय, अनाथालय, विद्यालय, सेवाश्रम और विधवाश्रम खुलवाए। स्वामी जी दूसरी बार 1899 ई. में अमेरिका गए और वहाँ उन्होंने न्यूयार्क, सैन फ्रांसिस्को, कैलिफोर्निया तथा लॉस एंजिल्स में वेदांत समाज की स्थापना की। इसके बाद उन्होंने पेरिस के एक धार्मिक सम्मेलन में भाग लिया और वहाँ भी उन्होंने हिन्दू धर्म का प्रचार-प्रसार किया। 4 जुलाई, 1902 को 39 वर्ष की अल्पायु में ही स्वामी विवेकानंद की मृत्यु हो गई।

महादेव गोविंद रानाडे *(Mahadev Govind Ranade)*

सन् 1842 ई. में नासिक में एक ब्राह्मण परिवार में जन्मे महादेव गोविंद रानाडे महाराष्ट्र के एक महान समाज सुधारक थे। उन्हें पश्चिम भारत का 'सुकरात' कहा जाता है। उन्होंने अपना प्रारंभिक जीवन वकील के रूप में शुरू किया और फिर बंबई उच्च न्यायालय में न्यायाधीश नियुक्त हो गए। सरकार द्वारा उन्हें 'दक्कन कृषि राहत अधिनियम' के क्रियान्वयन का निरीक्षण करने के लिए नियुक्त किया गया। उन्होंने 'सार्वजनिक सभा' नामक समाचार-पत्र भी निकाला, जिसमें विभिन्न आर्थिक एवं सामाजिक विषयों पर लेख प्रकाशित होते थे। वे भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के संस्थापक नेताओं में एक थे।

रानाडे ने सामाजिक विद्रूपताओं और विसंगतियों के विरुद्ध जनमत तैयार करने के लिए 1867 ई. में 'प्रार्थना समाज' की स्थापना की। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने विधवाओं की स्थिति में सुधार, विधवाओं के पुनर्वास, बाल-विवाह का विरोध, विधवाओं के पुनर्विवाह, बाल-विधवाओं के संरक्षण आदि के लिए प्रयत्न किए। उन्होंने 'शारदा सदन' की स्थापना में महत्वपूर्ण योगदान दिया। उन्होंने भारत में पाश्चात्य शिक्षा को प्रोत्साहित करने हेतु 'दक्कन शिक्षा समाज' की स्थापना की तथा सामाजिक बुराइयों के विरुद्ध संघर्ष के लिए 'भारतीय राष्ट्रीय सामाजिक सम्मेलन' की शुरुआत की। 1901 ई. में महादेव गोविंद रानाडे का देहांत हो गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इस प्रकार इस संस्था ने भारतीय धर्म व संस्कृति की श्रेष्ठता को सिद्ध करने का प्रयास किया। तथापि, इस संस्था को धार्मिक क्षेत्र की तुलना में समाज-सुधार एवं राष्ट्रीय चेतना के निर्माण में अधिक सफलता मिली। इस उद्देश्य से सोसायटी ने अनेक कदम उठाये। उसने बाल-विवाह, जातिगत बंधन, छुआछूत आदि कुरीतियों का पुरजोर विरोध करते हुए अछूतों और विधवाओं की स्थिति में सुधार का भरसक प्रयास किया।

वेद समाज *(Veda Samaj)*

केशवचंद्र सेन की मद्रास यात्रा के दौरान एक युवक श्री धरालु नायडु द्वारा सन् 1864 में 'वेद समाज' की स्थापना की गई। इसके प्रमुख नेताओं में वी. राजगोपाल चारलू, पी. सुब्रह्मण्यम चेट्टी और विश्वनाथ मुदालियार प्रमुख थे। इन्होंने ब्रह्म समाज के आंदोलन का प्रसार करने के लिए कलकत्ता की यात्रा की। तदोपरांत मद्रास जाकर 1871 ई. में उन्होंने वेद समाज को 'दक्षिण भारत का ब्रह्म समाज' कहा।

एनी बेसेंट *(Annie Besant)*

सन् 1847 ई. में आयरलैंड में जन्मीं एनी बेसेंट आरम्भ में वहाँ समाजवादी आंदोलनों से जुड़ी रहीं तथा 1893 ई. में भारत आ गईं। भारत में वे थियोसोफिकल सोसायटी से गहन रूप से जुड़ीं। उन्होंने महिलाओं के समान अधिकार, बाल-विवाह व जाति-प्रथा का विरोध, कामगारों के संगठन, भूमि कानूनों में सुधार, बेहतर आवास सुविधाओं एवं गरीब विद्यार्थियों को भोजन आदि माँगों को लेकर जागरूकता अभियान आरंभ किया। वे भारतीय संस्कृति से बहुत प्रभावित थीं तथा उन्हें हिन्दू धर्म से बहुत प्रेम था। उन्होंने 1898 ई. में बनारस में 'सेंट्रल हिन्दू कॉलेज' की स्थापना की, जो आगे चलकर 'बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय' कहलाया।

एनी बेसेंट ने भारतीयों की स्वशासन की माँग को लेकर तिलक के साथ 1916 ई. में 'होमरूल आंदोलन' शुरू किया तथा 'न्यू इंडिया' और 'कॉमनवील' नामक समाचार-पत्र प्रकाशित किए। 1917 ई. में कांग्रेस के कलकत्ता अधिवेशन में एनी बेसेंट को प्रथम महिला कांग्रेस अध्यक्ष होने का सम्मान प्राप्त हुआ, किंतु इसके बाद भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन के प्रति उनका रवैया नकारात्मक होता गया। उन्होंने 1930 ई. में प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लिया। 1933 ई. में उनका देहांत हो गया।

परमहंस मंडली *(Paramahansa Mandali)*

सन् 1849-50 में आत्माराम पांडुरंग ने बालकृष्ण जयकर और दादोबा पांडुरंग की सहायता से बंबई में 'परमहंस मंडली' की स्थापना की। यह महाराष्ट्र में सामाजिक-धार्मिक सुधारों से जुड़ी संस्था थी।

यह संगठन एकेश्वरवाद तथा विश्व बंधुत्व की अवधारणा पर आधारित था, जो कालांतर में कोई स्वतंत्र दार्शनिक आधार प्रस्तुत नहीं कर सका और ईसाई धर्म के अनुष्ठानों की नकल करने लगा। इसी कारण इसका प्रभाव जनता में बहुत कम रहा।

स्वामीनारायण संप्रदाय *(Swaminarayan Sampraday)*

स्वामी सहजानंद ने गुजरात में 'स्वामीनारायण संप्रदाय' की स्थापना 19वीं शताब्दी की शुरुआत में की। स्वामीनारायण संप्रदाय विश्वास एवं व्यवहार, दोनों में पवित्रतावादी जीवन-पद्धति अपनाने तथा एकेश्वरवाद में विश्वास रखने पर बल देता था। इस संप्रदाय का उदय वैष्णव धर्म के कर्मकाण्डों और अंधविश्वासों के विरोध के रूप में हुआ था। इस संप्रदाय ने शाकाहारी भोजन अपनाने और मदिरा एवं नशीले पदार्थों का सेवन त्याग देने पर विशेष बल दिया।

जात-पाँत तोड़क मण्डल *(Jat-Pat Todak Mandal)*

सन् 1922 ई. में लाहौर में आर्य समाज का वार्षिक स्थापना दिवस समारोह हुआ। शुद्धि आंदोलन की पृष्ठभूमि में आयोजित इस समारोह में भाई परमानंद ने विशेष रूप से आर्य समाज के अनुयायियों के मध्य प्रचलित जाति-व्यवस्था की कठोर शब्दों में भर्त्सना की। जाति-व्यवस्था के भेदभावों के विरुद्ध इन विचारकों के प्रयासों के परिणामस्वरूप 'जाति-पाँत तोड़क मंडल' की स्थापना हुई जिससे कि सर्वप्रथम शुद्धि के माध्यम से हिन्दू धर्म में पुनर्दीक्षित लोगों को आर्य समाजियों के रूप में शामिल किया जा सके। आर्य समाज द्वारा जाति-व्यवस्था के भेदभावों को दूर करने के साथ-साथ अछूतों को भी शुद्ध हिन्दू जाति के रूप में स्वीकार करने के प्रयासों के फलस्वरूप पंजाब और अन्य स्थानों पर अनेक निचली जाति आंदोलन उठ खड़े हुए।

अखिल भारतीय हिन्दू महासभा *(Akhil Bharatiya Hindu Mahasabha)*

सन् 1909 में राजनीतिक रूप से जागरूक हिन्दुओं ने 1906 ई. में स्थापित मुस्लिम लीग की चुनौतियों का सामना करने के लिए 'पंजाब हिन्दू सम्मेलन' की स्थापना की। 1915 ई. में अपने वार्षिक अधिवेशन में इस सम्मेलन ने अपना नाम बदलकर 'हिन्दू महासभा' रख लिया तथा 1921 ई. में इसका नाम भारतीय हिन्दू महासभा कर दिया गया। सन् 1930 ई. के मध्य तक वी. डी. सावरकर के नेतृत्व में हिन्दू महासभा ने हिन्दू राष्ट्रवाद के सिद्धांत (Principle of Hindu Nationalism) का प्रतिपादन किया और भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के धर्मनिरपेक्ष राष्ट्रवाद और मुस्लिम लीग की सांप्रदायिकतावादी नीतियों का पुरजोर विरोध किया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

राधास्वामी सत्संग *(Radha Soami Satsang)*

एक आध्यात्मिक आंदोलन के रूप में राधास्वामी सत्संग की स्थापना 1861 ई. में आगरा के एक महाजन तुलसी राम, जो शिवदयाल साहब या स्वामी जी महाराज के नाम से प्रसिद्ध थे, ने की। राधास्वामी संप्रदाय के अनुयायी सर्वोच्च ईश्वर, पवित्र लोगों की संगति (सत्संग) और पवित्र सामाजिक जीवनयापन करने में विश्वास करते थे। उनका विश्वास था कि आध्यात्मिक उपलब्धियों के लिए भौतिक जीवन का परित्याग करने की आवश्यकता नहीं है। उनके अनुसार सभी धर्म सत्य या सही हैं। यह संप्रदाय किसी मंदिर, पूजा-स्थल या पवित्र स्थान को नहीं मानता था। यह ईश्वर के प्रति आस्था, दान कार्य, सेवा भाव और ईश्वर-भक्ति एवं प्रार्थना को मनुष्य के अनिवार्य कर्तव्य मानता था।

मद्रास हिन्दू संगठन *(Madras Hindu Sangthan)*

19वीं शताब्दी के मद्रास प्रांत में दो हिन्दू संगठन प्रमुख थे– पहला, 1892 ई. में वीरेशलिंगम पंतुलु (1848-1939 ई.) द्वारा स्थापित 'मद्रास हिन्दू सामाजिक सुधार समिति' और दूसरा, एनी बेसेंट द्वारा स्थापित 'मद्रास हिन्दू समिति'। पंतुलु की हिन्दू समिति ने एक सामाजिक शुद्धतावादी आंदोलन चलाया और तत्कालीन सामाजिक अंधविश्वासों और देवदासी प्रथा का कड़ा विरोध किया। दूसरी ओर, राष्ट्रीय आधार पर हिन्दू सभ्यता के आदर्शों के अनुरूप हिन्दुओं का धार्मिक एवं सामाजिक उत्थान करना एनी बेसेंट के संगठन का प्रमुख उद्देश्य था।

19वीं सदी के सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलन के केन्द्र में महिलाएँ *(Women in the Centre of Socio-Religious Movements of 19th Century)*

आधुनिक विचारधारा एवं दृष्टिकोण से 19वीं सदी के समाज सुधारकों को प्रगतिशील सामाजिक तत्वों के प्रचार-प्रसार एवं विकास हेतु भरपूर प्रोत्साहन मिला। समाज सुधार के क्रम में सुधारकों का ध्यान तत्कालीन सामाजिक व्यवस्था के विभिन्न पक्षों की ओर गया। इसी क्रम में महिलाओं की दशा में सुधार का प्रश्न एक प्रमुख चुनौती के रूप में सामने आया। इसी सदी में ईसाई मिशनरियों एवं पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त बुद्धिजीवियों ने महिलाओं की पतनोन्मुख दशा के उन्नयन के लिए अनेक प्रयास आरंभ किये। इस दिशा में सबसे पहला कदम राजा राममोहन राय ने उठाया।

तत्कालीन भारतीय समाज में महिलाओं से संबंधित अनेक सामाजिक बुराइयाँ व्याप्त थीं, यथा बाल-विवाह, शिशु-हत्या, सती-प्रथा, विधवाओं की दयनीय दशा तथा निम्न-स्तरीय नारी शिक्षा आदि। आरंभ में ब्रिटिश सरकार ने इनमें से कुछ बुराइयों को समाप्त करने के लिये कुछ कदम भी उठाये। उदाहरण के लिए, 1793 एवं 1804 ई. के बंगाल रेगुलेशन एक्ट (Bengal Regulation Act) द्वारा शिशु-हत्या पर प्रतिबंध लगाने का प्रयास किया गया, किंतु ये सभी कदम और प्रयास अप्रभावी रहे और महिलाओं से संबंधित कुरीतियाँ समाज में जस की तस बनी रहीं। महिलाओं की दशा में सुधार लाने के लिए सर्वप्रथम संगठित प्रयास राजा राममोहन राय ने किया। उन्होंने वैचारिक आंदोलन चलाये जाने के साथ-साथ व्यावहारिक स्तर पर भी कई प्रयास किये। उन्होंने बहुविवाह, कुलीनवाद तथा सती-प्रथा आदि का विरोध करने के अलावा स्त्रियों को संपत्ति में उत्तराधिकारी बनाने की भी वकालत की। उनके निरंतर प्रयासों का ही परिणाम था कि लॉर्ड विलियम बैंटिक ने 4 दिसम्बर, 1829 ई. को अधिनियम-17 (Act-XVII) पारित कर सती-प्रथा को गैर-कानूनी घोषित कर दिया। समकालीन समाज सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने विधवा-विवाह को सामाजिक एवं कानूनी मान्यता दिलाये जाने के लिए आजीवन प्रयास किया। उनके प्रयासों का ही प्रतिफल था कि 1856 ई. में हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह कानून (Hindu Widows' Remarriage Act, 1856) बनाया गया। इस प्रकार सती-प्रथा के उन्मूलन की तार्किक परिणति हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह कानून के रूप में देखी जा सकती है। इसकी व्याख्या दो आधारों पर की जा सकती है– एक, सती-प्रथा के उन्मूलन के साथ ही समाज सुधार के लिये सरकारी विधि-निर्माण का माहौल तैयार हुआ, और दूसरा, सती-प्रथा के वास्तविक उन्मूलन के लिए विधवाओं की दशाओं में सुधार होता दिखाई देने लगा।

नारी शिक्षा के विकास के लिये कदम भी इसी काल में उठाये गये। इसमें ईसाई मिशनरियों की भूमिका महत्त्वपूर्ण रही। कलकत्ता में स्त्री-शिक्षा के विस्तार के लिए 'तरुण स्त्री सभा' का गठन हुआ। बंबई में एलफिंस्टन कॉलेज के छात्रों ने भी नारी शिक्षा के विकास हेतु कदम उठाए। इन्हीं दिनों बेथुन स्कूल की स्थापना हुई, जिसके निरीक्षक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने लगभग 35 बालिका विद्यालयों की स्थापना की। बाल-विवाह के उन्मूलन के लिये भी सुधारकों द्वारा प्रयास किये गये तथा उनके प्रयासों के फलस्वरूप सरकार ने समय-समय पर बाल-विवाह उन्मूलन के लिये कानून बनाए। उदाहरण के लिये, बी. एन. मालाबारी के प्रयास से 1891 ई. में एज ऑफ कंसेंट बिल (Age of Consent Bill, 1891) पारित हुआ। इस कानून के आधार पर 12 वर्ष या उससे कम आयु की बालिकाओं का विवाह निषिद्ध कर दिया गया। सन् 1872 ई. में ब्रह्म मैरिज एक्ट (Brahmo Marriage Act, 1872) पारित हुआ, जिसके प्रावधानों के अनुसार 14 वर्ष से कम आयु की बालिकाओं का विवाह कानून-विरुद्ध घोषित कर दिया गया। तदोपरांत महिलाओं की दशा में सुधार के लिये लाया गया एक प्रमुख कानून था–1930 ई. का शारदा एक्ट (Sharda Act, 1930)। इस कानून द्वारा विवाह-योग्य पुरुषों की न्यूनतम आयु 18 वर्ष तथा महिलाओं की 14 वर्ष निर्धारित कर दी गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि 19वीं शताब्दी में महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिये निरंतर प्रयास किये जाते रहे, लेकिन इसके साथ ही हमें यह भी स्वीकार करना पड़ेगा कि ये सुधार कुछ क्षेत्रों तक ही सीमित रहे। जहाँ तक इन कानूनों का सवाल है तो ये इन कुरीतियों की व्यापकता को रोकने के लिए कोई अधिक कारगर सिद्ध नहीं हुए क्योंकि कानूनों का क्रियान्वयन कराने वाले अफसर तंत्र के प्राथमिक कार्यों में अंग्रेज़ी शासन को सुदृढ़ता प्रदान करने वाले कारकों का संवर्द्धन करना था, न कि समाज सुधार जैसे कार्यों में दखलंदाजी करना।

महिला सुधार कार्यक्रमों की सीमाएँ *(Limitations of Women's Reform Movements)*

महिलाओं की स्थिति में सुधार के लिए 19वीं शताब्दी में कई विचारकों तथा अंग्रेज़ी सरकार द्वारा प्रयास किये गए, परंतु इन प्रयासों की अपनी सीमाएँ थीं। इनमें प्रमुख थीं–

1. इन सुधारवादी आंदोलनों की पहल अभिजात्यवादी पुरुषों द्वारा की गई। इसलिए इन सुधारकों ने महिलाओं के जीवन से संबंधित महज कुछ ही कुरीतियों पर प्रहार किया और वे सामाजिक मर्यादा तथा पारिवारिक मर्यादा के उल्लंघन के विरोधी थे अर्थात् वे स्त्रियों की दशा में सुधार के पक्ष में थे, किंतु स्त्री स्वाधीनता के पक्षधर नहीं थे।
2. समाज सुधार की प्रक्रिया एक औपनिवेशिक शासन के अंतर्गत चल रही थी, अतः इसकी अपनी सीमाएँ थीं।
3. विभिन्न धर्मों से संबद्ध सुधार संस्थाएँ अलग-अलग ढंग से महिलाओं की दशा का अवलोकन कर रही थीं अर्थात् वे अपने संप्रदाय से बँधकर इस समस्या पर विचार कर रही थीं।

कुल मिलाकर किसी भी संस्था ने धर्म, संप्रदाय तथा वर्ग से ऊपर उठकर सार्वभौमिक रूप में महिलाओं की दशाओं के सम्बन्ध में विचार नहीं किया। स्वतंत्रता के पश्चात् भी महिलाओं से संबंधित समस्याएँ धर्म एवं संप्रदाय की सीमाओं में ही बँधकर रह गईं। बहरहाल, हमारी संवैधानिक घोषणा के बावजूद, एकसमान आचार-संहिता (Uniform Civil Code) का निर्माण आज भी नहीं हो सका है।

निष्कर्षतः हम कह सकते हैं कि विधि-निर्माण के बावजूद इन कानूनों का वास्तविक क्रियान्वयन बहुत ही सीमित रहा। उदाहरण के लिये, 19वीं सदी में महज 38 विधवाओं का विवाह हुआ। इसी प्रकार, सती-प्रथा के उन्मूलन के लिए विधि-निर्माण के बावजूद सती-प्रथा के प्रति लोगों में आदर भाव बना रहा और किसी-न-किसी रूप में साहित्य, मिथक अथवा कल्प-कथाओं के माध्यम से इसका आदर्शीकरण होता ही रहा।

महिलाओं से जुड़ी तत्कालीन सामाजिक कुरीतियाँ *(Erstwhile Social Evils Associated with Women)*

उन्नीसवीं शताब्दी के भारतीय समाज में महिलाओं से जुड़ी अनेक कुरीतियाँ एवं बुराइयाँ व्याप्त थीं। इनमें से कुछ का विवरण निम्नलिखित है–

1. सती-प्रथा (*Suttee*) : सती अर्थात् पवित्र 'साध्वी स्त्री' शब्द का प्रयोग उस पत्नी के लिए प्रयोग किया जाता था जो अपने पति के साथ शाश्वत एवं निर्विघ्न रूप से जन्म-जन्मांतर तक रहना चाहती थी और उसके प्रमाण के रूप में पति की मृत्यु के बाद उसकी चिता पर उसके शव के साथ आत्मदाह कर लेती थी। मध्यकाल में अकबर और मराठा पेशवाओं ने अपने राज्य में इस क्रूर प्रथा पर रोक लगायी। ब्रिटिश शासन के दौरान अंग्रेज़ों की नीति इस प्रथा के प्रति तटस्थता की ही रही। फिर भी लॉर्ड कार्नवालिस, लॉर्ड मिंटो तथा लॉर्ड हेस्टिंग्स जैसे गवर्नर जनरलों ने प्रथा को सीमित करने का प्रयत्न किया और सती बनने के लिए बाध्य करने, विधवाओं को मादक पदार्थ देकर सती होने के लिए विवश करने, गर्भवती स्त्रियों को और 16 वर्ष से कम आयु की बालिकाओं को सती होने से रोकने हेतु अनेक प्रयास किए। इन प्रयासों में सबसे महत्वपूर्ण बात यह थी कि इस प्रकार की क्रूर बलि दिए जाने संबंधी कोई भी समाचार मिलते ही पुलिस अधिकारियों का मौके पर पहुँचना आवश्यक बना दिया गया ताकि लोग किसी को भी सती होने के लिए विवश न कर सकें। तथापि, ये सभी प्रयत्न अपर्याप्त एवं असफल रहे। सती-प्रथा के विरुद्ध शुरुआती प्रभावशाली आंदोलन राजा राममोहन राय ने चलाया। सन् 1833 ई. के चार्टर के नवीनीकरण पर संसद में होने वाली बहस पर कम्पनी के डायरेक्टरों ने विलियम बेंटिक को यह सुझाव दिया कि वे इस प्रथा के उन्मूलन के लिए प्रभावशाली कदम उठायें। अतः उसने 1829 ई. में अधिनियम-17 (Act-XVII) के अनुसार विधवाओं को जीवित जलाने की प्रथा पर रोक लगा दी और ऐसे मामलों में सती होने के लिए प्रेरित करने वाले व्यक्तियों को सदोष मानव-हत्या (Culpable Homicide) का आरोपी माना गया। आरंभ में यह नियम केवल बंगाल के लिए था, लेकिन 1870 ई. में यह अधिनियम बम्बई और मद्रास में भी प्रभावी हो गया।
2. शिशु-वध (*Infanticide*) : यह प्रथा मध्यकाल से ही विशेष रूप से बंगालियों एवं राजपूतों में प्रचलित थी। इसके तहत बालिकाओं को आर्थिक तथा सामाजिक प्रतिष्ठा के विरुद्ध मानकर बचपन में ही उनकी हत्या कर दी जाती थी। इस प्रकार की हत्या का जो सामान्य प्रचलित तरीका था, वह था– मादा शिशुओं को मादक पदार्थ देकर अथवा भूखा रखकर मार देना। इस संदर्भ में महाराजा रणजीत सिंह के पुत्र दिलीप सिंह ने लिखा– "मैंने स्वयं अपने आँखों के सामने अपनी बहनों को बोरी

Copyright – Drishti The Vision Foundation

में बंद करके नदी में फेंकते हुए देखा।" सन् 1795 के बंगाल विनियमन अधिनियम–XXI (Bengal Regulation Act–XXI of 1795) तथा सन् 1804 के बंगाल राज्य अपराध विनियमन–III (Bengal State Offences Regulation–III of 1804) से शिशु-हत्या को साधारण हत्या के समान ही मान लिया गया।

3. **विधवा-पुनर्विवाह (*Widow Remarriage*)** : विधवाओं के पुनर्विवाह के बारे में सामाजिक जागरूकता लाने का प्रयास सबसे पहले ब्रह्म समाज द्वारा किया गया, किंतु इस दिशा में सबसे क्रांतिकारी एवं प्रभावशाली शुरुआत ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने की। उन्होंने प्राचीन भारतीय शास्त्रों के आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास किया कि प्राचीन भारतीय संस्कृति विधवाओं को पुनर्विवाह की अनुमति देती है। उन्होंने एक हजार हस्ताक्षरों से अनुमोदित एक प्रार्थना-पत्र भारत सरकार को भेजा और अंत में हिन्दू विधवा पुनर्विवाह अधिनियम, 1856 (Hindu Widow Remarriage Act, 1856) के अधिनियम 15 से विधवा-विवाह को वैध मान लिया गया और इस विवाह से उत्पन्न हुए बच्चों को वैध घोषित किया गया। सरकार ने सिविल मैरिज एक्ट, 1872 (Civil Marriage Act, 1872) द्वारा 14 वर्ष के कम आयु की कन्याओं तथा 18 वर्ष से कम आयु के लड़कों के विवाह तथा बहुपत्नी विवाह (Polygamy Marriage) पर रोक लगा दी।

4. **नारी शिक्षा (*Female Education*)** : भारत में वैदिक काल के बाद स्त्रियों की शिक्षा के स्तर में निरंतर ह्रास होता चला गया। 19वीं शताब्दी तक आते-आते नारी शिक्षा की स्थिति अत्यंत शोचनीय हो गयी। इस काल में एक मनगढ़ंत जनश्रुति प्रचलित थी कि हिन्दू शास्त्रों में स्त्री-शिक्षा की अनुमति नहीं है और शिक्षित स्त्री को देवता लोग वैधव्य का दंड देते हैं। ईसाई धर्म-प्रचारकों ने सर्वप्रथम नारी शिक्षा के लिए अथक प्रयास किए। उन्होंने 'कलकत्ता तरुण स्त्री सभा' की स्थापना की। सरकारी शिक्षा परिषद के अध्यक्ष जे.ई.डी. बेटन ने कलकत्ता में बालिका विद्यालय स्थापित किया। समाज सुधारक ईश्वरचंद्र विद्यासागर ने महिला शिक्षा के प्रति अपना अप्रतिम योगदान दिया। उन्होंने बंगाल में लगभग 35 बालिका विद्यालयों की स्थापना की। बम्बई के एलफिंस्टन इंस्टीट्यूट के विद्यार्थियों ने नारी शिक्षा के प्रति जागरूकता पैदा करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। इसके लिए उन्होंने 'स्टूडेंट्स लाइब्रेरी' एवं 'साइंटिफिक सोसायटी' की स्थापना की। आगे चलकर वुड्स डिस्पैच, 1854 (Wood's Despatch, 1854) में आधिकारिक तौर पर पहली बार नारी शिक्षा पर ध्यान दिया गया।

19वीं शताब्दी के प्रमुख स्त्री-समाज सुधारक

- **पंडिता रमाबाई (1858-1922 ई.)**: पंडिता रमाबाई का अविस्मरणीय योगदान स्त्री शिक्षा तथा महिला अधिकारों के प्रति लोगों में जागरूकता लाने के लिए रहा। उन्होंने भारत में पहली बार विधवाओं की शिक्षा के लिए प्रयास किया जो कि उनका महानतम योगदान माना जाता है।
- **बहिन सुब्बालक्ष्मी (1886-1969 ई.)** : बहिन सुब्बालक्ष्मी मद्रास प्रेसीडेंसी की प्रथम हिन्दू विधवा थीं जिन्होंने स्नातक स्तर तक शिक्षा ग्रहण की। इन्होंने बाल-विधवाओं के कल्याण के लिए उच्च स्तरीय प्रयास किए। इन्होंने बाल-विधवाओं के लिए विधवा-गृहों, महिला विद्यालयों और एक अध्यापिका प्रशिक्षण संस्थान की स्थापना की। इन्होंने 18 वर्ष तक की आयु की बाल-विधवाओं के लिए आइस हाउस (Ice House) तथा वयस्क विधवाओं के लिए 'शारदा विद्यालय' नामक एक हाईस्कूल की स्थापना की। सुब्बालक्ष्मी भारतीय महिला संघ (Women's India Association) और अखिल भारतीय महिला सम्मेलन (All-India Women's Conference) के साथ भी घनिष्ठ रूप से जुड़ी थीं। उन्होंने बाल-विवाह निषेध संबंधी कानून के समर्थन में महत्वपूर्ण कार्य किया।
- **गंगाबाई (महारानी तपस्विनी)** : महारानी तपस्विनी के नाम से प्रसिद्ध गंगाबाई दक्षिण भारतीय महिला थीं, जो हिन्दू धार्मिक एवं नैतिक सिद्धांतों के अनुरूप महिला शिक्षा का प्रचार-प्रसार करने के उद्देश्य से कलकत्ता में आकर बस गयी थीं। इनका विश्वास था कि हिन्दू समाज को उसके अंदर से पुनर्जीवित किया जाना चाहिए और इसके लिए नारी शिक्षा अत्यावश्यक है। इन्होंने 1893 ई. में कलकत्ता में महाकाली पाठशाला की स्थापना की। इस पाठशाला की अनेक शाखाएँ थीं। उनके इस प्रयास को महिला शिक्षा को विकसित करने का विशुद्ध भारतीय प्रयास कहा गया है।
- **ईश्वरचंद्र विद्यासागर (1820-1891 ई.)** : ईश्वरचंद्र विद्यासागर बंगाल के एक सुविख्यात विद्वान एवं समाज सुधारक थे। बंगाल में सामाजिक चेतना लाने में उनका योगदान अविस्मरणीय है। ये कलकत्ता में संस्कृत कॉलेज के प्राचार्य भी थे। इन्होंने गैर-ब्राह्मणों को संस्कृत अध्ययन के लिए प्रोत्साहित किया और ब्राह्मण एकाधिकार को चुनौती दी। इन्होंने सामाजिक क्षेत्र में विधवा-विवाह हेतु लंबा आंदोलन चलाकर और उसे कानूनी मान्यता दिलवाकर बहुत महत्वपूर्ण योगदान दिया। 1855-56 ई. के मध्य 25 विधवाओं का पुनर्विवाह कराकर इन्होंने उस समय की सामाजिक धारा को मोड़ने का काम किया। 1855 ई. में इन्होंने 984 लोगों की हस्ताक्षरित याचिका कंपनी सरकार को विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम बनाने हेतु दी। इसके फलस्वरूप लॉर्ड डलहौजी की कार्यकारिणी के सदस्यों ने अंततः 26 जुलाई, 1856 को विधवा-पुनर्विवाह अधिनियम पारित कर दिया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **डी. के. कर्वे (1858-1962 ई.) :** पूना के फर्ग्युसन कॉलेज के प्राध्यापक डॉ. डी. के. कर्वे महिलाओं की दशा सुधारने की दृष्टि से सर्वाधिक लंबे समय और सबसे अधिक कार्य करने वाले महानतम समाज सुधारक के रूप में जाने जाते हैं। डॉ. कर्वे ने विधवा-पुनर्विवाह को प्रोत्साहन तो दिया ही, साथ ही पुणे में अनेक महिला विद्यालयों तथा विधवा-गृहों की स्थापना भी की। इन्होंने स्वयं एक विधवा ब्राह्मणी से विवाह किया तथा पूना में विधवा आश्रम की स्थापना की। उसका मानना था कि 'विधवाओं को ऐसी व्यावसायिक शिक्षा दी जानी चाहिए जिससे कि वे आर्थिक रूप से आत्मनिर्भर हो सकें और अपने बारे में सोचने के लिए सक्षम हो सकें।' 1916 ई. में प्रथम महिला विश्वविद्यालय की स्थापना करने का श्रेय भी उन्हीं को जाता है।
- **विष्णु शास्त्री पंडित :** महाराष्ट्र के प्रसिद्ध समाज सुधारक विष्णु शास्त्री पंडित का पूरा जीवन विधवाओं के कल्याण के लिए संघर्षरत रहा। इन्होंने 'विधवा विवाह' नामक पुस्तक का मराठी में अनुवाद किया। इसके साथ ही 1850 ई. में उन्होंने विधवा-पुनर्विवाह सभा (Widow Remarriage Association) की स्थापना की।

मुस्लिम सुधार आंदोलन *(Islamic Reform Movements)*

यह सर्वमान्य तथ्य है कि 18वीं शताब्दी के आरंभिक वर्षों से ही मुगल साम्राज्य की क्षीणता के संकेत मिलने लगे थे। दरअसल, इस शताब्दी के उत्तरार्ध में अंग्रेज़ों ने मुगल साम्राज्य के आर्थिक एवं राजनीतिक प्रभुत्व को लगभग पूरी तरह विनष्ट कर दिया था। दूसरी ओर, अब पूरे महाद्वीप में कोई भी मुस्लिम शक्ति शेष नहीं बची थी जो कि अंग्रेज़ों के आधिपत्य को चुनौती दे सकती। 1857 ई. के विद्रोह के बाद ब्रिटिश सरकार द्वारा जो मुस्लिम-विरोधी नीतियाँ अपनायी गईं उनसे भारतीय मुसलमानों की स्थिति और भी सोचनीय हो गई। इसने उनकी ब्रिटिश-विरोधी भावना को और तेज़ कर दिया। फलत: वे अंग्रेजों द्वारा समाज सुधार के किसी भी प्रयत्न से बचने लगे और उनका रूढ़िवादी इस्लामिक दृष्टिकोण और भी उग्र होता गया। इसके परिणामस्वरूप भारतीय मुसलमानों की सामाजिक, राजनीतिक एवं आर्थिक स्थिति और भी कमजोर होती चली गई।

भारत में मुस्लिम सुधार आंदोलन उस प्रतिक्रिया के परिणामस्वरूप उभरे जो इस्लाम में व्याप्त अनीतियों, अवांछनीयताओं, अंधविश्वासों एवं रूढ़िवादिता के विरुद्ध आरंभ हुआ। समय-समय पर मुस्लिम सुधारकों द्वारा विभिन्न आंदोलन भी चलाए गए, जैसे- पुनरुत्थानवादी एवं धार्मिक आंदोलन। ये आंदोलन हिन्दुओं द्वारा चलाये गये आंदोलनों के समान प्रभावकारी नहीं रहे तथा इनमें राष्ट्रीयता का भी अभाव था। भारत में हुए मुस्लिम सुधारवादी आंदोलनों का विवरण इस प्रकार है–

- **अलीगढ़ आंदोलन (*Aligarh Movement*) :** 1857 ई. के विद्रोह को भारतीय इतिहास में एक ऐसी विभाजक रेखा माना जाता है जो आधुनिक युग से पूर्व के रूढ़िवादी आंदोलनों को आधुनिककालीन आधुनिकतावादी, सुधारवादी और पारम्परिक आंदोलनों से अलग करती है। इस विद्रोह के बाद अंग्रेज़ों द्वारा चलाये गये दमनचक्र ने उत्तर भारत के मुसलमानों की स्थिति को और चिंताजनक बना दिया। सरकार की यह आम धारणा बन गयी थी कि 1857 ई. के षड्यंत्र के लिए केवल मुसलमान ही उत्तरदायी हैं और यह एक बेहद षड्यंत्रकारी कौम है। 1860-70 ई. के आसपास हुए वहाबी आंदोलन (Wahabi Movement) ने सरकार की यह अवधारणा और दृढ़ कर दी। 1870 ई. के बाद डब्ल्यू. डब्ल्यू. हंटर ने अपनी पुस्तक 'इंडियन मुसलमान' में सुझाव दिया कि अंग्रेजों को मुसलमानों से समझौता करना चाहिए और निश्चित रियायतें देकर उन्हें अंग्रेज़ी सरकार की ओर मिलाना चाहिए। मुसलमानों का एक वर्ग, जिसके नेता सैय्यद अहमद खाँ थे, सरकार के इस संरक्षणपूर्ण रुझान से प्रभावित होकर अंग्रेज़ों को सहयोग देने के लिए तत्पर हो गया।

  सन् 1857 के विद्रोह के समय सर सैय्यद अहमद खाँ कंपनी की न्यायिक सेवा में थे तथा कंपनी के प्रति निष्ठावान भी थे। उनके द्वारा संपादित एवं प्रकाशित 'तहजीब उल अखलाक' (सभ्यता और नैतिकता) में उनके विचारों से उनके बौद्धिक एवं प्रगतिशील मानसिकता का परिचय मिलता है। सेवानिवृत्ति के बाद उन्होंने समाज सुधार को अपना कार्यक्षेत्र बनाया। उन्होंने इस्लाम में विद्यमान सामाजिक कुरीतियों को दूर करने का प्रयत्न भी किया। उन्होंने 'पीरी-मुरीदी प्रथा' (इस्लाम में वह परम्परा जिसमें पीर लोग अपने मुरीदों को कुछ रहस्यमय शब्द देकर गुरु बन जाते थे) का विरोध किया। साथ ही, उन्होंने दास-प्रथा को इस्लाम के सिद्धांतों के खिलाफ बताया। सर सैय्यद अहमद खाँ का मत था कि तार्किक दृष्टिकोण तथा वैज्ञानिक विधियाँ मुस्लिम समाज को सुधारने में उपयोगी हो सकती हैं। अत: वे इस नतीजे पर पहुँचे कि केवल पाश्चात्य शिक्षा पाकर ही मुस्लिम समुदाय पिछड़ेपन से निजात पा सकता है और अपने शासकों के साथ समझौता कर सकता है।

  महारानी विक्टोरिया के जन्मदिवस 24 मई, 1875 को उन्होंने ब्रिटिश सरकार के समर्थन से अलीगढ़ में एक मुस्लिम ऐंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज की स्थापना की। यही कॉलेज आगे चलकर 1920 ई. में अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय के रूप में विकसित हुआ। अलीगढ़ आंदोलन के प्रमुख उद्देश्यों में से एक उद्देश्य मुसलमानों को कांग्रेस से दूर रखना था। जब 1887 ई. में बदरुद्दीन तैय्यब जी कांग्रेस के अध्यक्ष चुने गये तो सैय्यद अहमद खाँ ने उनका विरोध किया। उनका विचार था कि हिन्दू-मुस्लिम मित्रता से केवल मुस्लिम समुदाय की ही हानि होगी क्योंकि वे संख्या में कम, शैक्षिक रूप से पिछड़े, राजनीतिक रूप से अपरिपक्व एवं आर्थिक रूप से असुरक्षित हैं। सांप्रदायिक तथा अलगाववादी राजनीति का सूत्रपात इसी समय से माना जाता है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **अहमदिया आंदोलन (*Ahmadiyya Movement*)** : आर्य समाज एवं ईसाई धर्म-प्रचारकों के विरुद्ध तथा इस्लाम में व्याप्त बुराइयों के उन्मूलन के लिए कादियान (पंजाब) के मिर्जा गुलाम अहमद ने 1889 ई. में अहमदिया आंदोलन आरंभ किया। गुलाम अहमद पश्चिमी उदारवाद, ब्रह्म विद्या तथा हिन्दुओं के धार्मिक सुधार आंदोलन से अत्यधिक प्रभावित थे। और तो और, उन्होंने स्वयं के मसीहा होने का भी दावा किया था। उन्होंने स्वयं को कृष्ण और ईसा मसीह का अवतार भी बताया। वस्तुतः यह आंदोलन इस्लाम की सीमाओं के भीतर सुधार आंदोलन था। ब्रह्म समाज की ही तरह अहमदिया आंदोलन समस्त मानव जाति के सर्वव्यापक धर्म-सिद्धांतों पर आधारित था।
- **देवबंद आंदोलन (*Deoband Movement*)** : मोहम्मद कासिम ननौतवी तथा रसीद अहमद गंगोही ने 1866 ई. में देवबंद में इस्लामी मदरसे की स्थापना की। इस मदरसे से जुड़े लोगों का संबंध केवल शिक्षा और चरित्र-निर्माण से जुड़ी समस्याओं से संबंधित था। जहाँ तक राजनीतिक रुझान की बात है, रसीद अहमद गंगोही ने भारत के मुस्लिम समुदाय के लोगों को कांग्रेस को सहयोग देने का सुझाव दिया। देवबंद मदरसे ने स्पष्ट रूप से यह घोषणा की कि राष्ट्रीयता का विचार सभी धर्मानुयायियों की एकता पर निर्भर करता है। अतः इसे किसी भी मुस्लिम सिद्धांत के विरुद्ध नहीं माना जा सकता। देवबंद की इस सैद्धांतिक विचारधारा से सैय्यद अहमद खाँ के अलीगढ़ आंदोलन के बीच मतभेद उत्पन्न हो गया। देवबंद स्कूल के समर्थकों में शिबली नूमानी जैसे फारसी एवं अरबी के विद्वान थे। ये परम्परागत मुस्लिम शिक्षा-प्रणाली के स्थान पर अंग्रेजी भाषा तथा वैज्ञानिक शिक्षा के पक्षधर थे। शिक्षा संबंधी अपने विचारों को यथार्थ स्वरूप प्रदान करने के विचार से उन्होंने 1894-95 ई. में लखनऊ में दारुल उलूम नद्वतुल-उलमा की स्थापना की। उन्होंने कांग्रेस की प्रशंसा की और मुसलमानों से मातृभूमि के प्रति सदा निष्ठावान रहने की अपील की। इस परंपरा के अन्य विद्वान महमूद उल हसन थे। इस शाखा के धार्मिक विचारों को राजनीतिक तथा बौद्धिक रंग देने के प्रयत्न हेतु महमूद उल हसन का नाम उल्लेखनीय है।

उपर्युक्त मुस्लिम सुधार आंदोलनों का परिणाम यह हुआ कि शहरी मुस्लिम वर्ग ने आधुनिक जीवनशैली को अपनाना आरंभ कर दिया। इस काल में विभिन्न हिन्दू-मुस्लिम विचारधाराओं के मध्य स्पष्ट मतभेद भी उभरकर सामने आए। दूसरा महत्वपूर्ण पहलू यह है कि हिन्दू व मुस्लिम दोनों संप्रदायों के बीच सामाजिक सुधारों व प्रगति तथा विकास के बारे में एक सुनिश्चित दृष्टिकोण विकसित करने में इन आंदोलनों की भूमिका अविस्मरणीय थी। इस प्रकार इस दौर की प्रमुख सामाजिक तथा राजनीतिक गतिविधियों को देखते हुए यह कहा जा सकता है कि इन आंदोलनों ने भारतीय मुसलमानों में पुनर्जागरण लाने तथा मुस्लिम समाज के पुनरुत्थान में भरपूर सहयोग किया।

सिख सुधार आंदोलन *(Sikh Reform Movements)*

इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि 19वीं सदी के सामाजिक एवं धार्मिक पुनर्जागरण आंदोलनों का प्रभाव सिख संप्रदाय पर भी पड़ा। सिख धर्म में व्याप्त अंधविश्वास, रूढ़िवादिता तथा अवांछनीयताओं का उन्मूलन करने की दृष्टि से ये सुधार आंदोलन काफी प्रभावी सिद्ध हुए। इस काल के प्रमुख सिख आंदोलनों की सूची नीचे दी गई है-

- **निरंकारी आंदोलन (*Nirankari Movement*)** : निरंकारी आंदोलन की स्थापना बाबा दयाल दास (1783-1855 ई.) ने मूल सिख धर्म के अनुसार जीवनयापन एवं निरंकार की साधना के आधार पर किया। निरंकार का अर्थ ही 'निराकार ईश्वर की पूजा' होता है। अतः इस आंदोलन ने प्रगतिशील सुधारों, जैसे ज्योतिष एवं पंचांग में विश्वास न करना, मांस भक्षण न करना, मद्यपान न करना, जन्म, विवाह, मृत्यु आदि अवसरों पर साधारण कर्मकाण्ड करना इत्यादि का प्रतिपादन किया। केशधारियों, सहजधारियों एवं अन्य संप्रदाय के व्यक्तियों हेतु भी निरंकारी संप्रदाय के द्वार खुले रहे।
- **नामधारी आंदोलन (*Namdhari Movement*)** : पंजाब में 19वीं शताब्दी में हुए कूका आंदोलन (Kuka Movement) की एक परवर्ती शाखा को ही नामधारी आंदोलन का नाम दिया गया। इस आंदोलन के संस्थापक बाबा राम सिंह (1816-1885 ई.) और उनके शिष्य बालक सिंह थे। सन् 1857 में बाबा राम सिंह ने नामधारी आंदोलन की स्थापना की, उन्होंने गुरु गोविंद सिंह द्वारा शुरु किये गये खालसा पंथ की स्थापना एवं उद्देश्यों की तर्ज पर ही इस आंदोलन का गठन किया। नामधारी आंदोलन ने महिलाओं की स्थिति सुधारने के लिये कई प्रयास किए, यथा महिलाओं की समानता की माँग, विधवाओं के पुनर्विवाह की मान्यता, दहेज-प्रथा का अंत तथा बाल-विवाह उन्मूलन आदि। नामधारियों ने ब्रिटिश भारतीय सेना के सिख सैनिकों के बीच अपनी विचारधारा का प्रचार-प्रसार करने के लिए धर्म-प्रचारक भेजे। परिणामतः अंग्रेज इस आंदोलन के प्रति बहुत आशंकित व सचेत हो गये। नामधारी आंदोलनकारी भारत की स्वतंत्रता के लिए निरंतर संघर्षरत रहे तथा ब्रिटिश नीतियों का विरोध करते रहे।
- **सिंह सभा (*Singh Sabha*)** : तात्कालिक सामाजिक बुराइयों के विरोध में ठाकुर सिंह संधावालिया तथा ज्ञान सिंह के नेतृत्व में 1 अक्टूबर, 1873 को अमृतसर में 'सिंह सभा' की स्थापना की गई। इस सभा का उद्देश्य सिख धर्म के मूलस्वरूप के आधार पर जीवनयापन हेतु प्रेरित करना था। इस सभा को प्रजातांत्रिक आधार पर गठित किया गया था और इसका संचालन

Copyright – Drishti The Vision Foundation

एक निर्वाचित कार्यकारी समिति द्वारा किया जाता था। सिंह सभा ने 'गुरु ग्रंथ साहिब' के संपादन का कार्य पहले स्वयं अपने हाथ में लिया, फिर इसके निष्पादन के लिए 'गुरमत ग्रंथ प्रचारक सभा' का गठन किया।

अमृतसर की सिंह सभा का अनुकरण करते हुए 'लाहौर सिंह सभा' नामक एक नए संगठन की भी स्थापना की गई। इसके अतिरिक्त 'खालसा दीवान' नामक संस्था की स्थापना अमृतसर में की गई। यद्यपि विचारधारा के स्तर पर लाहौर एवं अमृतसर की सभाओं में व्यापक मतभेद था, फिर भी एक सिख महाविद्यालय की स्थापना हेतु दोनों ने आपस में सहयोग किया। सिख धर्म-सुधारकों ने 1905 ई. में स्वर्ण मंदिर को ब्राह्मणों, पुरोहितों, मूर्तियों, हिन्दू कर्मकाण्डों आदि से मुक्त किया। इस कृत्य से यह माना जाने लगा कि सिख अपनी धार्मिक पहचान हिन्दुओं से अलग रखते हैं।

- गुरुद्वारा सुधार आंदोलन (*Gurdwara Reform Movement*) : गुरुद्वारों पर सन् 1920 से पहले भ्रष्ट महंतों का वर्चस्व एवं नियंत्रण स्थापित था। अंग्रेज़ों ने अपने हितों को बढ़ावा देने के लिए इन महंतों को अपना पूरा समर्थन प्रदान किया। साथ ही साथ इनका प्रयोग राष्ट्रीय आंदोलन को कमजोर करने के लिए भी किया। उस समय राष्ट्रवादी जन दो प्रमुख घटनाओं से गहरे आक्रोश में थे। पहला, अमृतसर में स्वर्णमंदिर के ग्रंथियों द्वारा गदर पार्टी के क्रांतिकारियों को विश्वासघाती कहते हुए उनके विरुद्ध आदेश जारी करना और दूसरा, जालियाँवाला बाग हत्याकांड की घटना के दोषी जनरल डायर को सरोपा भेंट कर सम्मानित करना।

यह आंदोलन मुख्यतः उन बड़े-बड़े गुरुद्वारों के भ्रष्ट महंतों के विरुद्ध था जो इन गुरुद्वारों को अपनी पैतृक संपत्ति मानते थे। 'सिंह सभा' द्वारा चलाया गया गुरुद्वारा सुधार आंदोलन एवं राष्ट्रवादियों के बढ़ते दबाव के कारण गुरुद्वारों का नियंत्रण नवंबर 1920 ई. में 'शिरोमणि गुरुद्वारा प्रबंधक कमेटी' नामक निर्वाचक समिति के पास आ गया। शीघ्र ही इस आंदोलन ने अकाली आंदोलन (Akali Movement) का रूप ले लिया। अकालियों ने 1921 ई. में गुरुद्वारों के उद्धार के लिये इन महंतों के विरुद्ध अहिंसात्मक असहयोग सत्याग्रह आंदोलन भी आरंभ किया। हालाँकि सरकार ने इसका दमन करना चाहा, परंतु लोकमत के सम्मुख सरकार को झुकना पड़ा। 1922 ई. में सरकार ने सिख गुरुद्वारा अधिनियम पारित किया, जिसे 1925 ई. में संशोधित किया गया। कालांतर में यह आंदोलन तीन धाराओं – उदारवादी तथा राष्ट्रवादी सुधारक, ब्रिटिश सरकार समर्थक और सिख सांप्रदायिकतावादी राजनीतिक मंच में बँट गया।

पारसी सुधार आंदोलन *(Zoroastrian Reform Movements)*

अंग्रेज़ी शिक्षाप्राप्त पारसियों द्वारा सन् 1851 ई. में पारसी सुधार आंदोलनों के अंतर्गत 'रहनुमाई मजद्यासन सभा' की स्थापना की गयी। पारसी समाज का पुनरुद्धार एवं पारसी धर्म की प्राचीन सभ्यता की पुनः स्थापना करना ही इस संस्था का प्रमुख उद्देश्य था। इस सभा ने पारसी समाज की स्त्रियों की स्थिति को सुधारने का प्रयास किया और पर्दा-प्रथा, बाल-विवाह आदि का भी विरोध किया। स्त्री शिक्षा एवं स्त्रियों की सामाजिक भूमिका को बढ़ावा देने हेतु भी इस संस्था का नाम उल्लेखनीय है। इस सभा ने 'रस्त गफ्तार' नामक पत्रिका के माध्यम से अपने विचारों को लोगों तक पहुँचाया। दादाभाई नौरोजी, नौरोजी फरदोन जी, के. आर. कामा, एस. एस. बंगाली आदि इसके महत्त्वपूर्ण नेता थे।

जाति आंदोलन *(Caste Movements)*

अंग्रेजी शासनकाल में पश्चिमी शिक्षा एवं विचारधारा के संपर्क में आने के परिणामस्वरूप भारत में नवीन चेतना की लहर प्रवाहित हुई। इस चेतना ने न केवल ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के शोषण-तंत्र से हमारा परिचय कराया वरन् अपने ही देश और समाज की पुरातनपंथी एवं रूढ़िवादी प्रवृत्तियों से हमें परिचित कराने में भी महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई। जातीय आधार पर विभाजन की प्रवृत्ति इन्हीं प्रवृत्तियों में से एक थी। इस क्रूर प्रवृत्ति से समाज इस तरह ऊँच-नीच की भावना से ग्रस्त हुआ कि ऊँची जातियाँ निचली जातियों को अस्पृश्य और अछूत तक मानने लगी थीं।

भारत में 19वीं शताब्दी में लागू की गई ब्रिटिश नीतियाँ प्रत्यक्षतः या परोक्षतः जाति आंदोलनों को बढ़ावा देने में सहायक रहीं। यद्यपि अंग्रेज़ी शासन ने जाति विभाजन को क्षीण करने के लिए जाति-निर्योग्यता अधिनियम, 1850 (Caste Disabilities Removal Act, 1850) एवं विशेष विवाह (संशोधन) अधिनियम, 1872 (Special Marriage Act, 1872) जैसे प्रावधान लाए, तथापि 1857 ई. के विद्रोह के बाद भारतीय समाज के प्रति अपनायी गयी कंपनी की अहस्तक्षेप की नीति ने इस स्थिति को ज्यों-का-त्यों रहने दिया। बाद में तो अंग्रेज़ों ने 'फूट डालो और शासन करो' (Divide and Rule) की नीति अपनाते हुए सांप्रदायिक भेदभाव की तर्ज पर जातिगत भेदभाव की प्रवृत्ति को बढ़ावा ही दिया। 1901 ई. की जनगणना के बाद ब्रिटिश सरकार ने सामाजिक मान्यताओं के आधार पर सामाजिक दर्जे या स्तर को स्वीकार किया। इससे अलगाववादी प्रवृत्ति और जातियों के बीच संघर्ष को अनुचित बढ़ावा मिला।

प्रशासनिक एकरूपता और भौगोलिक एकीकरण भी अंग्रेजों के कुछ ऐसे कदम थे जो जाति आंदोलनों के सूत्रपात में सहायक रहे। संचार एवं रेल-व्यवस्था ने भारत के विभिन्न क्षेत्रों के बीच संपर्क को बढ़ावा दिया, जिससे जाति आंदोलन की चेतना को विभिन्न क्षेत्रों में फैलने में सहायता मिली।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

विश्लेषण करने पर स्पष्ट होता है कि उत्तर भारत की तुलना में दक्षिण भारत में जाति आंदोलनों की स्थिति अधिक व्यापक एवं मजबूत रही। चूँकि दक्षिण भारत में वर्ण-व्यवस्था का विशिष्ट स्वरूप विद्यमान था, अतः ऐसा होना स्वाभाविक ही था। दक्षिण भारत में सामान्यतः उच्च (ब्राह्मण) और निम्न (अछूत) दो ही वर्ग थे। मध्यवर्गीय जातियों के अभाव में टकराव प्रत्यक्षतः सीधे-सीधे होता था। अत्यधिक कठोर जातीय एवं कर्मकांडीय शुद्धता ने दक्षिण भारत में इन आंदोलनों को मजबूत स्थिति प्रदान की।

जाति आंदोलनों की प्रकृति *(Nature of Caste Movements)*

जाति आंदोलनों की प्रकृति सुधारात्मक थी। ये जाति-व्यवस्था के अंतर्गत निम्न जातियों की वर्तमान स्थिति में सुधार के लिए ही चलाए गए आंदोलन थे। वैसे इस उद्देश्य से अनेक आंदोलनकारी संस्थाओं द्वारा सुधार कार्यक्रम भी चलाए गए। इनमें शिक्षा का प्रसार, महिलाओं की सामाजिक स्थिति में सुधार आदि प्रमुख थे। कुछ जाति आंदोलनों का स्वरूप क्रांतिकारी भी था। इन आंदोलनों ने परंपरागत सामाजिक व्यवस्था को पूर्णतः नकारते हुए आमूलचूल परिवर्तन पर बल दिया। इसीलिए उन्होंने धर्मशास्त्रों व ब्राह्मणों का भी विरोध किया। भीमराव अंबेडकर, ज्योतिबा फूले आदि के आंदोलनों में ये सभी विशेषताएँ विद्यमान थीं।

जाति आंदोलनों की एक महत्त्वपूर्ण विशेषता यह भी रही कि इनका स्वरूप लोकतांत्रिक था। सामाजिक समता, समानता एवं मानवीय गरिमा की प्रतिष्ठा पर बल देने वाले इन आंदोलनों ने अवर्णों तथा स्त्रियों के अधिकारों हेतु संघर्ष किया व उनकी स्वतंत्र स्थिति बहाल करने का प्रयास किया। इनके परिणामस्वरूप धार्मिक संस्थानों, मंदिरों एवं सार्वजनिक स्थलों में निचली जातियों के प्रवेश के लिए तो अनेक अभियान चलाए ही गए, साथ ही साथ निम्न जातियों के लिए आरक्षण एवं रियायतों की भी बात उभरकर सामने आने लगी।

जाति आंदोलनों का रवैया ब्रिटिश शासन के प्रति समर्थनवादी था। अंग्रेजी शासन के स्वरूप को ठीक से पहचान न होने के कारण उसके प्रति इन आंदोलनों की आस्था एवं श्रद्धा देखी जा सकती थी। जाति आंदोलनों के नेताओं को यह भ्रम था कि अंग्रेजी सरकार द्वारा एक नयी प्रगतिशील व्यवस्था की संभावना बढ़ेगी जो उन्हें दासता से मुक्ति दिला सकेगी, लेकिन ऐसा संभव नहीं हुआ। इसलिए इस सोच को नकारात्मक सोच माना जाता है।

संभवतः इसीलिए इन आंदोलनों का जुड़ाव भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन से नहीं रहा और ये कांग्रेस से भी अलग-थलग ही रहे। वस्तुतः इन आंदोलनों के नेताओं में राष्ट्रवादी चेतना की कमी थी। वैसे कांग्रेस भी समानता, स्वतंत्रता, जाति-भेद समाप्ति और दासता मुक्ति की ही बात कर रही थी। इस प्रकार दोनों के उद्देश्य एक जैसे ही थे। अतः इन आंदोलनों को 'समानांतर आंदोलनों' की संज्ञा दी जा सकती है।

प्रमुख जाति आंदोलन *(Major Caste Movements)*

- **सत्यशोधक समाज (*Satya Shodhak Samaj*)** : सत्यशोधक समाज की स्थापना ज्योतिबा फुले ने 1873 ई. में महाराष्ट्र में की थी। सत्यशोधक समाज का आंदोलन ब्राह्मण-विरोधी आंदोलन था। इस आंदोलन का उद्देश्य विद्यमान सामाजिक ढाँचे में बदलाव लाने के साथ-साथ जाति, कर्मकांड, मूर्तिपूजा व धर्म-शास्त्रों का बहिष्करण भी था। निम्न जाति के लोगों एवं स्त्रियों को शिक्षित कर उनमें अपने अधिकारों के प्रति जागरूकता लाने के प्रयास में इस आंदोलन ने महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। अपने क्रांतिकारी विचारों के प्रचार के लिए उन्होंने 'गुलामगिरि' और 'सार्वजनिक सत्यधर्म' नामक पुस्तक की रचना की। उन्होंने 'दीनबंधु' नामक पत्र भी निकाला।
- **श्रीनारायण धर्म परिपालन आंदोलन (Sree Narayana Dharma Paripalan Movement)**: नारायण गुरु के नेतृत्व में स्थापित इस आंदोलन का लोकप्रिय नाम एझावा आंदोलन (Ezhava Movement) था। यह केरल की एझावा जाति द्वारा शुरू किया गया आंदोलन था। पारंपरिक रूप से निम्न श्रेणी की यह जाति नारियल की खेती से जुड़ी थी। इस जाति के सदस्यों के मंदिरों एवं सार्वजनिक जगहों में प्रवेश की माँग को लेकर यह आंदोलन आरंभ हुआ। सन् 1920 में इसका संबंध गांधीवादी राष्ट्रीय आंदोलन से स्थापित हुआ तथा कालांतर में इन्होंने साम्यवादियों का प्रबल समर्थन किया।
- **महार आंदोलन (*Mahar Movement*)** : 19वीं शताब्दी में महाराष्ट्र के अछूत महारों द्वारा चलाया गया 'महार आंदोलन' का नेतृत्व गोपाल बाबा मावलंकर ने किया। उन्होंने स्वयं को 'क्षत्रिय' घोषित करते हुए सेना एवं सिविल सेवाओं में अधिक नौकरियों की माँग की। इसके बाद सन् 1920 से इसका नेतृत्व डॉ. भीमराव अंबेडकर ने संभाला। इस आंदोलन के अंतर्गत तालाबों, मंदिरों एवं सार्वजनिक परिसंपत्तियों के उपयोग की माँग के अलावा महारों द्वारा गाँव के मुखिया के घर पारंपरिक रूप से किये जाने वाला सेवा-कर्म 'महार वतन' को समाप्त करने की माँग की गई। ऐसा माना जाता है कि अंबेडकर के सामाजिक सुधार राजनीतिक अभिप्राय से जुड़े थे। उन्होंने दलितों के सामाजिक-आर्थिक मुद्दों को राजनीतिक स्वरूप प्रदान करने के लिए भी संघर्ष किया। गांधीजी एवं कांग्रेस की नीतियों से अलग उन्होंने दलितों को सामूहिक पहचान देने का काम किया एवं उन्हें राजनीतिक शक्ति के रूप में भी बदलना चाहा।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **आत्मसम्मान आंदोलन (*Self-Respect Movement*)** : ई. वी. रामास्वामी नायकर उर्फ पेरियार ने 1925 ई. में तमिलनाडु में आत्मसम्मान आंदोलन का सूत्रपात किया। सामाजिक न्याय और गैर-ब्राह्मणों के प्रतिनिधित्व के मुद्दे पर सन् 1925 ई. में नायकर ने कांग्रेस छोड़ दी। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य गैर-ब्राह्मण समुदाय को जाग्रत करना था। इसकी पृष्ठभूमि में धर्म एवं धर्म-ग्रंथों के उन सिद्धांतों को अस्वीकार किया गया जिनसे सामाजिक विषमता बढ़ती है और गैर-सवर्णों तथा स्त्रियों की दशा खराब होती है। इस तरह इस आंदोलन ने धर्म के विरुद्ध तो लड़ाई लड़ी ही, साथ ही साथ तार्किक आधार पर समाज के पुनर्गठन की वकालत भी की। नायकर ने महिलाओं के दमन का विरोध तथा उनकी दशा में सुधार के लिए भी प्रयास किए, किंतु सामाजिक आधार पर यह आंदोलन गैर-ब्राह्मण वर्ग के लोगों तक ही सीमित रहा और यही आंदोलन की बड़ी कमजोरी बनी। 1944 ई. में इस आंदोलन का 'जस्टिस पार्टी' के साथ विलय हो गया तथा 'द्रविड़ कड़गम' के जन्म के साथ इसने राजनीतिक रूप ले लिया।
- **जस्टिस पार्टी (*Justice Party*)** : उपर्युक्त क्रम में ही 1916 ई. में मद्रास के गैर-ब्राह्मण नेताओं, यथा टी. एम. नायर, पी. त्यागराज चेट्टियार और आर.सी.एन. मुदलियार ने दक्षिण भारतीय उदारवादी महासंघ (South Indian Liberal Federation – SILF) की स्थापना की। इस संघ ने 'जस्टिस' नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन आरंभ किया। इसी पत्र की लोकप्रियता के नाम पर इसका नाम 'जस्टिस पार्टी' पड़ा। यह आंदोलन भी मुख्य रूप से गैर-ब्राह्मणों पर केन्द्रित था, लेकिन यह उच्च जाति के समृद्ध भूस्वामियों तथा व्यापारियों तक ही सीमित था, जिन्होंने शिक्षा, सेना एवं राजनीति के स्तर पर ब्राह्मणों के वर्चस्व का पुरजोर विरोध किया। सरकारी नौकरियों में गैर-ब्राह्मणों के लिए आरक्षण की माँग भी इस आंदोलन का महत्वपूर्ण कदम था।
- **कांग्रेस और हरिजन आंदोलन (*Congress and Harijan Movement*)** : गांधीजी के राष्ट्रीय आंदोलन में पदार्पण के बाद कई महत्वपूर्ण परिवर्तन आए। कांग्रेस ने जाति प्रथा जैसी बुराई को समाप्त करने के लिए कई प्रस्ताव पारित किए। 1931 ई. के कराची अधिवेशन (Karachi Session, 1931) में जाति निरपेक्ष, आर्थिक एवं मौलिक अधिकारों का प्रस्ताव पारित किया। गांधीजी मानवतावादी समाज सुधारक थे। निम्न समझी जाने वाली जातियों के हित में उन्होंने जो कार्य किए उनमें छोटी जाति के लोगों के शोषण को समाप्त करने, उनके बीच शिक्षा का प्रचार-प्रसार; उन्हें मंदिरों, विद्यालयों एवं अन्य सार्वजनिक परिसंपत्तियों में प्रवेश का हक दिलाना आदि महत्वपूर्ण हैं। सन् 1932 ई. में उन्होंने अखिल भारतीय अस्पृश्यता लीग (All India Untouchability League) की स्थापना करते हुए छुआछूत को जड़ से मिटाने की वकालत की। आगे चलकर उन्होंने इसका नाम 'हरिजन सेवक संघ' कर दिया। गांधीजी ने 'हरिजन' नाम से एक पत्रिका भी प्रकाशित की जिसमें प्रतिमाह उन विद्यालयों, मंदिरों और कुँओं की सूची जारी की जाती थी, जिन्हें अछूतों के प्रयोग हेतु लिए खोल दिया जाता था। गांधीजी ने हरिजनों के लिए जो कार्य किया उसे कभी भी राजनीतिक रंग देने का प्रयास नहीं किया। अपने सुधार कार्यक्रमों में उन्होंने 'वर्णाश्रम व्यवस्था' पर प्रहार को शामिल नहीं किया। उन्होंने राष्ट्रवाद के संदेश को हरिजनों तक पहुँचाने एवं उन्हें सामाजिक एवं राष्ट्रीय कार्यक्रमों में सक्रिय भूमिका निभाने के लिए भी प्रेरित किया। वाद-विवाद व तार्किक विश्लेषण कुछ भी निष्कर्ष निकालें, इतना तो निष्पक्ष रूप से सर्वमान्य है कि गांधीजी के हरिजन अभियान का उद्देश्य हिंदू समाज का शुद्धिकरण था।

अंग्रेज़ों द्वारा सामाजिक-धार्मिक सुधारों के लिए किए गए प्रयास *(Efforts Made by the British for Socio-Religious Reforms)*

भारत में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासनकाल को आर्थिक शोषण और राजनीतिक उथल-पुथल के काल के रूप में जाना जाता है। लेकिन सामाजिक और सांस्कृतिक क्षेत्रों में कंपनी ने कुछ ऐसे कार्य किये जो सराहनीय हैं। सन् 1813 तक कंपनी ने भारतीय सामाजिक प्रथाओं, रीति-रिवाजों और परंपराओं में किसी भी तरह का कोई हस्तक्षेप नहीं किया, बल्कि इनके प्रति उसका रवैया सहिष्णु और उदार ही रहा।

हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि कंपनी द्वारा अपनायी गयी इस अहस्तक्षेप या तटस्थता की नीति के कुछ विशिष्ट कारण थे। पहला कारण तो यह कि ईस्ट इंडिया कंपनी एक व्यापारिक कंपनी थी। इसका उद्देश्य भारत में अपने व्यावसायिक हितों में अधिकाधिक वृद्धि करते हुए अपने मुनाफे में वृद्धि करना था। इसीलिए सामाजिक मसलों के स्थान पर आर्थिक क्षेत्रों में कंपनी का अधिक रुझान एक स्वाभाविक-सी बात थी। दूसरी बात यह कि भारतीय समाज और संस्कृति मूलतः धर्म पर आधारित संस्कृति है। स्पष्ट है कि भारतीय संदर्भ में सामाजिक और सांस्कृतिक विषयों पर हस्तक्षेप का सीधा अर्थ धार्मिक हस्तक्षेप ही होता। ऐसी स्थिति में भारतीयों के विरोध की आशंका से इंकार नहीं किया जा सकता था। फिर भी, 1813 ई. के बाद अंग्रेज़ों ने भारतीय समाज में सुधार की बात को सोचना आरंभ किया। उनकी इस सोच के पीछे अपनी वस्तुओं के लिए भारत को एक बड़े बाज़ार में बदलने की महत्वाकांक्षा छिपी थी। इसके लिए भारतीय समाज में रूपांतरण की आवश्यकता महसूस की गई। इसीलिए अंग्रेज़ों ने भारतीय समाज का व्यापक सर्वेक्षण किया और भारतीय सामाजिक-सांस्कृतिक रूपांतरण के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण कदम उठाये।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों की सीमाएँ
(Limitations of Socio-Religious Movements)

- जहाँ तक प्रचार-प्रसार का प्रश्न है तो सामाजिक-धार्मिक सुधार आन्दोलन आम जनता तक अपना प्रसार नहीं कर सके। ये शिक्षित उच्च वर्ग एवं मध्य वर्ग तक ही सीमित रहे। इस प्रकार जन-आन्दोलन बन पाने का उनका उद्देश्य अधूरा ही रह गया।
- गाँव व दूर-दराज के क्षेत्र इन आन्दोलनों से अछूते रहे। इसके फलस्वरूप ग्रामीण जनता पर इनका प्रभाव बहुत ही कम पड़ा। अतः इन आन्दोलनों को नगरीय मात्र कहना गलत न होगा।
- चूँकि नगरीय क्षेत्रों एवं शिक्षित वर्गों में भी कई कुरीतियाँ विद्यमान रहीं, इसलिए इन आंदोलनों के सुधार के बावजूद इनकी सफलता व्यापक नहीं कही जा सकती।
- कहीं-कहीं धार्मिक-आन्दोलनों की भूमिका प्रतिक्रियावादी रहने के कारण कट्टरता को बढ़ावा मिला और समाज पर उनका नकारात्मक प्रभाव पड़ा।

सामाजिक-धार्मिक सुधार आंदोलनों की उपलब्धियाँ *(Achievements of Socio-Religious Movements)*

(क) अपने समाज, इतिहास और परंपराओं को देखने का एक तार्किक एवं आलोचनात्मक दृष्टिकोण इन्हीं आंदोलनों ने विकसित किया। इनके फलस्वरूप जड़ पक्षों का निषेध किया गया और इतिहास व समाज के प्रगतिशील पक्षों को स्वीकार किया गया।

(ख) पश्चिम के तथाकथित सांस्कृतिक श्रेष्ठता को चुनौती देते हुए भारतीय संस्कृति के उज्ज्वल पक्षों को सामने रखने में ये आंदोलन पूरी तरह सफल रहे। इन्होंने भारतवासियों के मन में आत्मगौरव का भाव जगाया और भारतीय अतीत के गौरवशाली पृष्ठों को उजागर किया।

(ग) इन्होंने धर्म को कर्मकाण्डों व रीतिबद्ध शास्त्रों से मुक्त कर उसकी मानवतावादी एवं उपयोगितावादी व्याख्या प्रस्तुत की। इन आंदोलनों ने धर्म के प्रति एक नये दृष्टिकोण का विकास किया।

(घ) समता, स्वतंत्रता, प्रजातंत्र जैसे प्रगतिशील तत्त्वों को सामाजिक मूल्य के रूप में स्थापना होना इनकी एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है।

(ङ) महिलाओं, अछूतों एवं असहाय लोगों की स्थितियों को सुधारकर उन्हें मुख्यधारा से जुड़ने में इन आंदोलनों ने भरपूर योगदान दिया।

(च) भारत में शिक्षा के प्रचार-प्रसार में इनकी उल्लेखनीय भूमिका रही।

(च) राष्ट्रीय चेतना के सूत्रपात में ये आंदोलन वरदान सिद्ध हुए। ब्रिटिश दासता का व्यापक विरोध भी इसी चेतना का परिणाम था।

ब्रिटिशकालीन भारत की प्रमुख संस्थाएँ एवं संगठन
(Important Institutions and Organizations in British India)

संस्था/संगठन	संस्थापक	स्थापना वर्ष
एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल	विलियम जोंस	1784
कलकत्ता मदरसा	वारेन हेस्टिंग्ज	1781
संस्कृत कॉलेज	जोनाथन डंकन	1792
आत्मीय सभा	राजा राममोहन राय	1814-15
हिन्दू कॉलेज (कलकत्ता)	डेविड ~~हेयर/ सजा~~ राममोहन राय	1817
तरुण बंगाल आंदोलन	हेनरी विवियन डेरोजियो	1826
ब्रह्म समाज	राजा राममोहन राय	1828
धर्म सभा	राधाकांत देव	1830
लैंड होल्डर्स सोसायटी	द्वारकानाथ टैगोर का प्रयास	1838
तत्वबोधिनी सभा	देवेन्द्रनाथ टैगोर	1839
नामधारी/कूका आंदोलन	भाई बालक सिंह एवम् बाबा राम सिंह	1857
बेथुन स्कूल	ड्रिंकवाटर बेथुन	1849
रहनुमाई मजद्यासन सभा	एस. एस. बंगाली, नौरोजी, फरदोनजी, जे. बी. वाचा	1851

Copyright – Drishti The Vision Foundation

संस्था/संगठन	संस्थापक	स्थापना वर्ष
ब्रिटिश इंडिया एसोसिएशन	राधाकांत देव, देवेन्द्रनाथ टैगोर	1851
मद्रास नेटिव एसोसिएशन	जी० लक्ष्मीनारास् चेट्टी	1852
संगत सभा	केशवचंद्र सेन	1860
विधवा-विवाह संघ	एम. जी. राणाडे/विष्णु शास्त्री पंडित	1861
राधा स्वामी सत्संग	स्वामी शिव दयाल	1861
ईस्ट इंडिया एसोसिएशन (लंदन)	दादाभाई नौरोजी	1866
प्रार्थना सभा	महादेव गोविंद रानाडे	1867
दार-उल-उमूल (देवबंद)	मुहम्मद कासिम ननौतवी	1867
भारतीय सुधार संघ	केशवचंद्र सेन	1870
पूना सार्वजनिक सभा	महादेव गोविंद रानाडे	1870
वेद समाज	के. के. श्रीधालु नायडू	1871
सत्यशोधक समाज	ज्योतिबा फुले	1873
आर्य समाज	दयानंद सरस्वती	1875
थियोसोफिकल सोसायटी	कर्नल आल्कार (न्यूयॉर्क) मैडल ब्लावत्स्की [भारत में अड्यार (मद्रास) में 1882 में]	1875
मोहम्मडन एंग्लो-ओरिएंटल कॉलेज	सैयद अहमद खाँ	1875
इंडियन एसोसिएशन	सुरेन्द्रनाथ बनर्जी	1876
दक्कन एजुकेशन सोसायटी	महादेव गोविन्द रानाडे	1884
सेवा सदन	वी. एम. मलबारी	1885
भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस	एलन ओक्टेवियन ह्यूम (ए० ओ० ह्यूम)	1885
देव समाज	शिवनारायण अग्निहोत्री	1887
अहमदिया आंदोलन	मिर्जा गुलाम अहमद	1889
नद्वतुल उलेमा	मौलाना शिबली नूमानी	1894
श्री नारायण धर्म परिपालन योगम्	श्रीनारायण गुरु, डॉ. पाल्पू	1902
अभिनव भारत	वी. डी. सावरकर	1904
सर्वेन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी	गोपालकृष्ण गोखले	1905
भारत स्त्री मंडल	सरलाबाई देवी चौधरानी	1910
गदर पार्टी	लाला हरदयाल	1913
जस्टिस पार्टी	सी. एन. मुदलियार, टी. एम. नायर, पी. त्यागराज चेट्टी	1916
होमरूल लीग	बी. जी. तिलक/एनी बेसेंट	1916
साबरमती आश्रम	महात्मा गांधी	1916
भारत महिला संघ	एनी बेसेंट	1917
विश्व भारती	रवीन्द्रनाथ टैगोर	1918
अखिल भारतीय ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC)	एन. एम. जोशी	1920
कम्युनिस्ट पार्टी ऑफ इंडिया	एम. एन. राय	1920
दलित वर्ग कल्याण संस्थान	भीमराव अंबेडकर	1924
मोहम्मडन लिटरेरी सोसाइटी	अब्दुल लतीफ	1863
हरिजन सेवक संघ	महात्मा गांधी	1932
फॉरवर्ड ब्लाक	सुभाषचंद्र बोस	1939
आजाद हिंद फौज	मोहन सिंह	1942

Copyright – Drishti The Vision Foundation

सामाजिक सुधार अधिनियम : एक नजर में *(Social Reform Acts : At a Glance)*

अधिनियम	वर्ष	गवर्नर जनरल/वायसराय	विषय
नवजात कन्याओं की हत्या संबंधी अधिनियम	1795	सर जॉन शोर	नवजात कन्याओं की हत्या पर रोक; इसे साधारण हत्या के बराबर का अपराध घोषित किया गया।
शिशु-वध प्रतिबंध	1795-1804	सर जॉन शोर, लॉर्ड वेलेजली	शिशु-हत्या पर प्रतिबंध।
सती-प्रथा प्रतिबंध	1829	लॉर्ड विलियम बैंटिक	सती-प्रथा पर पूर्ण प्रतिबंध।
दास-प्रथा पर प्रतिबंध	1843	लॉर्ड एलनबरो	दासता को प्रतिबंधित कर दिया गया।
हिन्दू विधवा-पुनर्विवाह	1856	लॉर्ड कैनिंग	विधवा-विवाह की अनुमति।
सिविल मैरिज एक्ट	1872	नार्थब्रुक	अन्तर्जातीय विवाह।
एज ऑफ कंसेंट एक्ट	1891	लैंसडाउन	लड़की के लिए विवाह-योग्य आयु 12 वर्ष निर्धारित।
शारदा अधिनियम	1930	लॉर्ड इरविन	लड़की के लिए विवाह-योग्य आयु 14 वर्ष निर्धारित।
हिन्दू महिला संपत्ति अधिनियम	1937	लॉर्ड लिनलिथगो	हिन्दू महिलाओं को संपत्ति का अधिकार।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-4

ब्रिटिश साम्राज्य के विरुद्ध विद्रोह
(Revolts Against British Empire)

*** *(इस खंड का उल्लेख मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 2 में है। दृष्टि द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग 2 से है।)*

1857 का विद्रोह *(Revolt of 1857)*

भारत के इतिहास में 1857 का विद्रोह एक युगांतकारी घटना मानी जाती है। सन् 1757 की प्लासी की लड़ाई और 1857 के विद्रोह के बीच ब्रिटिश शासन ने अपने 100 वर्ष पूरे कर लिये थे। इन 100 वर्षों में कई बार ब्रिटिश सत्ता को चुनौतियाँ मिलीं, किंतु 1857 का विद्रोह एक ऐसी चुनौती थी जिसने भारत में अंग्रेज़ी शासन की जड़ों को हिलाकर रख दिया।

विद्रोह का स्वरूप *(Nature of the Revolt)*

सन् 1857 के विद्रोह के संबंध में भिन्न-भिन्न विचार व्यक्त किए गए हैं। साम्राज्यवादी इतिहासकारों ने एकपक्षीय तर्क देते हुए इसे सिर्फ 'सैनिक विद्रोह' की संज्ञा दी है तो कुछ ने इसे दो नस्लों अथवा दो धर्मों का युद्ध बताया है। इस मत के विरुद्ध राष्ट्रवादी इतिहासकारों ने इसे 'राष्ट्रीय विद्रोह' की संज्ञा दी है तो किसी ने इसे 'स्वतंत्रता संग्राम का प्रथम युद्ध' बताया है। तथापि, इस विद्रोह के वास्तविक स्वरूप को जानने के लिए तथा किसी निष्कर्ष पर पहुँचने से पूर्व इन सभी अवधारणों की तथ्यों के साथ तार्किक व्याख्या आवश्यक होगी।

वस्तुतः 1857 का विद्रोह एक सिपाही विद्रोह के रूप में प्रारम्भ हुआ। अतः साम्राज्यवादी विचारधारा के इतिहासकार सर जॉन लारेंस एवं सर जॉन सीले ने इसे सैनिक विद्रोह की संज्ञा दी है, परंतु यह व्याख्या तार्किक प्रतीत नहीं होती। निस्संदेह, इस विद्रोह का प्रारंभ सिपाहियों ने किया, परंतु सभी स्थानों पर यह सिर्फ सेना तक सीमित नहीं रहा, बल्कि इसमें जनता के हर तबके की हिस्सेदारी रही। अवध और बिहार के कुछ इलाकों में तो इसे पूरा जन-समर्थन मिला। इंग्लैण्ड के रूढ़िवादी नेता बैंजामिन डिजरायली ने इस विद्रोह को एक राष्ट्रीय विद्रोह कहा, किंतु उनका यह मानना भी तर्कसंगत नहीं लगता क्योंकि उस समय भारत किसी राष्ट्र के रूप में संगठित नहीं था, बल्कि वह जन-असंतोष, निष्ठा एवं उद्देश्यों के आधार पर विभाजित था।

एक अन्य साम्राज्यवादी इतिहासकार एल. आर. रीस ने इसे धर्मांधों का ईसाई धर्म के विरुद्ध युद्ध बताया है, किंतु उनके इस तथ्य में सत्य का अंश ढूँढना मुश्किल ही होगा। यद्यपि इस संघर्ष में भिन्न-भिन्न धर्म के मानने वालों ने दोनों ओर से युद्ध किया तथा अपनी कमियों एवं अन्यायों को छुपाने के लिए धर्म का सहारा लिया, तथापि विद्रोह के अंत में निश्चय ही ईसाई जीते, न कि ईसाई धर्म। एक अन्य विद्वान टी. आर. होम्स की अवधारणा, जिसके अनुसार उन्होंने इस युद्ध को बर्बरता और सभ्यता के बीच युद्ध कहा है, भी तार्किक प्रतीत नहीं होती क्योंकि इसमें संकीर्ण जाति-भेद झलकता है। दूसरी ओर, 1857 के संघर्ष में अंग्रेज़ी सेनानायक सर जेम्स आउट्रम और टेलर ने इस विद्रोह को हिन्दू-मुस्लिम षड्यंत्र का परिणाम बताया है। इनका मानना था कि यह विद्रोह मूलतः मुस्लिम षड्यंत्र था, जिसमें हिन्दुओं की शिकायतों का लाभ उठाया गया। बहरहाल, विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि यह व्याख्या तर्कसंगत नहीं हैं क्योंकि बहादुरशाह जफर ने तो इस विद्रोह को केवल नेतृत्व प्रदान किया था, जिसका कारण महज इतना था कि वे मुगल साम्राज्य के सांकेतिक प्रतीक थे।

इस विद्रोह को भारत के राष्ट्रीय नेताओं एवं राष्ट्रीय इतिहासकारों ने राष्ट्रीय विद्रोह बताने की कोशिश की, ताकि इसके माध्यम से राष्ट्रवादी विचार को जाग्रत किया जा सके। इस दिशा में शुरुआत वी. डी. सावरकर द्वारा की गई, जिन्होंने इसका वर्णन 'सुनियोजित राष्ट्रीय स्वतंत्रता संग्राम' के रूप में किया तथा इसे सिद्ध करने का प्रयास किया। उनके अनुसार, 1826-1827, 1830-31 और 1848 के विद्रोहों की शृंखला 1857 में होने वाली घटना का पूर्व-संकेत मात्र थी। डॉ. एस. एन. सेन अपनी पुस्तक 'एट्टीन फिफ्टी सेवन' (Eighteen Fifty Seven) में आंशिक रूप से इस मत से सहमत होते हुए कहते हैं– "जो कुछ धर्म के लिए लड़ाई के रूप में शुरू हुआ, वह स्वतंत्रता संग्राम के रूप में समाप्त हुआ।" दूसरी ओर, इस मत के प्रति असहमति व्यक्त करते हुए डॉ. आर. सी. मजूमदार कहते हैं– "तथाकथित प्रथम राष्ट्रीय संग्राम न तो पहला, न ही राष्ट्रीय और न ही स्वतंत्रता संग्राम था।" बहरहाल, सभी मतों का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निश्चित रूप से यह स्वतंत्रता संग्राम नहीं था क्योंकि देश का बहुत

Copyright – Drishti The Vision Foundation

बड़ा हिस्सा तथा जनता के अनेक वर्गों नें इसमें भाग नहीं लिया था। इसके अतिरिक्त, विद्रोह में शामिल विभिन्न नेताओं के उद्देश्य समान नहीं थे और 19वीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारत में राष्ट्रवाद एवं स्वतंत्रता के बीज प्रस्फुटित नहीं हो पाये थे।

सन् 1857 के विद्रोह की व्याख्या मार्क्सवादी इतिहासकारों ने ब्रिटिश एवं सामंती आधिपत्य के विरुद्ध सैनिकों एवं किसानों के संयुक्त विद्रोह के रूप में की है। यह मत भी तथ्यों के विपरीत है, विशेष रूप से इसलिए कि विद्रोह के नेता स्वयं सामंत वर्ग के थे।

यदि हम इस विद्रोह का विश्लेषण करते हैं तो पाते हैं कि इसके स्वरूप को स्पष्टत: वर्गीकृत करना संभव नहीं है। निस्संदेह, यह साम्राज्य-विरोधी और राष्ट्रवादी स्वरूप का था क्योंकि हिन्दुओं और मुसलमानों, दोनों ने इसमें एक साथ भाग लिया था। इस प्रकार, इसे एक सामान्य सैनिक असंतोष, कृषक आंदोलन अथवा अभिजात्य विद्रोह करार देकर इसके महत्व को कम नहीं किया जा सकता। वस्तुत: यह माना जा सकता है कि 1857 का विद्रोह भारतीय राष्ट्रवाद की शुरुआती अभिव्यक्ति थी, जो आगे चलकर पूर्णत: भारतीय राष्ट्रवाद के रूप में परिणत हो गयी।

विद्रोह के कारण *(Causes of the Revolt)*

इतिहासकारों में 1857 के विद्रोह के कारणों के बारे में भी काफी विवाद है। अधिकांश इतिहासकारों, जिनमें भारतीय तथा साम्राज्यवादी इतिहासकार दोनों हैं, ने इस विद्रोह के कारणों का एकपक्षीय विश्लेषण करते हुए, इस विद्रोह के कारणों को सैनिकों की शिकायतों अथवा चर्बीयुक्त कारतूसों जैसी घटनाओं में खोजने का प्रयास किया है। बहरहाल, इस व्यापक विद्रोह की घटना के बीज को सैनिक शिकायतों तथा चुर्बीयुक्त कारतूसों जैसी घटना के बीच किसी एक कारण के रूप में ढूँढ़ना उचित नहीं होगा। समग्र रूप से विश्लेषण करने के उपरांत हम इस विद्रोह के पीछे अनेक कारण पाते हैं। इस विद्रोह के प्रमुख कारण निम्नलिखित हैं:

राजनीतिक कारण *(Political Causes)* : डलहौजी की 'व्यपगत नीति' तथा वेलेजली की 'सहायक संधि' ने विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभायी। लॉर्ड डलहौजी ने व्यपगत नीति के द्वारा सँभलपुर, जैतपुर, नागपुर, झाँसी, सतारा आदि राज्यों का ब्रिटिश साम्राज्य में विलय कर लिया। साथ ही, अवध के नवाब वाजिद अली शाह को गद्दी से उतार देना, तंजौर और कर्नाटक के नवाबों की राजकीय उपाधियाँ जब्त कर लेना, मुगल बादशाह को अपमानित करने के लिए उन्हें नजराना देना, सिक्कों पर नाम खुदवाना आदि परंपराओं को डलहौजी द्वारा समाप्त करवा दिया जाना तथा बादशाह को लालकिला छोड़कर कुतुबमीनार में रहने का हुक्म दिया जाना आदि घटनाओं ने 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि तैयार की। मुगल बादशाह भारतीय जनता का प्रतिनिधित्व करता था, इसलिए उसके अपमान में जनता ने अपना अपमान समझा और विद्रोह के लिए तैयार हो गए।

भारतीय जनता यह समझने लगी थी कि भारतीय क्षेत्रीय राज्यों का अस्तित्व खतरे में हैं। वे यह भी अनुमान लगाने लगे थे कि उनकी स्वतंत्रता केवल कुछ ही समय की बात है। भारतीय जनता यह महसूस करने लगी थी कि उन पर ब्रिटेन से शासन किया जा रहा है और देश का धन इंग्लैंड भेजा जा रहा है।

प्रशासनिक कारण *(Administrative Causes):* अनेक राजनीतिक, सामाजिक एवं आर्थिक दुष्परिणाम भारतीय राज्यों के ब्रिटिश साम्राज्य में मिलाने के फलस्वरूप सामने आये थे। अंग्रेजों की कुटिल नीति के कारण दरबारों में रहने वाले परंपरागत एवं वंशानुगत कर्मचारियों एवं अधिकारियों को उच्च पद पाने से रोका ही नहीं गया, बल्कि सभी उच्च प्रशासनिक एवं सैनिक पद यूरोपीय लोगों के लिए आरक्षित कर दिये गये। इसने व्यापक जन-असंतोष को जन्म दिया। चूँकि ईस्ट इंडिया कंपनी के प्रशासन को भारतीय सामाजिक संरचना के बारे में जानकारी नहीं थी, अत: कंपनी की वाणिज्यिक नीतियों का परंपरागत भारतीय सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था के साथ टकराव होता रहता था। कंपनी की भू-राजस्व व्यवस्था ने अधिकांश अभिजात वर्ग को निर्धन बना दिया। कंपनी की भिन्न-भिन्न भू-राजस्व व्यवस्थाओं, यथा– स्थायी बंदोबस्त, रैय्यतवाड़ी व्यवस्था और महालवाड़ी व्यवस्था द्वारा किसानों का जबर्दस्त शोषण किया गया जिससे वे निर्धनता के शिकार हो गए गये। नई व्यवस्था द्वारा कई तालुकदारों (बड़े जमींदारों) से उनका पद और जमीन छीन लिये गये। अंग्रेजों की व्यवस्था ने अभिजात वर्ग को निर्धन बना दिया तथा किसानों को ऋण के दुष्चक्र में फँसा दिया। इन सारी बातों ने असंतोष पैदा करने में अपनी महती भूमिका निभायी।

सामाजिक और धार्मिक कारण *(Social and Religious Causes):* ब्रिटिश प्रशासन द्वारा किए जा रहे सुधारवादी उपायों ने परंपरागत भारतीय जीवन-प्रणाली को झकझोर कर रख दिया। इससे भारतीय संस्कृति पर संकट के बादल मंडराने लगे, जिसका रूढ़िवादियों ने जमकर विरोध किया। ईसाई मिशनरियों को सन् 1813 के चार्टर अधिनियम (Charter Act, 1813) द्वारा भारत में धर्म-प्रचार की अनुमति मिल गई। ऐसे में ईसाई धर्म-प्रचारकों द्वारा अपनाये जाने वाले उपाय, यथा बलपूर्वक धर्मांतरण तथा भारतीय संस्कृति पर किये जाने वाले भावनात्मक हमलों ने भारतीय जनमानस की संवेदनाओं एवं भावनाओं को आहत किया। उन्होंने उत्तराधिकार एवं दायभाग जैसे संवेदनशील विषयों पर भी पंडितों एवं मौलवियों के विचारों को चुनौती दी। हिन्दू रीति-रिवाजों में सन् 1856 के धार्मिक निर्योग्यता अधिनियम (Religious Disabilities Act, 1856) द्वारा संशोधन किया गया। इसके द्वारा ईसाई धर्म ग्रहण करने वाले लोगों को अपनी पैतृक संपत्ति का हकदार माना गया, साथ ही उन्हें नौकरियों में पदोन्नति तथा शिक्षण संस्थानों में प्रवेश

Copyright – Drishti The Vision Foundation

की सुविधा प्रदान की गई। अंग्रेजों द्वारा अपनायी जाने वाली इन भेदभावपूर्ण नीतियों ने भारतीयों को अंततोगत्वा विद्रोह के लिए मानसिक रूप से तैयार कर दिया।

सैनिक कारण *(Military Causes):* सन् 1857 के विद्रोह की पृष्ठभूमि में सैनिक कारण भी मौजूद थे। अंग्रेजी सेना में कार्यरत भारतीय सैनिकों में अधिकांश भारतीय या तो जवान थे अथवा सूबेदार से ऊपर किसी भी पद पर नहीं थे। पदोन्नति से वंचित वेतन की न्यून मात्रा, भारत की सीमाओं से बाहर युद्ध के लिये भेजा जाना तथा समुद्र पार जाने पर भी भत्ता न देना आदि ऐसे प्रमुख कारण थे जिन्होंने भारतीय सैनिकों में असंतोष को बढ़ावा दिया। सन् 1854 में डाकघर अधिनियम (Post Office Act, 1854) पारित कर सैनिकों को प्राप्त निःशुल्क डाक सुविधा समाप्त कर दी गयी तथा सन् 1856 में लॉर्ड कैनिंग द्वारा सेना भर्ती अधिनियम पारित कर सैनिकों को समुद्र पार ब्रिटिश उपनिवेशों में सेवा करना अनिवार्य कर दिया गया। चूँकि समुद्र पार जाना तत्कालीन भारतीय समाज में धर्म के विरुद्ध समझा जाता था, इसलिए इससे सैनिकों का गुस्सा भड़क उठा।

तात्कालिक कारण एवं विद्रोह की शुरुआत *(Immediate Causes and Beginning of the Revolt):* ब्रिटिश शासन ने 1856 में सैनिकों के लिए ब्राउनबैस की जगह एनफील्ड रायफल के प्रयोग का फैसला किया। प्रयोग करने से पूर्व कारतूस के ऊपरी भाग को मुँह से खींचना पड़ता था। जनवरी 1857 में यह अफ़वाह फैल गई कि कारतूस में गाय और सुअर की चर्बी लगी है। इस अफ़वाह से हिन्दू और मुसलमान दोनों भड़क गये। फलतः 29 मार्च, 1857 को 34वीं रेजीमेंट बैरकपुर के सैनिक मंगल पांडे ने विद्रोह की शुरुआत कर दी। उसने लेफ्टिनेंट वाघ तथा मेजर सार्जेण्ट ह्यूसन को मुर्शिदाबाद के निकट गोली मार दी। इस घटना में लेफ्टिनेंट वाघ की मृत्यु हो गई। अतः मंगल पांडे को 8 अप्रैल, 1857 को फाँसी पर चढ़ा दिया गया और 34वीं रेजीमेंट को भंग कर दिया गया। 24 अप्रैल, 1857 को मेरठ में तैनात घुड़सवार सेना के लगभग 90 सिपाहियों ने चर्बी लगे कारतूसों का इस्तेमाल करने से मना कर दिया। इनमें से 9 मई, 1857 को 85 सिपाहियों को बर्खास्त कर 10 वर्ष की सजा सुनाई गई। इसके विरोध-स्वरूप मेरठ में तैनात ब्रिटिश सेना के भारतीय सिपाहियों ने 10 मई, 1857 को विद्रोह कर दिया। तदोपरांत, 11 मई को मेरठ के विद्रोही दिल्ली पहुँचे और 12 मई, 1857 को उन्होंने दिल्ली पर अधिकार कर लिया।

विद्रोह का प्रसार *(Expansion of the Revolt)*

10 मई, 1857 को मेरठ स्थित छावनी के 20-NI तथा 3-LC की पैदल सैन्य टुकड़ी ने विद्रोह का आरम्भ किया। शीघ्र ही उसने देश के अन्य क्षेत्रों को अपने प्रभाव में ले लिया। उत्तर-मध्य प्रांत और अवध (आधुनिक उत्तर प्रदेश) में विद्रोह ने विकट रूप धारण कर लिया। देश के लगभग प्रत्येक भाग में इसका प्रभाव देखा गया, किंतु मद्रास इससे अछूता ही रहा। 12 मई, 1857 को विद्रोहियों ने दिल्ली पर अधिकार कर लिया। यह घटना विद्रोहियों के लिए मनोबल बढ़ाने वाली थी। विद्रोहियों के लिए दिल्ली पर अधिकार मनोवैज्ञानिक बढ़त थी, वहीं अंग्रेजों के लिये यह भारत में उनके अस्तित्व से जुड़ा प्रश्न था। अंग्रेजों ने सर्वप्रथम दिल्ली पर अधिकार करने के लिये प्रयास आरंभ किये। आरंभ में विद्रोहियों का नेतृत्व मुगल शहजादे कर रहे थे, परंतु 3 जुलाई, 1857 को नेतृत्व की कमान बख्त खाँ के हाथों में आ गई, किंतु वास्तविक सत्ता सिपाहियों के हाथ में ही रही। दिल्ली पर अंग्रेजों का अधिकार 20 सितंबर, 1857 को पूरी तरह हो गया। इस संघर्ष में ब्रिटिश सेनानायक जॉन निकोलसन मारा गया। लेफ्टिनेंट हडसन ने मुगल सम्राट के दो पुत्रों मिर्जा मुगल एवं मिर्जा खिज्र सुल्तान और पोते मिर्जा अबुबक्र को दिल्ली के लालकिले के सामने गोली मार दी। फिर उसने हुमायूँ के मकबरे से बहादुरशाह द्वितीय को गिरफ्तार कर लिया तथा निर्वासित कर रंगून भेज दिया, जहाँ 1862 में उनकी मृत्यु हो गई।

4 जून, 1857 को लखनऊ में विद्रोह आरंभ हुआ। ब्रिटिश रेजिडेण्ट हेनरी लारेंस, जिसने यूरोपीय नागरिकों के साथ रेजीडेंसी में शरण ली थी, विद्रोहियों द्वारा मारा गया। लखनऊ को पुनः जीतने के हैबलाक और आउट्रम के प्रयास निष्फल रहे, परंतु नवंबर 1857 में नये सेनापति सर कॉलेन कैम्पबेल ने गोरखा रेजीमेंट की सहायता से लखनऊ पर पुनः कब्जा कर लिया।

5 जून, 1857 को कानपुर में विद्रोह की शुरुआत हुई। यहाँ पर पेशवा बाजीराव द्वितीय के दत्तक पुत्र नाना साहब (धोंधूपंत) ने विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया, जिसमें उनकी सहायता तात्या टोपे (रामचंद्र पांडुरंग) ने की। 16 दिसंबर, 1857 को जनरल हैबलॉक तथा जनरल नील ने कानपुर पर अधिकार कर लिया। नाना साहब अंततः नेपाल चले गये तथा तात्या टोपे को ग्वालियर के सिंधिया महाराज के सामंत मानसिंह ने अप्रैल 1859 में धोखे से अंग्रेजों को पकड़वा दिया और ग्वालियर में इन्हें फाँसी दे दी गई।

झाँसी की रानी लक्ष्मीबाई (गंगाधर राव की विधवा) अपने दत्तक पुत्र दामोदर राव को अंग्रेजों द्वारा वैधता न दिए जाने से गुस्से में थीं। अतः उन्होंने 5 जून, 1857 को विद्रोह आरंभ कर दिया। रानी लक्ष्मीबाई का सामना सर ह्यूरोज ने किया। लक्ष्मीबाई युद्ध करती हुई कालपी जा पहुँचीं। यहाँ भी वे ह्यूरोज की सेना से पराजित हुई तथा यहाँ से चलकर ग्वालियर पहुँचीं। सिंधिया, जो कि अंग्रेज समर्थक था, की सेना विद्रोहियों से मिल गई, जिसकी सहायता से रानी ने ग्वालियर पर अधिकार कर लिया। अंग्रेज सेनापति स्मिथ तथा ह्यूरोज की सम्मिलित सेनाओं ने ग्वालियर पर आक्रमण कर दिया और यहीं 17 जून 1858 को रानी को वीरगति प्राप्त हुई। अंततः ग्वालियर पर अंग्रेजों का आधिपत्य स्थापित हो गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

खान बहादुर खान ने बरेली में विद्रोहियों का नेतृत्व किया और अपने आपको नवाब घोषित कर दिया। यहाँ के विद्रोह का दमन केम्पबेल ने किया और खान बहादुर खान को फाँसी की सजा हुई। फैजाबाद में विद्रोह का नेतृत्व मौलवी अहमदुल्ला ने किया। अहमदुल्ला का विद्रोह इतना आघातकारी था कि अंग्रेजों ने इसे पकड़ने के लिए 50 हजार रुपए का नकद इनाम घोषित कर दिया। रोहेलखण्ड की सीमा पोबायाँ में 5 जून, 1858 को अहमदुल्ला की गोली मारकर हत्या कर दी गई। जगदीशपुर (आरा, बिहार) में वहाँ के प्रमुख जमींदार कुँवर सिंह ने विद्रोह को नेतृत्व प्रदान किया। इन्होंने अंग्रेजों को बहुत हानि पहुँचायी; किंतु जख्मी हो जाने के कारण 26 अप्रैल, 1858 को इनकी मृत्यु हो गई। असम में विद्रोह की शुरुआत वहाँ के दीवान मणिराम दत्त ने की तथा अंतिम राजा के पोते कंदपेश्वर सिंह को राजा घोषित कर दिया, किंतु यह विद्रोह भी सफल नहीं हुआ तथा मणिराम दत्त को फाँसी हो गई। उड़ीसा में संभलपुर के राजकुमार सुरेन्द्रशाही और उज्ज्वल शाही विद्रोहियों के नेता बने। सन् 1862 में सुरेन्द्रशाही ने आत्म-समर्पण कर दिया। राजस्थान में कोटा ब्रिटिश-विरोधियों का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ जयदयाल और उसके भाई हरदयाल ने विद्रोह का नेतृत्व किया, बाद में जयदयाल को तोप से बाँधकर उड़ा दिया गया।

व्यापक जन-समर्थन पाकर 1857 का विद्रोह भारत के बहुत बड़े भू-क्षेत्र में फैल गया था। समाज के लगभग सभी वर्गों की भागीदारी इसमें थी, फिर भी यह संपूर्ण देश या समाज के सभी वर्गों को अपने प्रभाव में नहीं ला सका। दक्षिणी भारत, पूर्वी तथा पश्चिमी भारत के अधिकांश भागों में यह नहीं फैल सका। इन क्षेत्रों में पहले भी कई विद्रोह हो चुके थे तथा अंग्रेजों ने उनका बर्बरतापूर्वक दमन किया था। भारतीय रजवाड़ों के अधिकांश शासकों तथा बड़े जमींदार वर्ग ने इस विद्रोह में भाग नहीं लिया। उल्टे उन्होंने इस विद्रोह को कुचलने में अंग्रेजों की सक्रिय मदद की। इन शासकों में सिंधिया होल्कर, निजाम, जोधपुर के राजा, भोपाल के शासक, पटियाला के जिन्द व नाभा के शासक आदि मुख्य थे। कैनिंग ने इनकी प्रशंसा करते हुए कहा– "इन शासकों ने तूफान के आगे बाँध का काम किया, वरना यह तूफान एक ही लहर में हमें बहा ले जाता।" मद्रास, बंगाल और बॉम्बे इस विद्रोह से प्रभावित नहीं हुए, परन्तु वहाँ की जनता को विद्रोहियों से सहानुभूति थी। बेदखल जमींदारों को छोड़कर उच्च तथा मध्यमवर्ग के अधिकांश लोग विद्रोहियों के आलोचक बने रहे। संपन्न वर्गों के अधिकांश लोगों ने उनका सक्रिय विरोध किया। बंगाल के जमींदार भी अंग्रेजों के प्रति स्वामीभक्त बने रहे क्योंकि उनका सृजन ही अंग्रेजों द्वारा किया गया था। महाजनों ने भी विद्रोह का विरोध किया क्योंकि वे ग्रामीण जनता और विद्रोहियों के हमले के मुख्य निशाना थे। कलकत्ता, बॉम्बे और मद्रास के बड़े व्यापारियों ने भी विद्रोह का विरोध किया क्योंकि उनका मुख्य उद्देश्य अंग्रेजों की सहायता से व्यावसायिक लाभ कमाना था।

भारत में उच्च शिक्षित व्यक्तियों ने भी विद्रोहियों का साथ नहीं दिया। वे भारत के पिछड़ेपन को समाप्त करना चाहते थे और उनके मन में यह भ्रम था कि अंग्रेज आधुनिकीकरण के माध्यम से इस काम को पूरा करेंगे। वे यह मानते थे कि जमींदारों, सरदारों और सामंती तत्वों के नेतृत्व में लड़ने वाले विद्रोही देश को सामंतवादी व्यवस्था की ओर ले जाएँगे। अतः इन सभी आधारों पर विद्रोह के दौरान भारतीय समाज में एकता का नितांत अभाव रहा, जो कि विद्रोह के लिए घातक सिद्ध हुआ।

आइए, सन् 1857 के विद्रोह के विस्तार को भारत के राजनीतिक मानचित्र में देखें:

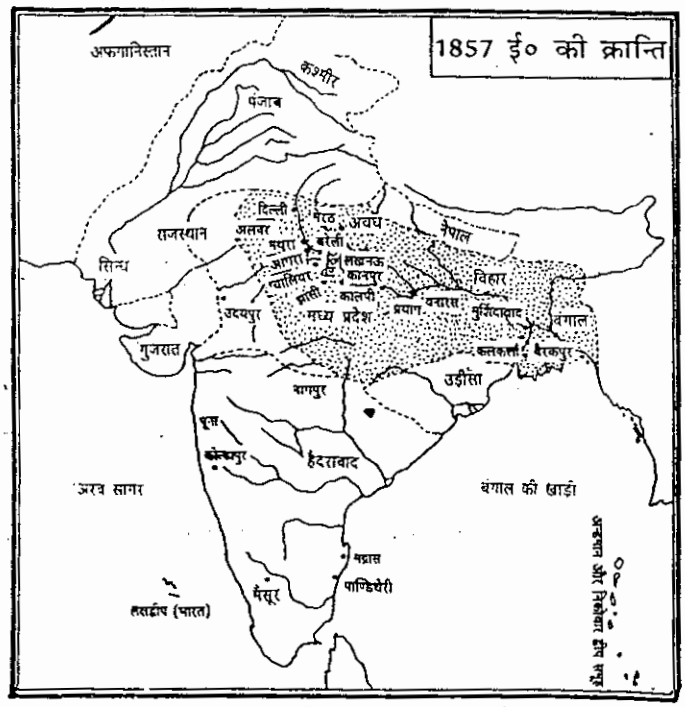

मानचित्र: भारत में सन् 1857 का विद्रोह

Copyright – Drishti The Vision Foundation

विद्रोह की विफलता के कारण *(Causes for the Failure of the Revolt)*

सन् 1857 के विद्रोह की विफलता का विश्लेषण करने पर हमें निम्नलिखित कारण दिखाई पड़ते हैं–

- यह विद्रोह स्थानीय, सीमित तथा असंगठित था। बिना किसी पूर्व योजना के शुरू होने के कारण यह विद्रोह अखिल भारतीय स्वरूप धारण नहीं कर सका और भारत के कुछ ही वर्गों तक सीमित रहा।
- देखा जाए तो विद्रोह की प्रकृति के मूल में सामंतवादी लक्षण थे। एक तरफ अवध, रोहेलखण्ड तथा उत्तर भारत के सामंतों ने विद्रोह का नेतृत्व किया, तो दूसरी ओर पटियाला, जींद, ग्वालियर तथा हैदराबाद के राजाओं ने विद्रोह के दमन में भरपूर सहयोग दिया। इसका प्रमाण कैनिंग के इस बयान से मिलता है–"यदि सिंधिया विद्रोह में सम्मिलित हो जाए तो मुझे कल ही बोरिया-बिस्तर समेटकर वापस लौट जाना होगा।"
- अंग्रेजों के साधन विद्रोहियों के साधनों की अपेक्षा बहुत अधिक मात्रा में तथा उन्नत किस्म के थे। जहाँ भारतीय विद्रोही परंपरागत हथियारों, तलवार और भालों से लड़े, वहीं दूसरी ओर अंग्रेज सेना आधुनिकतम हथियारों से लैस थी। तार-व्यवस्था जैसी आधुनिक प्रौद्योगिकी के उपयोग ने अंग्रेजों की ताकत कई गुना बढ़ा थी।
- विद्रोहियों के पास ठोस लक्ष्य एवं स्पष्ट योजना का अभाव था। विद्रोहियों के सामने ब्रिटिश सत्ता के विरोध के अतिरिक्त कोई अन्य समान उद्देश्य नहीं था। उन्हें आगे क्या करना होगा, यह निश्चित नहीं था। वे तो भावावेश एवं परिस्थितिवश आगे बढ़े जा रहे थे।
- विद्रोहियों के पास जहाँ सक्षम नेतृत्व का अभाव था, वहीं कंपनी को लॉरेंस बंधु, निकोलसन, आउट्रम, हैबलॉक एवं एडवर्ड्स जैसे योग्य सैन्य अधिकारियों की सेवाएँ प्राप्त थीं। विद्रोह में आधुनिक शिक्षाप्राप्त भारतीयों का सहयोग विद्रोहियों को नहीं मिला। वे भारत के पिछड़ेपन को समाप्त करना चाहते थे तथा उनके मन में यह भ्रम था कि अंग्रेज आधुनिकीकरण के माध्यम से इस काम को पूरा करने में उनकी मदद करेंगे। वे यह मानते थे कि विद्रोही देश में सामंतवादी व्यवस्था पुनः स्थापित कर देंगे।
- विद्रोहियों को उपनिवेशवाद की कोई विशेष समझ नहीं थी जो कि एक ऐसी विचारधारा थी जिसके सहारे ब्रिटेन पूरे विश्व में अपनी जड़ें फैला चुका था। अतः इस विद्रोह का असफल होना अवश्यंभावी था।
- विद्रोहियों के पास भविष्योन्मुख कार्यक्रम, सुसंगत विचारधारा या भावी समाज की कोई रूपरेखा नहीं थी। किसी निश्चित योजना के अभाव के साथ ही ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने के पश्चात् वैकल्पिक राजनीतिक व्यवस्था के बारे में उन्हें कोई ज्ञान नहीं था। इसके अलावा, वे आपस में भी एक-दूसरे को शंका की दृष्टि से देखा करते थे।

विद्रोह के परिणाम *(Consequences of the Revolt)*

भले ही 1857 का विद्रोह असफल रहा, किंतु भारत में अंग्रेजी शासन के लिए यह पहली बार एक प्रबल और प्रत्यक्ष संकट के रूप में प्रकट हुआ। विद्रोह के दमन के दौरान एवं बाद में विद्रोही नेताओं तथा विद्रोही भारतीय सैनिकों को इसकी कीमत अपनी जान देकर चुकानी पड़ी। दंडस्वरूप उनकी स्वतंत्रता और संपत्ति छीन ली गई। विजेता अंग्रेजी सेनाओं ने भारतीय लोगों पर अमानवीय उत्पीड़न किए। छद्म मुकदमा चलाने के बाद कई विद्रोहियों को मनमाने तरीके से फाँसी दे दी गई। दंड देते समय उन्हें अपमानित एवं प्रताड़ित किया गया। अनेक गाँव नष्ट कर दिए गए। भारतीय लोग अब अपने अंग्रेज शासकों से पहले से कहीं अधिक दूर हो गए। दूसरी ओर, 1857 के क्रांति से सबक लेते हुए अंग्रेजों ने अपने प्रशासनिक ढाँचे में आमूलचूल परिवर्तन किए जो कि इस प्रकार हैं–

- विद्रोह के सबसे महत्वपूर्ण परिणाम के रूप में महारानी की उद्घोषणा । नवंबर, 1858 को लॉर्ड कैनिंग द्वारा उद्घोषित की गयी। उद्घोषणा में ईस्ट इंडिया कंपनी के शासन की समाप्ति और भारत के शासन को सीधे ब्रिटिश ताज (British Crown) के अंतर्गत लाए जाने की घोषणा की गई।
- 1858 ई. के अधिनियम के तहत ब्रिटेन में एक 'भारतीय राज्य सचिव' का पद सृजित किया गया। इसकी सहायता के लिए 15 सदस्यों की एक 'मंत्रणा परिषद्' बनाई गयी। इन 15 सदस्यों में 8 की नियुक्ति सरकार द्वारा करने तथा 7 की कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा चुनने की व्यवस्था की गई।
- सैन्य पुनर्गठन के तहत यूरोपीय सैनिकों की संख्या को बढ़ा दिया गया। उच्च सैन्य पदों पर भारतीय सैनिकों की नियुक्ति को बंद कर दिया गया। तोपखाने पर पूर्णतः अंग्रेजी सेना का अधिकार हो गया। अब सेना में भारतीयों एवं अंग्रेजों का अनुपात 2:1 का हो गया। विद्रोह के पूर्व यह अनुपात 5:1 था। बम्बई और मद्रास में सेना 2:5 के अनुपात में रखी गई। उच्च जाति के लोगों का सेना में भर्ती किया जाना बंद कर दिया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- सन् 1858 के अधिनियम के अंतर्गत भारत के गवर्नर जनरल को वायसराय कहा जाने लगा। इसके अनुसार लॉर्ड कैनिंग ब्रिटिश भारत के प्रथम वायसराय बने। विद्रोह के फलस्वरूप सामंतवादी व्यवस्था चरमरा गयी। आम भारतीयों के बीच सामंतवादियों की छवि देशद्रोहियों की हो गई क्योंकि सामंतों ने विद्रोह को दबाने में अंग्रेजों को सहयोग दिया था।
- 1857 के विद्रोह के पश्चात् अंग्रेजों की साम्राज्य विस्तार की नीति का तो अंत हो गया, परंतु इसके स्थान पर उनकी आर्थिक शोषण की नीति आरंभ हो गयी।
- भारतीयों के प्रशासन में प्रतिनिधित्व के लिए अल्प प्रयास के तहत 1861 ई. में भारतीय परिषद् अधिनियम पारित किया गया। इसके अतिरिक्त ईसाई धर्म के प्रचार-प्रसार में कमी आई, श्वेत जाति की उच्चता के सिद्धांत का प्रतिपादन किया गया तथा मुगल साम्राज्य के अस्तित्व को सदा के लिए समाप्त कर दिया गया।
- स्थानीय लोगों को उनके सम्मान एवं अधिकारों को पुनः वापस दिलाने की बात कही गयी। भारतीय नरेशों को महारानी विक्टोरिया ने अपनी ओर से समस्त संधियों के पालन किए जाने का भरोसा दिलाया, लेकिन साथ ही, नरेशों से भी उसी प्रकार के पालन की इच्छा व्यक्त की। अपने राज्यक्षेत्र के विस्तार की अनिच्छा जताने के साथ-साथ उन्होंने अपने राज्यक्षेत्र अथवा अधिकारों का अतिक्रमण बर्दास्त न करने तथा दूसरों पर अतिक्रमण न करने के प्रति अपनी वचनबद्धता व्यक्त की और साथ ही धार्मिक शोषण समाप्त करने एवं नौकरियों में भेदभावरहित नियुक्ति की बात कही।
- सन् 1861 में भारतीय नागरिक सेवा अधिनियम (Indian Civil Services Act, 1861) पास हुआ। इसके अंतर्गत लंदन में प्रत्येक वर्ष एक प्रतियोगिता परीक्षा आयोजित करने की बात कही गई।

दूसरी ओर भारत के संदर्भ में, विद्रोह के परिणामस्वरूप भारतीयों में राष्ट्रीय एकता की भावना का विकास हुआ और हिन्दू-मुस्लिम एकता नये रूप में दृष्टिगत हुई, जिसका आगे चलकर राष्ट्रीय आंदोलन में महत्वपूर्ण योगदान रहा।

विद्रोह का महत्त्व *(Importance of the Revolt)*

सन् 1857 के विद्रोह का योगदान इस रूप में है कि इसने भारत को एक राष्ट्र के रूप में संगठित करने तथा राष्ट्रीय भावना विकसित करने में अपनी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इस विद्रोह ने भारतीयों को एकता और संगठन का पाठ पढ़ाया जो कि भविष्य में उनका प्रेरणा-स्रोत बना। विद्रोह के पश्चात् ब्रिटिश शासन ने भारत के प्रति अपने उत्तरदायित्व को महसूस किया तथा वह भारत की स्थिति सुधारने की ओर अग्रसर हुआ। यह विद्रोह ही भारत के संवैधानिक विकास का उद्गम बिंदु बना जिसने भारतीयों को शासन में भागीदारी का प्रशिक्षण दिया।

अन्य जन-आंदोलन *(Other Mass Movements)*

यदि आंदोलनों और विद्रोहों की क्रमबद्धता का विश्लेषण किया जाए तो प्लासी के युद्ध (1757) और 1857 के विद्रोह के बीच ऐसे अनेक विद्रोह एवं आंदोलन हुए जिनमें किसानों, शासकों, सैनिकों, जमींदारों, साधुओं और अपदस्थ भारतीय शासकों ने भाग लिया। इनमें से अधिकांश विद्रोहियों का संबंध निम्न वर्ग से था, इसलिए इन विद्रोहों एवं आंदोलनों को आधारभूत इतिहास या नीचे से उभरते इतिहास (History from Below) की संज्ञा दी गई। इन आंदोलनों को विभिन्न वर्गों में बांटकर देखा जा सकता है, जो निम्नलिखित हैं–

राजनीतिक-धार्मिक आंदोलन *(Politico-Social Movements)*

राजनीतिक-धार्मिक आंदोलनों के अंतर्गत हम निम्नलिखित आंदोलनो एवं विद्रोहों को रख सकते हैं–

- **फकीर विद्रोह (Fakir Resistance) (1776-77):** यह विद्रोह बंगाल में विचरणशील मुसलमान धार्मिक फकीरों द्वारा किया गया। इस विद्रोह के नेता मजनू शाह ने अंग्रेजी सत्ता को चुनौती देते हुए जमींदारों और किसानों से धन इकट्ठा करना प्रारंभ कर दिया। मजनू शाह की मृत्यु के बाद चिराग अली शाह ने आंदोलन को नेतृत्व प्रदान किया। पठानों, राजपूतों और सेना से निकाले गये भारतीय सैनिकों ने उसकी मदद की। भवानी पाठक एवं देवी चौधरानी इस आंदोलन से जुड़े प्रसिद्ध हिन्दू नेता थे।
- **संन्यासी विद्रोह (Sannyasi Rebellion) (1770-1820):** बंगाल में 1770 में पड़े भीषण अकाल और अंग्रेजों की शोषणकारी नीति ने बंगाल में अस्त-व्यस्तता पैदा कर दी। इस अकाल के बाद हिन्दू नागा और गिरि सशस्त्र संन्यासी, जो कभी मराठा और राजपूत सेनाओं का हिस्सा होते थे, ने विद्रोह कर दिया। इस विद्रोह के प्रमुख कारणों में तीर्थ-यात्रियों पर प्रतिबंध लगाया जाना था। वारेन हेस्टिंग्स ने एक कठोर सैन्य अभियान के बाद इस विद्रोह को कुचलने में सफलता पाई। बंकिम चंद्र चट्टोपाध्याय ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'आनंद मठ' में इस विद्रोह का विस्तृत वर्णन किया है।
- **पागलपंथी विद्रोह (Pagal Panthis Uprising) (1813-33):** उत्तर-पूर्वी भारत में प्रभावी पागलपंथी एक धार्मिक पंथ था। उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में हिन्दू, मुसलमान और गारो तथा जांग आदिवासी इस पंथ के समर्थक थे। इस क्षेत्र में अंग्रेजों द्वारा क्रियान्वित

Copyright – Drishti The Vision Foundation

भू-राजस्व तथा प्रशासनिक व्यवस्था के कारण व्यापक असंतोष था, जिसके परिणामस्वरूप 1813 ई० में पागलपंथियों के नेता टीपू ने विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह लगभग दो दशकों (1813-33) तक चला। इस विद्रोह के दौरान टीपू इतना प्रभावशाली हो गया कि उसने उत्तर-पूर्वी क्षेत्र में औपनिवेशिक प्रशासन के समानांतर एक और प्रशासनिक तंत्र का गठन कर लिया। इस विद्रोह को सन् 1833 में दबा दिया गया।

- **वहाबी आंदोलन (Wahabi Uprising) (1820-1870):** वहाबी आंदोलन मूलत: एक इस्लामिक सुधारवादी आंदोलन था, जिसने कालांतर में मुस्लिम समाज में व्याप्त अंधविश्वासों एवं कुरीतियों के उन्मूलन को अपना उद्देश्य बनाया। इस आंदोलन के संस्थापक अब्दुल वहाब के नाम पर इसका नाम वहाबी आंदोलन पड़ा। सैय्यद अहमद बरेलवी ने भारत में इस आंदोलन को प्रेरणा प्रदान की।

  इस आंदोलन का मुख्य लक्ष्य पंजाब में सिखों और बंगाल में अंग्रेजों को अपदस्थ करके भारत में मुस्लिम सत्ता पुनर्स्थापित करना था। इन्होंने अपने अनुयायियों को सैन्य शिक्षा दी। इस आंदोलन के तहत सैय्यद अहमद ने सन् 1830 में पेशावर पर नियंत्रण कर लिया और अपने नाम से सिक्के चलवाये, किंतु 1831 में बालाकोट के युद्ध में इनकी मृत्यु हो गई। सैय्यद अहमद की अचानक मृत्यु के उपरांत वहाबी आंदोलन का मुख्य केन्द्र पटना हो गया। इस दौरान मौलवी कासिम, इनायत अली, बिलायत अली तथा अहमदुल्ला ने आंदोलन का नेतृत्व किया। वहाबी आंदोलन 1857 के विद्रोह की तुलना में अधिक नियोजित तथा संगठित था तथापि, इस आंदोलन की अनेक कमजोरियाँ थीं, जैसे सांप्रदायिक उन्माद तथा धर्मांधता। इसके बावजूद वहाबियों ने हिन्दुओं का विरोध कभी नहीं किया। वहाबी आंदोलन निस्संदेह भारत को अंग्रेजी शासन से मुक्त कराना चाहता था, परंतु इस आंदोलन का उद्देश्य भारत के लिए स्वतंत्रता प्राप्त करना नहीं, बल्कि मुस्लिम शासन की पुनर्स्थापना करना था। सन् 1870 के आसपास अंग्रेजों द्वारा इस आंदोलन का दमन कर दिया गया।

- **कूका विद्रोह (Kuka Revolt) (1860-70):** कूका आंदोलन तथा वहाबी आंदोलन में समानता इन अर्थों में थी कि दोनों ही धार्मिक आंदोलन के रूप में आरंभ हुए और दोनों ही बाद में ऐसे राजनीतिक आंदोलनों में परिवर्तित हो गये जिनका एकसमान उद्देश्य अंग्रेजों को भारत से बाहर निकालना था। सन् 1840 में भगत जवाहर मल (सियान साहब) ने कूका आंदोलन की शुरुआत पश्चिम पंजाब से की। इस आंदोलन का उद्देश्य सिख धर्म में व्याप्त बुराइयों का उन्मूलन कर उसे शुद्ध करना था। सियान साहब और उनके शिष्य बालक सिंह ने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में हाजरो को अपना मुख्यालय बनाया। कालांतर में सिख प्रभुसत्ता को पुनर्स्थापित करना ही कूका आंदोलन का प्रमुख उद्देश्य बन गया। सन् 1863-72 के बीच अंग्रेजों ने इस आंदोलन को दबा दिया तथा आंदोलन के प्रमुख नेता रामसिंह को रंगून भेज दिया।

अपदस्थ शासकों के आंदोलन *(Movements of the Dismissed Rulers)*

अंग्रेजों की साम्राज्यवादी नीतियों, यथा वेलेजली की सहायक संधि, डलहौजी के राज्य विलय की नीति एवं ब्रिटिश राज्य प्रणाली में विद्यमान कमियों के परिणामस्वरूप अपना राज्य खो बैठे शासकों ने भी समय-समय पर विद्रोह किया। इनमें कुछ प्रमुख विद्रोहों का विवरण निम्नलिखित है-

- **वेलूथम्पी का विद्रोह (Veluthampi Revolt) (1808-1809) :** वेलूथम्पी त्रावणकोर (केरल) का दीवान था। पद से हटाए जाने और राज्य पर भारी वित्तीय बोझ डाले जाने के खिलाफ उसने विद्रोह कर दिया। अंग्रेजों से हुई लड़ाई में वेलूथम्पी घायल हो गया और जंगल की ओर भाग गया, जहाँ उसकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के बाद अंग्रेजी सेना ने उसे सार्वजनिक रूप से फाँसी पर लटका दिया।
- **किट्टूर चेन्नमा का विद्रोह (Kittur Chennamma Rebellion) (1824-1829) :** सन् 1824 में किट्टूर (आधुनिक कर्नाटक में स्थित) के स्थानीय शासक की मृत्यु के बाद अंग्रेजों ने गोद लिये गये किट्टूर के उत्तराधिकारी शासक को मान्यता नहीं दी और प्रशासन अपने नियंत्रण में ले लिया। राजा की विधवा चेन्नमा ने रायप्पा नामक स्थानीय सरदार की मदद से विद्रोह कर दिया। अंग्रेजों ने विद्रोह को बर्बरतापूर्ण तरीके से दबा दिया और रायप्पा को फाँसी दे दी तथा चेनम्मा को कैद कर लिया, जहाँ जेल में उसकी मृत्यु हो गई।
- **विशाखापत्तनम का विद्रोह (Visakhapatnam Revolt) (1827-30) :** विशाखापत्तनम जिले में अपनी संपत्ति जब्त कर लिए जाने तथा लगान का भुगतान न किये जाने के कारण सरकार द्वारा कठोर तरीके अपनाये जाने के विरोध में स्थानीय जमींदारों ने सन् 1827-30 के बीच अनेक विद्रोह किए। कालांतर में सरकार ने इन सभी विद्रोहों को दबा दिया।

अपदस्थ शासकों के आश्रितों के विद्रोह *(Revolts by the Dependents of the Dismissed Rulers)*

ब्रिटिश भारत में अपदस्थ शासकों के आश्रितों ने भी राज्य की पुनर्प्राप्ति के लिए विद्रोह किए। इनमें प्रमुख विद्रोह निम्नलिखित हैं-

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **रामोसी विद्रोह (Ramosi Revolt) (1822-1826) :** रामोसी मराठा राज्य के अधीनस्थ कर्मचारी थे, जिन्होंने मराठा राज्य के पतन के उपरांत कृषि को रोजगार के रूप में अपना लिया था। अत्यधिक लगान-निर्धारण तथा वसूली के कष्टदायी तरीकों के विरोध में उन्होंने 1822 में विद्रोह कर दिया। इसी बीच सन् 1825-26 में अकाल पड़ने के कारण उमा जी के नेतृत्व में उन्होंने पुन: विद्रोह किया। ब्रिटिश सरकार ने उनके अपराधों को माफ कर दिया तथा भूमि-अनुदान देने के साथ-साथ उन्हें पर्वतीय पुलिस में भर्ती भी किया।
- **गड़करी विद्रोह (Gadkari Revolt) (1844) :** गड़करी मराठों के दरबार में काम करने वाले पुश्तैनी कर्मचारी थे। मराठा सेना से सेवा मुक्त किये जाने तथा कृषि भूमि को मामलतदारों के पिरीक्षण में रखे जाने के विरुद्ध गड़करी लोगों ने सन् 1844 में कोल्हापुर में विद्रोह कर दिया। अंग्रेजों ने क्रूरतापूर्ण तरीकों द्वारा इस विद्रोह का दमन किया।
- **सावंतवादी विद्रोह (Sawantwadi Revolt) (1844) :** मराठा सामंत फोंड सावंत ने सन् 1844 में दक्कन में विद्रोह कर दिया। अंग्रेजी सेनाओं ने इस विद्रोह के विरुद्ध कठोर कार्रवाई की, जिसके परिणामस्वरूप ये लोग गोवा चले गये। कालांतर में सावंतवादी विद्रोहियों पर राजद्रोह के मुकदमे चलाकर उन्हें कठोर सजाएँ दी गईं।

जनजातीय आंदोलन *(Tribal Movements)*

भारत में ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद यहाँ की जनजातियों का औपनिवेशिक सत्ता के साथ अनेक बार सशस्त्र संघर्ष हुआ। इन संघर्षों का मुख्य कारण ब्रिटिश शासन द्वारा उनकी विशिष्ट भौगोलिक, सामाजिक, आर्थिक एवं सांस्कृतिक परंपराओं में हस्तक्षेप किया जाना था। इन जनजातीय आंदोलनों का चरित्र अन्य सामुदायिक आंदोलनों से इस अर्थ में भिन्न था कि ये अत्यधिक हिंसक, बिल्कुल अलग-थलग और एकाकी थे। इन आंदोलनों का विश्लेषण करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं। कि इन आन्दोलनों के पीछे कुछ कारण निहित थे, जो इस प्रकार हैं–

- ब्रिटिश शासन की स्थापना के बाद लागू नई भू-राजस्व तथा प्रशासनिक व्यवस्था ने कबीलाई तथा विभिन्न विशिष्ट सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थाओं को औपनिवेशिक व्यवस्था में शामिल कर लिया। इस नई व्यवस्था ने आदिवासियों के शोषण का एक नया तंत्र स्थापित कर दिया, जिसके कारण इन जनजातियों में जबरदस्त असंतोष फैला।
- औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था ने अपने हितों के उन्नयन के लिए जमींदारों तथा बिचौलिये वर्ग को बढ़ावा दिया। इस वर्ग ने आदिवासियों को कर के जटिल ढाँचे में उलझाकर उन्हें उनकी ही भूमि से बेदखल कर दिया। इससे वे औपनिवेशिक शोषण के अंतहीन जाल में फँस गये।
- आदिवासियों का जंगलों के साथ गहरा भावनात्मक संबंध था। जनजातीय लोग न केवल आवश्यक चीजों के लिए जंगलों पर निर्भर थे, बल्कि उनके धार्मिक देवता भी जंगलों में ही निवास करते थे। वे स्थानांतरित खेती भी करते थे। ब्रिटिश शासन की स्थापना तथा उनके द्वारा लागू की गई जंगल नीति से आदिवासियों का यह संबंध समाप्त हो गया। इस कारण ये आदिवासी आक्रोश से भर गये।
- ब्रिटिश शासन की स्थापना के उपरांत आदिवासी क्षेत्रों में ईसाई मिशनरियों की गतिविधियाँ शुरू हो गईं, जिसे ब्रिटिश प्रशासन ने भी प्रोत्साहित किया। ये मिशनरियाँ समाज सुधार, शिक्षा-प्रसार आदि के नाम पर जनजातीय इलाकों में ईसाई धर्म का प्रचार-प्रसार किया करती थीं। अत: मिशनरियों की इन गतिविधियों के कारण उनके पारंपरिक धर्म और संस्कृति को क्षति पहुँची, जिसके फलस्वरूप आदिवासियों ने तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त की।
- ब्रिटिश प्रशासन के अंतर्गत पुलिस एवं अन्य छोटे-छोटे अधिकारियों द्वारा किए जाने वाले अत्याचारों, शोषण और जबरन वसूली के कारण आदिवासियों का जीना कष्टप्रद हो गया था। लगान वसूलने वाले महाजन, सरकारी अधिकारी, आदि ने उनका जमकर शोषण किया तथा उन्हें बेगार (Forced Labour) करने के लिए मजबूर किया, जिसकी परिणति अंतत: विद्रोह के रूप में प्रकट हुई।

जनजातीय आंदोलनों का स्वरूप *(Nature of Tribal Movements)*

यद्यपि सभी जनजातीय अथवा आदिवासी आंदोलनों की पृष्ठभूमि एकसमान थी, किंतु इन आंदोलनों के समय तथा इनके द्वारा उठाये गये मुद्दों में पर्याप्त भिन्नता थी। कुँवर सुरेश सिंह ने इन आंदोलनों को तीन चरणों में विभाजित किया है– प्रथम चरण 1795 से 1820 के बीच का था। इस समय अंग्रेजी शासन-व्यवस्था युवावस्था की ओर बढ़ रही थी। दूसरा चरण 1860 से 1920 तक रहा। इस चरण के दौरान आदिवासी आंदोलनों की प्रवृत्ति अलगाववादी आंदोलनों की बजाय राष्ट्रवादी तथा कृषक आंदोलनों में भाग लेने की रही। इसके अलावा, दोनों चरणों में नेतृत्व के स्तर पर भी भिन्नता थी। जहाँ प्रथम चरण के नेता आदिवासी समाज के ऊपरी वर्गों के थे, वहीं दूसरे चरण के नेता इसके निचले वर्गों के थे। तीसरे चरण में प्रथम तथा द्वितीय चरण की बजाय अधिक परिपक्वता दिखाई पड़ती है। इस दौरान आदिवासी आंदोलनों में राष्ट्रीय आंदोलन के साथ मिलकर काम करने की प्रवृत्ति दिखाई देती है। साथ ही, इन आंदोलनों का नेतृत्व शिक्षित आदिवासियों तथा गांधीवादी सामाजिक कार्यकर्ताओं से लेकर गैर-जनजातीय लोगों, यथा अल्लूरी सीताराम राजू जैसे व्यक्तियों ने किया। जनजातीय मुद्दों के आधार पर इनको चार शीर्षकों में वर्गीकृत किया जा सकता है–

Copyright – Drishti The Vision Foundation

1. जातीय आंदोलन (Ethnic Movements)
2. सुधारवादी आंदोलन (Reform Movements)
3. कृषि और वन-आधारित आंदोलन (Agriculture and Forest-based Movements)
4. राजनीतिक आंदोलन (Political Movements)

मोटे तौर पर देखने पर उक्त वर्गीकरण विशिष्ट तथा अलग-अलग मुद्दों एवं भिन्न वर्गों को समेटे हुए दिखता है, किंतु सूक्ष्म विश्लेषण करने पर हम पाते हैं कि आंदोलनों का यह चरण क्रमिक विकास को दर्शाता है। निष्कर्ष के रूप में यह कहा जा सकता है कि वर्गीकरण के बावजूद ये सभी आंदोलन एक-दूसरे से संबद्ध हैं। बहरहाल, ये सभी अपने उद्देश्यों की पूर्ति में स्थूलतः विफल ही रहे।

जनजातीय आंदोलनों की कमजोरियाँ *(Weaknesses of Tribal Movements)*

जनजातीय आंदोलनों की असफलता के कारणों का अध्ययन करने पर हम इनमें अनेक खामियाँ और कमजोरियाँ पाते हैं जो कि निम्नलिखित हैं–

- दूर-दृष्टि या भविष्यगत रणनीति का अभाव।
- राजनीतिक और सामाजिक विकल्प का अभाव।
- औपनिवेशिक व्यवस्था की वास्तविक समझ का अभाव।
- विद्रोह का स्थानीय स्वरूप।
- राष्ट्रीय नेतृत्व का अभाव।
- अंग्रेजों द्वारा बर्बरतापूर्वक दमन।
- इन विद्रोहों का तात्कालिक उद्देश्य केवल शोषणकारी औपनिवेशिक व्यवस्था के अंत तक ही सीमित था। इसके आगे की व्यवस्था की कोई योजना उनके पास नहीं थी।

उपरोक्त सभी कमियों के बावजूद भी ये जनजातीय विद्रोह किसी साम्राज्यवादी शक्ति के विरुद्ध परंपरागत विद्रोह का एक उत्कृष्ट उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। यद्यपि ये अंग्रेजों द्वारा कुचल दिये गये, किंतु आदिवासियों के इस संघर्ष ने राष्ट्रीय आंदोलन को न केवल व्यापक सामाजिक आधार दिया, बल्कि उसकी ऊर्जा को भी सही दिशा में निर्देशित किया।

जनजातीय आंदोलनों से जुड़े कुछ महत्वपूर्ण तथ्य *(Some Important Facts Related to Tribal Movements)*

- **पहाड़िया विद्रोह (Paharia Revolt) :** 1770 के दशक में राजमहल के पहाड़ी क्षेत्रों (वर्तमान झारखंड) में ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था के विरोध में पहाड़िया विद्रोह हुआ। आदिवासियों के छापामार संघर्ष से परेशान अंग्रेजी सरकार ने सन् 1778 में इनसे समझौता कर इनके क्षेत्र को 'दामनी कोल' क्षेत्र घोषित कर दिया।
- **खोंड विद्रोह (Khond Revolt) :** चक्रबिसोई के नेतृत्व में सन् 1837-1856 के बीच खोंड विद्रोह हुआ। इसका कारण सरकार की भू-राजस्व नीति, आदिवासी क्षेत्रों में जमींदारों और साहूकारों की घुसपैठ तथा सरकार द्वारा आदिवासियों पर विभिन्न तरह के प्रतिबंध लगाना था। आगे चलकर राधाकृष्ण दंड ने इसका नेतृत्व किया।
- **संथाल विद्रोह (Santhal Rebellion) :** बिहार और उड़ीसा के वीरभूमि, सिंहभूमि, बाँकूड़ा, मुँगेर, हजारीबाग और भागलपुर में सन् 1855-56 का संथाल विद्रोह हुआ। इसका प्रमुख कारण साहूकारों, औपनिवेशिक प्रशासकों, बाहरी लोगों, (दिकू) तथा व्यापारियों द्वारा उनका शोषण एवं उत्पीड़न था। इस विद्रोह का नेतृत्व सिद्धू और कान्हू नामक दो संथाल भाइयों ने किया। इस विद्रोह की तीव्रता इतनी अधिक थी कि इस क्षेत्र में ब्रिटिश नियंत्रण लगभग समाप्त हो गया। सरकार को संथालों के विद्रोह पर नियंत्रण रखने के लिये मार्शल लॉ लागू करना पड़ा तथा इनके विद्रोही नेताओं को पकड़ने के लिए 10 हजार का इनाम घोषित किया गया। सिद्धू को अगस्त 1855 और कान्हू को फरवरी 1856 में पकड़े जाने के बाद मार डाला गया।
- **भील विद्रोह (Bhil Revolt) :** राजस्थान की भील जनजाति ने बंधुआ मजदूरी (Banded Labour) के खिलाफ गोविन्द गुरु के नेतृत्व में विद्रोह किया। सन् 1913 तक यह आंदोलन इतना प्रचंड हो गया कि विद्रोही भीलों ने भीलराज स्थापित करने का संकल्प ले लिया। ब्रिटिश सेना के काफी प्रयत्न के बाद ही इस विद्रोह को कुचला जा सका।
- **बस्तर का विद्रोह (Bastar Revolt) :** सन् 1910 में बस्तर के राजा के विरुद्ध जगदलपुर क्षेत्र में विद्रोह हुआ, जिसका दमन ब्रिटिश सेना ने किया। इस विद्रोह का मुख्य कारण वन अधिनियमों का क्रियान्वयन और सामन्ती करों का करारोपण था।
- **कोया विद्रोह (Koya Revolt) :** आंध्र प्रदेश के पूर्वी गोदावरी में कोया विद्रोह आरंभ हुआ तथा उड़ीसा के मल्लकागिरी जिले तक फैला। सन् 1879-80 में टोम्मा-सोरा ने इस विद्रोह का नेतृत्व किया। पुलिस ने सोरा को गोली मार दी, जिससे यह विद्रोह

Copyright – Drishti The Vision Foundation

खत्म हो गया। सन् 1886 में दूसरा कोया विद्रोह राजा अनंतशय्या के नेतृत्व में हुआ। इस विद्रोह में अनंतशय्या ने रामसंडु (राम की सेना) का गठन किया तथा जयपुर के महाराज से अंग्रेजों का शासन खत्म करने के लिए सहायता माँगी।

- **मुंडा विद्रोह (Munda Rebellion) :** छोटानागपुर क्षेत्र में बिरसा मुंडा के नेतृत्व में सन् 1899-1900 में उल्गुलन (महाविद्रोह) हुआ। मुंडारी भूमि-व्यवस्था की गैर-सामंतवादी, जमींदारी या व्यक्तिगत भू-स्वामित्व वाली भूमि-व्यवस्था में परिवर्तन के विरुद्ध विद्रोह की शुरुआत हुई और बाद में इसका परिवर्तन बिरसा के धार्मिक व राजनीतिक आंदोलन के रूप में हो गया। बिरसा की लोकप्रियता का मूल कारण उसकी औषधीय और चिकित्सीय शक्तियाँ थीं, जिनके द्वारा अपने समर्थकों को अमर बना देने का दावा करता था। अंग्रेजों के बर्बरतापूर्ण दमन के द्वारा ही इस विद्रोह को समाप्त किया जा सका। अंततः बिरसा मुंडा पराजित हुआ तथा कैद कर लिया गया, जहाँ जेल में उसकी मृत्यु हो गई। इस विद्रोह के बाद अंग्रेजों द्वारा छोटानागपुर काश्तकारी कानून बनाकर कृषकों के अधिकारों को मान्यता दे दी गई और बेगारी या बंधुआ मजदूरी पर प्रतिबंध लगा दिया गया।
- **ताना भगत आन्दोलन (Tana Bhagat Movement) :** प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् छोटानागपुर (झारखण्ड) क्षेत्र में ताना भगत आंदोलन की शुरुआत हुई। आदिवासी नेतृत्व में यह आंदोलन एक प्रकार का संस्कृतिकरण आंदोलन था। इन आदिवासी आंदोलनकारियों को गांधीवादी समर्थकों ने अपने रचनात्मक कार्यों के माध्यम से राष्ट्रीय आंदोलन से जोड़ दिया। सरकार ने इस आंदोलन के विरुद्ध प्रायः दमनकारी तरीके अपनाए।
- **रम्पा विद्रोह (Rampa Revolt) :** आंध्र प्रदेश के गोदावरी जिले के उत्तर में स्थित रम्पा क्षेत्र में साहूकारों के शोषण और वन कानूनों के खिलाफ आदिवासियों ने विद्रोह किया। इस विद्रोह के नेता अल्लूरी सीताराम राजू थे, जो एक गैर-आदिवासी थे और जिन्होंने ज्योतिष और चिकित्सीय उपचार संबंधी शक्तियों से युक्त होने का दावा किया। इन्होंने शीघ्र ही लोकनायक की छवि धारण कर ली। राजू गांधीवादी थे, लेकिन आदिवासी कल्याण के लिए हिंसा को जरूरी समझते थे। वे बंदूक की गोलियों की बौछार से स्वयं के अभेद्य होने का दावा करते थे। मई 1924 में पुलिस द्वारा अल्लूरी सीताराम राजू की हत्या के साथ ही विद्रोह को शांत कर दिया गया।
- **खासी विद्रोह (Khasi Revolt) :** बर्मा युद्ध के परिणामस्वरूप कंपनी द्वारा खासी और जयंतिया पहाड़ी पर नियंत्रण के बाद ब्रह्मपुत्र और सिलहट को जोड़ने के लिए एक सड़क बनाने की योजना बनाई गई। सड़क निर्माण के लिये मजदूरों की बलपूर्वक भर्ती किये जाने के कारण खासियों ने अपने सरदार तीरत सिंह के नेतृत्व में विद्रोह शुरू कर दिया। आखिरकार, 1833 में इस विद्रोह को दबा दिया गया।
- **अहोम विद्रोह (Ahom Revolt) :** असम के अहोम जनजाति ने बर्मा युद्ध के बाद सन् 1828 में कंपनी द्वारा उनके क्षेत्र वापस न किये जाने के कारण गोमधर कुँवर के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया।
- **नागा आन्दोलन (Naga Movement) :** रूढ़िवादिता, अंधविश्वास तथा अतार्किक रीति-रिवाजों को समाप्त करके प्राचीन धर्म के उन्नति के लिए नागालैंड के एक युवा नेता रोंगमेई जदोनांग ने एक शक्तिशाली नागा आंदोलन का संगठन किया, जिसका लक्ष्य नागा राज्य की स्थापना करना था। अगस्त 1931 में जदोनांग को गिरफ्तार कर उसे फाँसी पर चढ़ा दिया गया। जदोनांग को फाँसी देने के पश्चात् इस आंदोलन का नेतृत्व सन् 1932 तक 17 वर्षीय नागा बालिका गैडिनलियू ने, किया। इस आंदोलन को गैडिनलियू ने सविनय अवज्ञा आंदोलन (Civil Disobedience Movement) के साथ जोड़कर इसे राष्ट्रीय स्वरूप दे दिया। गैडिनलियू को जवाहर लाल नेहरू एवं आजाद हिन्द फौज ने 'रानी' की उपाधि देकर सम्मानित किया। गैडिनलियू ने जदोनांग के धार्मिक विचारों के आधार पर हेर्का पंथ की स्थापना की।

ब्रिटिश भारत में किसान आंदोलन *(Peasant Movements in British India)*

ब्रिटिश शासन के अंतर्गत किसान आंदोलनों का सिलसिला उतना ही पुराना है जितना कि स्वयं ब्रिटिश शासन। अपने शासन के आरंभिक दिनों से ही कंपनी की सरकार का मुख्य लक्ष्य भू-राजस्व की अधिकतम वसूली रहा था, ताकि व्यावसायिक और सैन्य निवेश की जरूरतों को पूरा किया जा सके। आगे भी औपनिवेशिक सरकार के अंतर्गत भू-राजस्व सरकारी आमदनी का प्रमुख साधन बना रहा। यही कारण है कि कंपनी तथा ब्रिटिश सरकार के अंतर्गत किये गये सभी प्रकार के भू-राजस्व प्रबंधन, जैसे- स्थायी बंदोबस्त, रैय्यतवाड़ी एवं महालवाड़ी पद्धति में भू-राजस्व की दर अधिकतम रूप में निर्धारित की गई। तत्कालीन भारत में कृषि अधिकांश जनसंख्या की आजीविका का प्रमुख स्रोत थी, इसलिए इस औपनिवेशिक राजस्व प्रबंधन ने कृषकों की विपन्नता को बढ़ा दिया, जिसके परिणामस्वरूप देश के विभिन्न भागों में कृषक विद्रोह शुरू हो गए।

किसान आंदोलनों का स्वरूप *(Nature of the Peasant Movements)*

ब्रिटिश शासन की शुरुआत के समय लगभग तीन-चौथाई से ज्यादा जनसंख्या कृषि या उससे संबंधित गतिविधियों में लगी हुई थी। ब्रिटिश शासन की स्थापना के साथ ही भारत में नई भू-राजस्व, प्रशासकीय तथा न्याय व्यवस्था अस्तित्व में आयीं। इन विस्तृत

Copyright – Drishti The Vision Foundation

परिवर्तनों से नये सामाजिक वर्गों का उदय हुआ। अंग्रेजों की वाणिज्यिक नीतियों तथा उसके कारण उत्पन्न सामाजिक-आर्थिक व्यवस्थागत परिवर्तनों के कारण अठारहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भीषण अकाल पड़ा। समय-समय पर होने वाली आर्थिक मंदी के कारण भी किसान वर्ग को भयंकर परेशानियों का सामना करना पड़ा। इन परिप्रेक्ष्य में लगान वृद्धि तथा नील जैसी वाणिज्यिक फसलों की जबरन खेती, बलपूर्वक बेदखली, साहूकारों की सूदखोर प्रवृत्ति तथा बागान मालिकों के शोषण और उत्पीड़न के खिलाफ किसानों द्वारा अनेक आंदोलन शुरू किये गये।

इन विद्रोहों के स्वरूप के विश्लेषण के संदर्भ में पिछली पीढ़ी के कुछ विद्वान यह मानते थे कि भारत में कृषक विद्रोह बहुत कम हुए और जो कुछ हुए भी तो वे अपने स्वरूप में नितांत निष्प्रभावी, असंगठित, स्थानीय और स्वत:स्फूर्त थे जिनको राजनीति से प्रेरित नहीं माना जा सकता। उनके विचार में किसान वर्ग का स्तरहीन स्वरूप तथा विशिष्ट जातिगत सामाजिक संरचना ही कृषक आंदोलनों की कमजोरी के मुख्य कारण रहे। आधुनिक विद्वानों ने इस मान्यता को चुनौती देते हुए एक शोध के आधार पर यह सिद्ध किया कि आधुनिक भारत के प्रत्येक राज्य में कृषक विद्रोह हुए तथा इनमें से अधिकांश आंदोलनों का अनुभव-सिद्ध प्रमाण मिलता है। जहाँ तक कि कृषक आंदोलनों के स्वरूप का प्रश्न है तो ये समय-समय पर एक क्षेत्र से दूसरे क्षेत्र में भिन्न-भिन्न प्रकृति के रहे तथा कभी-कभी इन किसान आंदोलनों ने राजनीतिक एवं सांप्रदायिक रूप भी लिया।

किसान आंदोलनों के विभिन्न चरण *(Various Phases of Peasant Movements)* : ब्रिटिश भारत में हुए किसान आंदोलनों को सामान्य तौर पर तीन चरणों में बाँटकर देखा जा सकता है-

I. 1857 से पूर्व के किसान आंदोलन, II. 1857 से 1900 के मध्य किसान आंदोलन, III. 20वीं शताब्दी के किसान आंदोलन

I. **1857 से पूर्व के किसान आंदोलन *(Peasant Movements before 1857)* :** सन् 1857 से पूर्व के किसान आंदोलन अथवा कृषक विद्रोह, स्वतंत्र विद्रोह नहीं, बल्कि किसी अन्य जन-विद्रोह या 1857 के विद्रोह के भाग थे। कृषकों के असंतोष का प्रमुख कारण आर्थिक था, जो कि जन सामान्य के असंतोष का भी प्रमुख कारण था। ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के प्रति सिर्फ कृषकों में ही नहीं, बल्कि अन्य वर्गों में भी व्यापक आक्रोश था। ब्रिटिश आर्थिक नीतियों के फलस्वरूप सम्पूर्ण ग्रामीण अर्थव्यवस्था का आधार टूट गया और संपूर्ण ग्रामीण समुदाय औपनिवेशिक शासन के दुष्चक्र में फँस गया।

ब्रिटिश भू-राजस्व व्यवस्था के अंतर्गत किसानों को उच्च लगान देना पड़ता था। लगान न दे पाने की स्थिति में उन्हें भूमि से विस्थापित कर, भूमिहीन मजदूर बनने को बाध्य किया जाता था। कृषि के वाणिज्यीकरण के तहत उन्हें नकदी फसल उगाने तथा इन फसलों को कम मूल्य पर बेचने के लिए बाध्य किया जाता था। इन परिस्थितियों में उन्हें स्थानीय महाजनों से ऋण लेना पड़ता था और ऋण न चुका पाने की स्थिति में उन्हें अपनी भूमि गिरवी रखनी पड़ती थी। अत: इस नयी प्रणाली के अंतर्गत कृषकों का शोषण और उत्पीड़न हुआ और उनमें दरिद्रता बढ़ी। इसके फलस्वरूप वे अन्य वर्गों के साथ औपनिवेशिक व्यवस्था के खिलाफ विद्रोहों में शामिल होते चले गए। इन विद्रोहों का नेतृत्व सत्ताच्युत शासकों एवं जमींदारों ने किया और इन विद्रोहों में कृषक उनके सहभागी बने। सन् 1857 के विद्रोह में भी कृषकों ने बड़ी संख्या में भाग लिया।

II. **1857 से 1900 के मध्य किसान आंदोलन *(Peasant Movements from 1857 to 1900)*:** इस चरण में हुए किसान आंदोलनों का स्वरूप पहले हुए कृषक विद्रोहों से काफी भिन्न था। अब किसान एक वर्ग के रूप में सामने आए और देश के कई हिस्सों में स्वतंत्र रूप से कृषक विद्रोह हुए। इस बार इन विद्रोहों की ताकत स्वयं कृषक ही थे। इस समय तक किसानों ने अपनी माँगों के लिए प्रत्यक्षत: लड़ना प्रारम्भ कर दिया था। इस दौरान उनकी अधिकतर माँगें आर्थिक स्वरूप की थीं तथा इनके वास्तविक दुश्मन बागान मालिक, जमींदार तथा अन्य बिचौलिये वर्ग थे, जो इनके शोषण एवं उत्पीड़न के लिए प्रत्यक्ष रूप से जिम्मेदार थे।

इन विद्रोहों का उद्देश्य सामंती बेड़ियों को तोड़ डालना था। कृषकों ने प्रत्यक्ष रूप से भूमिकर में वृद्धि, बेदखली एवं साहूकारों के विरुद्ध अपना रोष प्रकट किया जो कि उनके शोषण एवं उत्पीड़न के प्रमुख कारण थे।

इस दौरान अधिकतर विद्रोह स्थानीय स्वरूप के थे तथा वे सीमित इलाकों में ही फैले। इन आंदोलनों के नेता कृषक वर्ग से ही संबंधित थे, फिर भी इन विद्रोहों में वर्ग चेतना का अभाव था। साथ ही, ये विद्रोह सभी स्थानों पर एकसमान नहीं थे, बल्कि विभिन्न स्थानों पर इनकी प्रकृति भिन्न-भिन्न थी। इस समय के प्रमुख कृषक विद्रोहों का विवरण निम्नवत् है-

- **नील विद्रोह (Indigo Revolt) :** यह विद्रोह बंगाल में हुआ, जो कि 19वीं सदी का सबसे संघर्षशील, सबसे बड़ा एवं सबसे सफल विद्रोह था। इस विद्रोह का मुख्य कारण नील की खेती के जरिए कृषकों का शोषण किया जाना था। इस क्षेत्र में नील उत्पादक जिनमें अधिकांशत: यूरोपीय थे, किसानों को जबरन नील की खेती करने के लिए मजबूर करते थे, जबकि किसान अपनी भूमि पर चांवल और अन्य खाद्यान्न उगाना चाहते थे। ये नील-उत्पादक किसानों को अग्रिम धन देकर करारनामा लिखवा लेते थे, जो कि बाजार भाव से काफी कम दाम पर हुआ करता था। इसे ददनी प्रथा (Dadni

Copyright – Drishti The Vision Foundation

System) कहा जाता था। चूँकि न्यायिक प्रणाली में अधिकांश यूरोपीय थे, ऐसी स्थिति में कोई विवाद होने पर फैसला उन्हीं के पक्ष में रहा करता था। सन् 1859 में एक नील उत्पादक के दो भूतपूर्व कर्मचारियों दिगंबर विश्वास और विष्णु विश्वास के नेतृत्व में किसान एकजुट हुए और नील की खेती बंद करने का निर्णय लिया। सन् 1860 की शुरुआत में यह आंदोलन बंगाल के उन सभी जिलों में फैल गया जहाँ नील की खेती होती थी। इस संघर्ष का नतीजा यह हुआ कि इस वर्ष के अंत तक बंगाल में नील की खेती पूर्णतः बंद हो गई। अतः इसी वर्ष सरकार ने इस समस्या की जाँच के लिए सिटोनकार की अध्यक्षता में 4-सदस्यीय नील आयोग का गठन कर दिया। आयोग ने अपनी रिपोर्ट में कहा कि किसानों का शोषण होता है। इस आयोग की रिपोर्ट के आधार पर एक अधिसूचना जारी की गई जिसमें कहा गया कि किसी भी किसान को नील की खेती करने के लिए बाध्य नहीं किया जायेगा।

इस आंदोलन की सफलता का सबसे मुख्य कारण किसानों में अनुशासन, एकजुटता, सहयोग एवं संगठन का समावेश था। इस आंदोलन को बुद्धिजीवी वर्ग का पूरा समर्थन प्राप्त था। 'हिन्दू पैट्रियाट' के संपादक हरिश्चंद्र मुखर्जी भी इस आंदोलन से जुड़े थे। दीनबंधु मित्र ने नाटक 'नील दर्पण' में किसानों के शोषण तथा उत्पीड़न का उल्लेख किया है। इस आंदोलन में ईसाई मिशनरियों ने भी किसानों का भरपूर समर्थन किया।

- **पावना विद्रोह (Pabna Peasant Uprising)** : सन् 1873 से 1876 तक चले इस आंदोलन की मुख्य वजह जमींदारों द्वारा कृषकों को भूमि से बेदखल किया जाना तथा ऊँचा लगान तय किया जाना था। जमींदारों के शोषण के खिलाफ प्रारंभ किया गया यह विद्रोह बंगाल के अन्य जिलों में भी फैल गया। सन् 1873 में जमींदारों के उत्पीड़न के विरुद्ध पावना जिले के युसूफशाही परगने में एक किसान संघ की स्थापना हुई। इस संघ ने कृषकों को संगठित करने, लगान न देने तथा जमींदारों के विरुद्ध मुकदमा चलाने के लिए चंदा एकत्र करने जैसे कार्य किये। सामान्यतः यह विद्रोह शांतिपूर्ण रहा, वैसे अपवाद रूप में कहीं-कहीं हिंसात्मक घटनाएँ भी घटीं। कुल मिलाकर इस विद्रोह का मुख्य तरीका कानून के दायरे में ही रहा। सन् 1885 में बंगाल काश्तकारी अधिनियम (Bengal Tenancy Act, 1885) पारित किया गया जिसके माध्यम से कृषकों के भू-स्वामित्व के अधिकारों को मान्यता प्रदान की गयी तथा उन्हें जमींदारों के अत्याचार से बचाने का प्रावधान किया गया।
- **दक्कन का उपद्रव (Deccan Riots)** : महाराष्ट्र के पूना और अहमदनगर जिलों में सन् 1875 में किसानों के आक्रोशवश व्यापक स्तर पर उपद्रव हुआ। इसके तहत किसानों ने बाहरी महाजनों का बहिष्कार करना प्रारंभ कर दिया और उन्होंने महाजनों के पास रखे बंधक-पत्र (Bonds) व अन्य दस्तावेज जला दिए। शीघ्र ही यह उपद्रव अन्य क्षेत्रों में भी फैल गया। अतः सरकार ने दक्कन कृषक राहत अधिनियम, 1879 (Deccan Agriculturists Relief Act, 1879) के माध्यम से किसानों को कुछ संरक्षण प्रदान किया।
- **पंजाब में कृषक आंदोलन (Peasant Movement in Punjab)** : सन् 1890-1900 के दौरान पंजाब में एक साहूकार-विरोधी आंदोलन चला। सन् 1902-03 में पंजाब भूमि हस्तांतरण अधिनियम (Punjab Land Alienation Act, 1901) के माध्यम से साहूकारों द्वारा किसानों की भूमि पर कब्जा की जाने वाली प्रवृत्ति पर रोक लगा दी गई। बाबा रामसिंह ने इस किसान आंदोलन का नेतृत्व किया।
- **असम का कृषक आंदोलन (Peasant Movement in Assam)** : असम के मैदानी क्षेत्रों में वर्ष 1893-94 के दौरान किसानों ने लगान की ऊँची दरों के विरुद्ध तीव्र आंदोलन छेड़ा।

इस चरण के आंदोलन का स्वरूप एवं विशेषताएँ: इस समय में हुए विद्रोहों की मुख्य विशेषता यह थी कि ये उपनिवेशवाद के खिलाफ नहीं, बल्कि महाजनों, जमींदारों व साहूकारों के शोषण के खिलाफ किए गए थे। इनका प्रसार भी सीमित था, जो कि किसी क्षेत्र विशेष तक ही सीमित रहा। इनमें न तो निरंतरता थी और न ही दीर्घकालिक संघटन। ये विद्रोह विखण्डित थे तथा जब इनका उद्देश्य पूरा हो जाता था, ये समाप्त हो जाते थे। वास्तव में, ये विद्रोह कृषकों के उत्पीड़न का प्रस्फुटन मात्र था। किसानों ने विद्रोह तब किया जब उन्हें महसूस हुआ कि उनकी पारंपरिक जीवन-शैली पर प्रहार हो रहा है अर्थात् ये यथास्थिति बहाल करने के उद्देश्य से चलाये गये थे। इसके अतिरिक्त, ये जमींदारी प्रथा के विरुद्ध नहीं बल्कि बेदखली, अत्यधिक लगान तथा शोषण के विरुद्ध थे। इन्होंने सूदखोरी के खिलाफ आवाज नहीं उठायी, बल्कि उनकी लड़ाई महाजनों की धोखाधड़ी से थी। साथ ही, इन विद्रोहों में कृषकों ने अपने कानूनी अधिकारों के प्रति सजगता दिखाई अर्थात् उन्होंने जमींदारों और साहूकारों के विरुद्ध न्यायालय में मुकदमा दायर किया। उन्होंने इस दौरान अपने साहस और बलिदान तथा अद्भुत सांगठनिक क्षमता एवं एकता का परिचय दिया, जो कि जाति एवं धर्म से ऊपर था। इसके अतिरिक्त, इस चरण में किसानों ने उपनिवेशी सरकार से कुछ रियायतें भी प्राप्त कीं। यद्यपि ये रियायतें कृषकों का शोषण कम करने के लिए पर्याप्त नहीं थीं, लेकिन सरकार का समझौतावादी रवैया उनकी सफलता में सहायक सिद्ध हुआ।

सन् 1857 के विद्रोह और आदिवासियों के विद्रोह को दबाने के लिए ब्रिटिश शासन ने अमानवीय अत्याचार किए तथा

Copyright – Drishti The Vision Foundation

पूर्णतया दमनात्मक प्रवृति को अपनाया। सन् 1858 के बाद के किसान-आंदोलनों के प्रति ब्रिटिश शासन ने समझौतावादी और लचीला रुख अपनाया। इसका कारण यह था कि इससे पहले के आंदोलनों ने शासन को सीधी चुनौती दी थी जबकि सन् 1858 के बाद के आंदोलनों ने शासन को कभी चुनौती नहीं दी।

III. 20वीं शताब्दी के किसान आंदोलन ***(Peasant Movements of 20th Century):*** प्रथम विश्वयुद्ध ने भारतीय किसानों की परेशानियों को और भी बढ़ा दिया क्योंकि कई क्षेत्रों में युद्धकोष एवं सैनिक कार्यवाही के लिए भी धन देना पड़ता था। साथ ही, खाद्यान्न की कीमतों में भी भारी वृद्धि हुई तथा बेरोजगारी बढ़ी। इन परिस्थितियों में जमींदारों और महाजनों ने बहुत लाभ कमाया। देखते ही देखते किसानों की स्थिति अत्यंत दयनीय हो गई। इसी के फलस्वरूप व्यापक पैमाने पर किसान आंदोलनों का जन्म हुआ। इन आंदोलनों का विवरण निम्नवत् है-

- **चंपारण सत्याग्रह (Champaran Satyagraha, 1917)** : यह कृषक आंदोलन गांधी जी के नेतृत्व में प्रथम सत्याग्रह आंदोलन था। बिहार के चंपारण में यूरोपीय नील बागान-मालिकों ने कृषकों से एक समझौता किया था, जिसके तहत उन्हें अपनी कृषि-योग्य भूमि के 3/20 भाग पर अनिवार्य रूप से नील की खेती करनी होती थी। इस पद्धति को तिनकठिया पद्धति (Tinkathia System) कहा जाता था। रासायनिक रंगों की खोज और उसके प्रचलन से नील की माँग में गिरावट आने लगी, जिससे नील बागान-मालिक चंपारण क्षेत्र के अपने नील कारखानों को बंद करने लगे। उन्होंने जो समझौता किसानों से किया था, उससे मुक्त करने के लिए अंग्रेज बागान-मालिकों ने बड़ी धनराशि की माँग की। परिणामस्वरूप, विद्रोह शुरू हो गया। सन् 1917 में राजकुमार शुक्ल नामक स्थानीय कृषक ने लखनऊ में गांधीजी से मुलाकात की तथा उनसे चम्पारण आने का आग्रह किया। राजकुमार शुक्ल के आग्रह पर महात्मा गांधी ने चंपारण सत्याग्रह प्रारंभ किया।

  गांधी जी के नेतृत्व में चंपारण आंदोलन में किसानों की एकजुटता को देखते हुए ब्रिटिश सरकार ने जुलाई 1917 में इस मामले की जाँच के लिये एक आयोग गठित किया, जिसके सदस्यों में गांधी जी स्वयं भी शामिल थे। आयोग की सिफारिश पर सरकार ने तिनकठिया पद्धति को अवैध घोषित करते हुए इसकी समाप्ति की घोषणा कर दी। इस आंदोलन से राजेन्द्र प्रसाद, ब्रजकिशोर, महादेव देसाई, नरहरि पारिक तथा जे. बी. कृपलानी निकट रूप से जुड़े रहे। रवीन्द्रनाथ टैगोर ने चम्पारण सत्याग्रह के दौरान ही गांधीजी को "महात्मा" की उपाधि दी थी।
- **खेड़ा सत्याग्रह (Kheda Satyagraha, 1918)** : सन् 1918 में गांधी जी के नेतृत्व में गुजरात के खेड़ा जिले में किसानों ने लगान की बढ़ायी गई दर के विरोध में आंदोलन किया। वर्ष 1917-18 में फसल खराब हो जाने के बाद भी लगान की हो रही वसूली इस आंदोलन का प्रमुख कारण था। गांधी जी पीड़ित कुनबी-पटीदार किसानों (Kunbi-Patidar Peasants) के कष्टों के निवारणार्थ खेड़ा गये। इन्दुलाल याज्ञनिक एवं बल्लभभाई पटेल जैसे नेताओं के साथ गांधी जी ने खेड़ा जिले का दौरा किया और किसानों को लगान न देने का परामर्श दिया। स्थानीय नेता मोहनलाल पंडा ने लगान न अदा करने का पहला नारा खेड़ा के कापड़गंज तालुके में दिया। इस आंदोलन की गंभीरता को देखते हुए सरकार ने इस आशय का गोपनीय दस्तावेज जारी किया कि लगान उसी से वसूला जाए जो उसे देने में समर्थ हो। गांधी जी के नेतृत्व में आंदोलन सफल रहा। खेड़ा से ही गांधी जी ने अपने प्रथम वास्तविक किसान सत्याग्रह की शुरुआत की।
- **मालाबार का मोपला विद्रोह (Malabar Moplah Rebellion, 1921)** : मालाबार तट पर निवास करने वाले मोपला पहले भी विद्रोह करते थे, लेकिन उन विद्रोहों की प्रकृति इतनी संगठित नहीं थी तथा उनका स्वरूप भी क्षेत्रीय था। 20वीं शताब्दी में मोपलाओं के असंतोष को राष्ट्रीय आंदोलन ने और भी तीव्र कर दिया। मोपलाओं को असहयोग आंदोलन के दौरान कांग्रेस और खिलाफत आंदोलनकारियों ने संगठित किया। अप्रैल 1920 में हुए कांग्रेस के मंजेरी सम्मेलन (Manjeri Conference, 1920) के बाद खिलाफत आंदोलन ने 1916 से मालाबार में चल रहे काश्तकारी आंदोलन को अपने नियंत्रण में ले लिया। के. महादेव नायर, गोपाल मेनन, याकूब हसन, पी. मोयउद्दीन कोया जैसे उदारवादी कांग्रेसी तथा खिलाफत नेताओं की फरवरी 1941 में गिरफ्तारी से यह आंदोलन सांप्रदायिक शक्तियों के हाथों में चला गया।

  20 अगस्त, 1921 को तिरुरांगडी स्थित एक स्थानीय मस्जिद पर पुलिस के छापे के बाद विद्रोह ने हिंसात्मक रूप ले लिया। दंगाइयों का निशाना सरकारी संपत्ति तथा सरकारी कर्मचारी थे। इस दौरान किसी भी दयालु भूस्वामी अथवा गरीब हिन्दू को हानि नहीं पहुँचायी गयी, लेकिन जब ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह के दमन के लिए फौजी कानून (Martial Law) लगाने की घोषणा की, तो विद्रोह ने सांप्रदायिक रूप धारण कर लिया। इसका कारण यह था कि हिन्दुओं ने या तो दबाव में आकर या फिर स्वेच्छा से सरकार के समर्थन का रवैया अपना लिया था, जिससे मोपला पूर्णतया हिन्दू-विरोधी हो गये। उन्होंने हिन्दुओं पर हमले किए तथा उन्हें धर्म-परिवर्तन के लिए बाध्य किया। सरकार-विरोधी तथा भूस्वामी-विरोधी गतिविधियों की बड़े पैमाने पर हुई इस कार्रवाई से सांप्रदायिकता को बढ़ावा मिला। मोपलाओं के हिंसात्मक कार्यों के कारण कांग्रेस ने पहले ही इस आंदोलन से अपना संबंध समाप्त कर लिया। ब्रिटिश सरकार ने कार्यवाही करते हुए लगभग 10 हजार मोपलाओं की हत्या कर दी। इस प्रकार, जो विद्रोह भूमि संबंधी शिकायतों के साथ शुरू हुआ था, उसका आधार कालांतर में बदलकर सांप्रदायिकता हो गया।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **बारदोली सत्याग्रह (Bardoli Satyagraha, 1928)** : सन् 1928 में गुजरात के सूरत जिले के बारदोली तालुके में हुआ बारदोली सत्याग्रह, गांधीवादी आंदोलन और सत्याग्रह का अद्वितीय उदाहरण है। इस आंदोलन की प्रमुख विशेषता थी कि इसमें कुनबी-पटीदार जाति के भूस्वामियों के अतिरिक्त समाज के निचले वर्ग की जातियों, यथा कलीपराज (काले लोग) जैसी जातियों ने भी हिस्सा लिया। कालांतर में इन जनजातियों को समाज में सम्मानपूर्ण स्थान दिलाने के उद्देश्य से कलीपराजों के वार्षिक सम्मेलन, 1927 की अध्यक्षता करते हुए महात्मा गांधी ने कलीपराजों को रानीपराज (वनवासी) नाम दिया।

  जहाँ तक बारदोली सत्याग्रह की पृष्ठभूमि का प्रश्न है तो यहाँ बारदोली के मेहता बंधुओं ने किसानों के समर्थन में सन् 1922 से ही आंदोलन चलाया हुआ था, लेकिन कालांतर में बंबई सरकार ने कपास के मूल्यों में गिरावट के बाद भी लगान में 22% वृद्धि कर दी। तब मेहता बंधुओं ने लगान अदायगी न करने हेतु सत्याग्रह का आयोजन करने के लिए बल्लभभाई पटेल को आमंत्रित किया। 4 फरवरी, 1928 को बारदोली किसान सत्याग्रह का नेतृत्व बल्लभभाई पटेल ने लिया। बढ़े हुए लगान के खिलाफ पटेल ने सरकार को पत्र लिखकर जाँच कराने की माँग की। कांग्रेस के नरमपंथी धड़े ने भी सर्वेंट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी के माध्यम से सरकार द्वारा किसानों की माँगों की जाँच करवाने का अनुरोध किया।

  इस आंदोलन की व्यापकता इस बात से उजागर होती है कि स्थानीय आंदोलन एक राष्ट्रीय आंदोलन के रूप में परिवर्तित हो गया। बारदोली सत्याग्रह के दौरान ही वहाँ की महिलाओं ने बल्लभभाई पटेल को 'सरदार' की उपाधि प्रदान की थी। इस आंदोलन के दौरान जाति संगठनों, सामाजिक बहिष्कार, धार्मिक प्रार्थनाओं, भजनों अथवा भक्ति-गीतों का अथोचित प्रयोग किया गया। निरंतर दबाव पड़ने से सरकार न्यायिक जाँच के आधार पर समझौता करने तथा जब्त की हुई जमीन को लौटाने के लिए मजबूर हो गयी। वायसराय इर्विन ने भी बंबई के गवर्नर विल्सन को मामले को शीघ्र निपटाने का निर्देश दिया। सरकार ने इस मामले की जाँच के लिए ब्रूमफील्ड तथा मेक्सवेल कमेटी का गठन किया। मेक्सवेल-ब्रूमफील्ड की जाँच के परिणामस्वरूप बढ़ाया गया भू-राजस्व 22% से घटाकर 6.03% कर दिया गया। इस प्रकार यह आंदोलन सफल रहा।

- **संयुक्त प्रान्त का किसान आंदोलन**– संयुक्त प्रान्त के तालुकदारों एवं जमींदारों के 1856 में अधिकार वापस मिल जाने से इन्होंने किसानों का शोषण करना शुरू किया। इसलिए इस शोषण के विरूद्ध 1918 ई० में उत्तर प्रदेश किसान सभा का गठन किया गया। इस सभा की स्थापना से जुड़े नेताओं में मदन मोहन मालवीय, इन्द्र नारायण द्विवेदी तथा गौरी शंकर मिश्र प्रमुख थे। जून, 1919 तक इस सभा ने पूरे प्रांत के 173 तहसीलों में 450 से अधिक शाखाएँ स्थापित की क्योंकि इसकी शक्ति बहुत बढ़ गई थी। चूंकि किसान सभा ने किसानों में राजनीतिक जागरूकता को बढ़ावा दिया, इसलिए 1918 के कांग्रेस सम्मेलन में यहाँ के किसानों की व्यापक भागीदारी रही। यद्यपि 1919 में कांग्रेस के अमृतसर अधिवेशन में भी इनकी व्यापक भागीदारी रही, परन्तु ये अपनी मांगों को लेकर काफी उत्तेजित हुए तथा इन्होंने सम्मेलन स्थल पर ही तोड़-फोड़ कर डाली। इसकी आलोचना तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष मोतीलाल नेहरू ने भी की।

  1919 के अन्तिम दिनों में किसान सभा आक्रोश से भर गया। झिंगुरी सिंह तथा दुर्गापाल सिंह के नेतृत्व में प्रतापगढ़ जिले में जागीरदारों के विरूद्ध नाई-धोबी बंद जैसे सामाजिक बहिष्कार कार्यक्रम चलाया गया। कालांतर में बाबा रामचन्द्र भी इस सभा से जुड़े। बाबा रामचंद्र मूलतः महाराष्ट्र के निवासी थे। कालांतर में वे फिजी चले गये तथा 1909 में भारत वापस आने पर इन्होंने प्रतापगढ़ क्षेत्र को अपना केन्द्र बनाया। इस क्षेत्र के किसानों को संघर्ष करने के लिए उन्होंने प्रेरित किया।

  17 अक्टूबर 1920 को प्रतापगढ़ में अवध किसान सभा का गठन किया गया। इस नये किसान संगठन से जुड़े नेताओं में गौरी शंकर मिश्र, जवाहर लाल नेहरू, माता बदल पांडेय, बाबा रामचंद्र, देवनारायण पाण्डे तथा केदारनाथ प्रमुख थे। इस संगठन ने किसानों से बेदखली जमीन न जोतने और बेगार न करने की अपील की। दिसंबर में अयोध्या में हुए इस संगठन के सम्मेलन में लाखों किसानों ने अपनी उपस्थिति दर्ज करायी। इस सम्मेलन में बाबा रामचन्द्र अपने हाथ-पैर रस्सी से बाँधकर आए क्योंकि वे किसानों की वास्तविक स्थिति को दर्शाना चाहते थे। इन आंदोलनों का ही प्रभाव था कि सरकार ने 1921 में अवध मालगुजारी संशोधन अधिनियम पारित कर किसानों को कुछ राहत देने का प्रयत्न किया।

- **मेवाड़ आंदोलन**– विजय सिंह पथिक, मणिकलाल वर्मा और हरिभऊ उपाध्याय जैसे नेताओं के नेतृत्व में मेवाड़ क्षेत्र में 1920 के दशक में किसान आंदोलन शुरू हुआ।

- **एका आंदोलन (1921-22)**– हरदोई, बहराइच, सीतापुर आदि क्षेत्रों में यह आंदोलन जमींदारों के शोषण के विरुद्ध आरंभ हुआ। मदारी पासी और सहरेब जैसे नेता इस आंदोलन को नेतृत्व प्रदान कर रहे थे। इस आंदोलन में किसान एकत्रित होकर गड्ढा खोदते तथा उसमें जल भरते और उसे गंगाजल समझकर शपथ लेते थे कि वे उचित लगान ही देंगे तथा बेदखली स्वीकार नहीं करेंगे। पहले के किसान आंदोलन से यह इस अर्थ में भिन्न था कि एका आंदोलन में छोटे-मोटे जमींदार भी शामिल थे। मार्च 1922 तक सरकार ने दमनात्मक रवैया अपनाते हुए इस आंदोलन को खत्म कर दिया। कालांतर में सरकार ने 1926 में आगरा काश्तकारी अधिनियम तथा 1939 में यू.पी. काश्तकारी अधिनियम पारित किया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- 1927 में तटीय आंध्र प्रदेश में राजस्व में लगभग 19% की वृद्धि के खिलाफ सत्यानारायण राव, दंडू नारायणराजू, टी. प्रकाशम्, कांद्रा बेंकटय्या आदि के द्वारा एक सशक्त आंदोलन चलाया गया।
- 1928 में अकाली नेता खड़कसिंह द्वारा किसानों को संगठित कर आंदोलन चलाया गया। इसके लिए उन्होंने पंजाब रियासती प्रजामंडल की स्थापना की। भू-राजस्व में जो 70% की वृद्धि की गयी थी, उसे वापस लिया जाना इसकी प्रमुख मांग थी।
- पूर्वी संयुक्त प्रांत के गोरखपुर जिले के राघव दास और हुगली जिले के आराम बाग के प्रफुल्ल सेन ने अपने-अपने क्षेत्रों में किसान आंदोलनों को प्रेरित किया। इन दोनों नेताओं को अपने-अपने क्षेत्र का गांधी कहा गया है।
- 1923 ई. में रैय्यत संघ की स्थापना एन.जी. रंगा ने की। कालांतर में 1928 में आंध्र प्रांतीय संघ की स्थापना हुई। मालती चौधरी एवं अन्य लोगों के सहयोग से 1935 में उत्कल प्रांतीय किसान सभा की स्थापना की गयी।
- **अखिल भारतीय किसान संगठन–** 1929 ई. में बिहार किसान संघ की स्थापना सहजानंद सरस्वती ने की। अखिल भारतीय किसान सभा का गठन 1936 ई. में हुआ। इसकी पहली बैठक लखनऊ में हुई, जिसकी अध्यक्षता सहजानंद सरस्वती ने की। एन.जी. रंगा इसके महासचिव थे।
- **वर्ली आंदोलन–** मई 1945 में यह संघर्ष बंबई के थाना जिले में किसानों ने आरंभ किया। उच्च ब्याज दर पर लिये गये ऋण का भुगतान न होने से किसानों के अधिकांश जमीनों का जमींदार तथा महाजनों के अधिकार में चले जाना इस संघर्ष का मूल कारण था।
- **बकाश्त किसान संघर्ष–** बकाश्त भूमि से अभिप्राय ऐसी भूमि से था, जिसे जमींदार अस्थायी काश्तकारों को विभिन्न दरों पर किराये पर देते थे। यह किसान संघर्ष 1946-47 में बिहार में हुआ। 1946 में जब कांग्रेस ने बिहार के चुनाव में जमींदारी प्रथा समाप्त करने का आश्वासन दिया, तब जमींदारों ने अधिकाधिक बकाश्त भूमि को जिरात भूमि (जमींदारों की स्वयं की भूमि, जिस पर खेतीहर मजदूर कार्य करते थे) में बदलना आरंभ कर दिया। बकाश्त किसानों ने जमींदारों के इस बेदखली का प्रबल विरोध किया। मुंगेर, गया, शाहाबाद, दरभंगा, मधुबनी, मुजफ्फरपुर, भागलपुर आदि क्षेत्र इस आंदोलन के केन्द्र थे। कांग्रेस मंत्रिमंडल ने विवश होकर बिहार जमींदारी उन्मूलन एक्ट, 1948 पारित कर बकाश्तों को उसका अधिकार दिलवाया।
- **तेलांगाना आंदोलन–** यह कृषक आंदोलन 1946 से 1951 तक चला। तेलांगाना कृषक आंदोलन भारतीय इतिहास का सबसे लम्बा छापामार कृषक युद्ध के रूप में जाना जाता है।
- **तेभागा आंदोलन–** द्वितीय विश्व युद्ध के बाद का यह सबसे व्यापक आंदालन था जो बंगाल के उन्नीस जिलों में फैला तथा लगभग साठ लाख किसान इस आंदालन से संबद्ध थे। इस आंदोलन के दौरान बंटाईदार किसानों ने एलान किया कि वे फसल उत्पादन का 2/3 हिस्सा लेंगे और जमींदारों को केवल 1/3 हिस्सा देंगे। इसलिए इसे तेभागा आंदोलन कहा जाता है।
- **पुनप्रा वायलार आंदोलन–** केरल में अवस्थित इन क्षेत्रों में किसानों का यह आंदोलन (अक्टूबर 1941) जमींदारों के अत्याचार तथा निजाम शासन के खिलाफ चला। इस आंदोलन में किसान तथा प्रशासकों के मध्य हिंसक झड़प भी हुए। इस आंदोलन के कारण त्रावणकोर का भारत में विलय हो गया।

20वीं शताब्दी के किसान आंदोलनों का स्वरूप एवं विशेषताएँ
(Nature and Salient Features of 20th Century Peasant Movement)

बीसवीं शताब्दी के किसान आंदोलन एवं विद्रोह मुख्यत: क्षेत्रीय थे और इन्होंने स्थानीय किसानों की विशेष परेशानियों पर ही जोर दिया। सामाजिक एवं भौगोलिक परिस्थितियों में परिवर्तन के कारण इन आंदोलनों का प्रसार नहीं हो पाया। दूसरे, ब्रिटिश शासन ने उत्पीड़नकारी प्रशासनतंत्र एवं विस्तृत संचार-साधनों का विकास कर लिया था। औपनिवेशिक शासन ने कृषक विद्रोहियों को योजनाबद्ध ढंग से शस्त्रविहीन किया और जिन विद्रोहों को कुचला नहीं जा सका, उनकी आग को किसी अन्य क्षेत्र में फैलने से पूर्व ही बड़ी चतुराई से ब्रिटिश शासन-व्यवस्था में आत्मसात कर लिया। अत: सन् 1858 और 1914 के बीच हुए कृषक विद्रोह एक-दूसरे से अलग या बिखरे हुए थे। केवल गांधी जी एवं कांग्रेस ने ही किसानों की माँगों का समर्थन किया और उन्हें राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ने का प्रयास किया। इनके माध्यम से किसान आंदोलन राष्ट्रीय संघर्ष के साथ बड़े व्यवस्थित ढंग से जुड़ गए और इस प्रकार ये स्थानीय संघर्षों का योग मात्र नहीं रह गए। इसी कारण किसान आंदोलनों को राष्ट्रीय आंदोलन के साथ जोड़ने का श्रेय मुख्यत: महात्मा गांधी को ही जाता है। इन दो प्रारंभिक आंदोलनों की अभूतपूर्व सफलता ने गांधी जी को राष्ट्रीय राजनीति के केन्द्र में लाकर प्रतिष्ठित कर दिया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-5

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन
(Indian National Movement)

**** (इस खंड का उल्लेख मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 2 में है। दृष्टि द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग 2 से है।)*

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में भारतीयों में राष्ट्रीय राजनीतिक चेतना का विकास बहुत तेजी से हुआ और भारत में एक संगठित राष्ट्रीय आंदोलन का सूत्रपात हुआ। पाश्चात्य शिक्षा का विस्तार, मध्यवर्ग का उदय, रेलवे का विस्तार तथा सामाजिक-धार्मिक आंदोलनों ने राष्ट्रवाद की भावना के विकास में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। इसी क्रम में दिसंबर, 1885 में भारतीय राष्ट्रय कांग्रेस की स्थापना हुई, जिसके नेतृत्व में भारतीयों ने एक लंबा और साहसपूर्ण संघर्ष चलाया और अंततः 15 अगस्त 1947 को देश को ब्रिटिश दासता से मुक्ति दिलाई।

भारत में राष्ट्रीय आंदोलन अथवा राष्ट्रवाद का उदय अनेक कारणों तथा परिस्थितियों का परिणाम था, जिन्हें निम्न रूपों में देखा जा सकता है-

- **औपनिवेशिक शासन का परिणाम (*Consequences of Colonialism*):** विदेशी शासन ने दो रूपों में राष्ट्रवादी भावना के उदय में योगदान दिया। पहला, विदेशी शासकों की विभेदकारी शोषणकारी आर्थिक नीतियों ने भारतीय कृषि तथा पारम्परिक उद्योगों को नष्ट कर आत्मनिर्भरतामूलक ग्रामीण अर्थव्यवस्था को औपनिवेशिक अर्थव्यवस्था में परिवर्तित कर दिया। इसके परिणामस्वरूप लोगों में ब्रिटिश शासन के प्रति आक्रोश की भावना का उदय हुआ। ब्रिटिश शासन द्वारा अपने हितों की पूर्ति के उद्देश्य से किया गया रेलवे का विस्तार तथा डाक एवं प्रशासनिक व्यवस्था दूसरा प्रमुख कारण था। रेलवे का विस्तार तथा डाक एवं प्रशासनिक व्यवस्था के परिणामस्वरूप राष्ट्र का भौगोलिक एकीकरण हुआ। देश के विभिन्न भागों में निवास करने वाले लोगों एवं नेताओं का पारस्परिक संपर्क हुआ, जिससे राष्ट्रवाद को बल मिला। ब्रिटेन को भारत के धन के स्वयं के हित के लिए दोहन की नीति ने यह स्पष्ट कर दिया कि भारतीय हित और ब्रिटिश हित परस्पर विरोधी हैं।
- **भारतीय पुनर्जागरण (*Indian Renaissance*) :** भारतीय पुनर्जागरण ने भी अपने दो स्वरूपों में राष्ट्रवाद की भावना को प्रश्रय दिया। पहला, उसने भारतीय समाज में व्याप्त कुरीतियों, अनैतिकताओं, अवांछनीयताओं एवं रूढ़ियों से मुक्ति का मार्ग दिखाया तथा दूसरा, श्वेतों के अधिभार सिद्धांत (White Man's Burden Theory) के विपरीत भारतीय संस्कृति के गौरव को पुनर्स्थापित किया। इसके परिणामस्वरूप देश में एक नवीन राष्ट्रीय चेतना की भावना को बल मिला।
- **पाश्चात्य शिक्षा एवं चिंतन (*Western Education and Thinking*) :** पाश्चात्य शिक्षा ने भारतीयों को पश्चिमी पुनर्जागरण के उदात्त मूल्यों से परिचित कराया तथा एक नया वैचारिक आयाम प्रदान किया। फ्रांसीसी क्रांति के आदर्शों अर्थात् स्वतन्त्रता, समानता तथा बंधुत्व की भावना ने भारतीयों के मन में राष्ट्रवाद का एक नया बीज बो दिया। परिणामस्वरूप वे भी अपने अधिकारों के प्रति सजग हो गए तथा भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन को एक नई दिशा मिली।
- **प्रेस तथा समाचार-पत्रों की भूमिका (*Role of the Press and Newspapers*):** प्रेस तथा समाचार-पत्रों ने ब्रिटिश उपनिवेशवादी तंत्र की मानसिकता से लोगों को परिचित कराया तथा देशवासियों के मन में एकता की भावना को जाग्रत करने में महत्वपूर्ण योगदान दिया। समाचार-पत्रों के माध्यम से विभिन्न विषयों पर लिखे गए लेखों ने देशवासियों को अधिकारबोध की चेतना से भर दिया, जिसके फलस्वरूप एक संगठित आंदोलन का सूत्रपात हुआ।
- **तात्कालिक कारण (*Instantaneous Reasons*) :** उपर्युक्त कारणों के अलावा अन्य कई तात्कालिक कारण थे, जिन्होंने राष्ट्रवाद की भावना के उदय में सहयोग किया, यथा-इल्बर्ट बिल विवाद, सिविल सर्विस की आयु-सीमा को कम करना (1876 ई.), दक्षिण भारत में भयंकर अकाल के समय 'दिल्ली दरबार' का आयोजन करना (1877 ई.) तथा शस्त्र अधिनियम (1878 ई.) इत्यादि।

इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों तथा भारतीय हितों के टकराव ने भारत में एक नए युग का सूत्रपात किया जिसने परवर्ती राष्ट्रीय आंदोलन की आधारशिला रखी।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का स्वरूप *(Nature of Indian National Movement)*

यद्यपि, उन्नीसवीं शताब्दी का भारत भाषा, धर्म, प्रदेश आदि के आधार पर विभाजित था तथा ब्रिटिश शासकों ने इस पर आधिपत्य स्थापित करने के लिए इस फूट का भरपूर लाभ भी उठाया, तथापि भारत एक भौगोलिक इकाई मात्र नहीं था, बल्कि इस विविधता में सांस्कृतिक एवं ऐतिहासिक एकता भी अन्तर्निहित थी जिसने राष्ट्रीय आन्दोलन के आरंभ, विकास एवं सफलता की ओर

Copyright – Drishti The Vision Foundation

अग्रसर होने में सहायता प्रदान की। विविधता के मूल में अंतर्निहित यह राष्ट्रीय चेतना ही थी जिसने राष्ट्रवाद को प्रेरणा दी तथा यह चेतना विशिष्ट वर्ग की अपनी बौद्धिक सीमा को लांघते हुए सुदूर क्षेत्रों तक जा फैली। हालाँकि यह सच है कि अंग्रेज़ों द्वारा स्थापित प्रशासनिक एकता तथा आधुनिक विचारों के प्रचार-प्रसार ने भी एक सीमा तक राष्ट्रवाद को प्रोत्साहित किया, लेकिन यह भी सच है कि ब्रिटिश राज्य की स्थापना राष्ट्रवाद के बीजारोपण करने के लिए नहीं बल्कि औपनिवेशिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए की गई थी। अंग्रेज़ों की यह स्पष्ट नीति रही कि भारतीयों में किसी भी प्रकार की एकता न होने पाये बल्कि उनमें फूट डालकर उन पर राज किया जाये। वस्तुतः इस उदीयमान राष्ट्र की प्रक्रिया ने बुद्धिजीवी वर्ग, मध्यम वर्ग, किसानों, श्रमिकों आदि को समान उद्देश्यों की प्राप्ति के लिए विदेशी शासकों के विरूद्ध एकजुट किया। इसके अलावा लोकतंत्रीय, उदारवादी तथा राष्ट्रवादी आकांक्षा इस समय की प्रमुख घटनाएँ थी, जिसे अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम, फ्रांसीसी क्रान्ति तथा रूसी क्रांति से प्रेरणा मिल रही थी। इन घटनाओं ने गुलाम देशों को स्वतंत्रता की ओर अग्रसर करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से पूर्व महत्वपूर्ण राजनीतिक संगठन
(Important Political Organizations before the Birth of Indian National Congress)

दिसंबर, 1885 में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना अचानक घटी कोई घटना नहीं थी, बल्कि यह राजनीतिक जागृति की चरम पराकाष्ठा थी। कांग्रेस की स्थापना से पहले भी अनेक राजनीतिक एवं गैर-राजनीतिक संगठनों की स्थापना हो चुकी थी। इन संगठनों का विवरण निम्नवत है:

- **बंग भाषा प्रकाशक सभा**– 1836 ई० में राजा राममोहन राय के अनुयायियों द्वारा स्थापित यह संगठन सरकार की नीतियों से संबंधित मामलों की समीक्षा करती थी।
- **लैंड होल्डर्स सोसायटी**– इसकी स्थापना बंगाल के जमींदारों ने 1838 ई० में की थी। इसके माध्यम से उन्होंने भूमि के अतिक्रमण व अपहरण का विरोध किया। इस तरह का यह पहला संगठित राजनीतिक प्रयास था।
- **बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी**– सन् 1843 में स्थापित इस संस्था का उद्देश्य आम जनता के हितों की रक्षा करना तथा उन्हें बढ़ावा देना था।
- **ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन**– सन् 1851 में लैण्ड होल्डर्स सोसायटी एवं बंगाल ब्रिटिश इंडिया सोसायटी के विलय के उपरांत यह संगठन अस्तित्व में आया। इसके अध्यक्ष राधाकान्त देव थे।
- 1852 ई० में बॉम्बे एसोसिएशन तथा मद्रास नेटिव एसोसिएशन की स्थापना की गई। इन संस्थाओं ने अपने-अपने क्षेत्र में राजनीतिक गतिविधियों को जारी रखा।
- **पूना सार्वजनिक सभा**– इसकी स्थापना एम०जी० राणाडे, गणेश वासुदेव जोशी एवं अन्य सहयोगियों ने 1870 ई० में की। इस संस्था ने राजनैतिक चेतना जगाने में काफी योगदान दिया।
- **ईस्ट इंडिया एसोसिएशन**– लंदन में राजनैतिक प्रचार करने के उद्देश्य से दादा भाई नौरोजी द्वारा 1867 ई० में इसकी स्थापना की गई थी। इसकी बहुत सी शाखाएँ भारत में खोली गई।
- **इंडियन लीग**– सन् 1875 में शिशिर कुमार घोष ने इसकी स्थापना की थी।
- **इंडियन एसोसिएशन**– इंडियन एसोसिएशन की स्थापना सन् 1876 में सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तथा आनंद मोहन बोस ने की। इस संस्था को भारतीय राष्ट्रीय कांगेस का पूर्वगामी कहा गया है। भारत में प्रबल जनमत तैयार करना, हिंदू-मुस्लिम जनसंपर्क की स्थापना करना, सार्वजनिक कार्यक्रम के आधार पर लोगों को संगठित करना, सिविल सेवा के भारतीयकरण के पक्ष में मत तैयार करना आदि इसके प्रमुख उद्देश्य थे।
- **मद्रास महाजन सभा**– सन् 1884 में वीर राघवाचारी, जी. सुब्रह्मण्यम् अय्यर और आनंद चारलू ने मद्रास महाजन सभा की स्थापना की।
- 1885 ई. में बंबई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन की स्थापना फ़िरोज़शाह मेहता, के.टी. तैलंग और बदरूद्दीन तैय्यबजी ने मिलकर की। फिरोजशाह मेहता को बॉम्बे का बेताज बादशाह कहा जाता था।

यद्यपि, उपरोक्त सभी संस्थाएँ राजनीतिक गतिविधियों के संचालन में महत्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर रही थी, तथापि इनमें से अधिकांश का आधार क्षेत्रीय था तथा ये संकीर्ण हितों का प्रतिनिधित्व करते थे। अधिकांश संस्थाओं की अभिजात्य दृष्टि थी। अतः आवश्यकता इस बात की थी कि इन सभी प्रयत्नों को संगठित कर एक अखिल भारतीय राष्ट्रीय संस्था की स्थापना की जाए। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना से यह आवश्यकता पूरी हुई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

कांग्रेस की पूर्ववर्ती राजनीतिक संस्थाएँ एवं संगठन

संस्था	संस्थापक	स्थापना वर्ष	स्थान
1. बंगभाषा प्रकाशक सभा	राजा राममोहन राय के अनुयायियों द्वारा स्थापित	1836 ई.	कलकत्ता
2. लैंड होल्डर्स सोसायटी (जमींदारी एसोसिएशन)	द्वारिकानाथ टैगोर व अन्य	1838 ई.	कलकत्ता
3. ब्रिटिश इंडियन एसोसिएशन	राधाकांत देव	1851 ई.	कलकत्ता
4. बॉम्बे एसोसिएशन	दादाभाई नौरोजी	1852 ई.	बंबई
5. लंदन इण्डियन सोसायटी	दादाभाई नौरोजी	1865 ई.	लंदन
6. ईस्ट इंडिया एसोसिएशन	दादाभाई नौरोजी	1867 ई.	लंदन
7. पूना सार्वजनिक सभा	एम.जी. रानाडे, गणेश वासुदेव जोशी	1870 ई.	बंबई
8. इण्डियन लीग	शिशिर कुमार घोष	1875 ई.	कलकत्ता
9. कलकत्ता स्टूडेंट्स एसोसिएशन	आनंदमोहन बोस	1875 ई.	कलकत्ता
10. इंडियन एसोसिएशन	सुरेन्द्रनाथ बनर्जी एवं आनन्दमोहन बोस	1876 ई.	कलकत्ता
11. मद्रास महाजन सभा	एम. वीर राघवाचारी, श्री सुब्रह्मण्यम अय्यर, आनंद चारलू	1884 ई.	मद्रास
12. बंबई प्रेसीडेंसी एसोसिएशन	फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैय्यबजी, के.टी. तैलंग और काशीनाथ त्रयम्बक	1885 ई.	बंबई

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना *(Foundation of Indian National Congress)*

'कांग्रेस' शब्द की उत्पत्ति उत्तरी अमेरिका के राजनीतिक इतिहास की देन है, जिसका अर्थ है 'व्यक्तियों का समूह'। भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना का श्रेय ए.ओ. ह्यूम को जाता है। ए.ओ. ह्यूम एक सेवानिवृत ब्रिटिश अधिकारी थे। उन्होंने कलकत्ता, बंबई और मद्रास का दौरा करने के उपरांत भारतीय राष्ट्रीय संघ (Indian National Union) का एक सम्मेलन पुणे में आयोजित करने की घोषणा की। यह सम्मेलन दिसम्बर में आयोजित किया जाना था; किंतु पुणे में हैज़ा फैल जाने के कारण यह आयोजन 28 दिसंबर, 1885 ई० को बंबई के गोकुलदास तेजपाल संस्कृत कॉलेज में किया गया। दादाभाई नौरोजी के सुझाव पर भारतीय राष्ट्रीय संघ का नाम भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (Indian National Congress) कर दिया गया। बंबई में हुए इस पहले अधिवेशन में कुल 72 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कांग्रेस के प्रथम अधिवेशन की अध्यक्षता व्योमेश चन्द्र बनर्जी ने की तथा इसके सचिव ए.ओ. ह्यूम थे।

कांग्रेस की स्थापना और उसके उद्देश्य के संबंध में अनेक मत प्रस्तुत किये गये हैं। इनमें से कुछ मत निम्नलिखित हैं–

- **सुरक्षा कपाट सिद्धांत (*Safety Valve Theory*)** : सुरक्षा कपाट सिद्धांत सर्वप्रथम लाला लाजपत राय ने अपने पत्र 'यंग इंडिया' में प्रस्तुत किया। इस अवधारणा के अंतर्गत यह प्रतिपादित किया गया कि कांग्रेस ब्रिटिश वायसराय के प्रोत्साहन पर ब्रिटिश हितों के लिए स्थापित एक संस्था है जो भारतीयों का प्रतिनिधित्व नहीं करती। इस अवधारणा के माध्यम से भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के उद्देश्य एवं अस्तित्व पर प्रश्न चिन्ह लगा दिया गया। कांग्रेस के अन्य आलोचकों ने भी लाला लाजपत राय के इस वक्तव्य का उपयोग कर कांग्रेस की आलोचना करना प्रारंभ कर दिया एवं इसके अभिजात्यवादी स्वरूप को हास्यास्पद बताया। वैसे, तार्किक विश्लेषण करने से सुरक्षा कपाट सिद्धान्त की सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। सर्वप्रथम, सरकारी दस्तावेजों के आधारों पर यह सिद्ध हो गया कि ह्यूम डफरिन की सलाह पर कार्य नहीं कर रहे थे। साथ ही, लॉर्ड डफरिन कांग्रेस के प्रति असहिष्णु हो गए थे।

  सुरक्षा कपाट की अवधारणा के विपरीत एक तड़ित चालक सिद्धांत का उद्भव हुआ। इसके अनुसार भारतीय बुद्धिजीवियों ने ह्यूम का उपयोग भारतीय हितों के लिए किया, न कि ह्यूम ने भारतीय नेताओं का प्रयोग ब्रिटिश हितों के लिए किया। ध्यातव्य है कि अंग्रेज़ी सरकार कांग्रेस जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था की स्थापना को संदेह की दृष्टि से देखती और इसे सरकारी नीतियों का शिकार होना पड़ता। किंतु, एक सेवानिवृत्त ब्रिटिश अधिकारी के इस संस्था से जुड़ने के परिणामस्वरूप यह सरकारी कोपभाजन का शिकार होने से बच गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- **भारतीय अभिजात वर्ग की आकांक्षाओं का मूर्त रूप (*Realization of the Aspirations the Indian Elite*) :** इस विचारधारा का प्रतिपादन करने वाले इतिहासकारों ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के अभिजात्यवादी चरित्र को उजागर किया और इसे ऐसे सत्तालोलुप, नौकरी के भूखे, कुंठित एवं निराश व्यक्तियों का आंदोलन कहा जिनका उद्देश्य अपनी स्वार्थसिद्धि के लिए कांग्रेस का उपयोग साधन के रूप में करना था। वैसे, विश्लेषण करने से इस सिद्धान्त की भी सीमाएँ स्पष्ट हो जाती हैं। ये तथ्य किसी मामले विशेष के सम्बन्ध में तो सही हो सकते हैं किन्तु देशभक्ति की भावना से ओत-प्रोत एक नवीन वैचारिक आंदोलन का सूत्रपात करने वाले व्यक्तित्वों का सामान्यीकरण करना न केवल गलत है, बल्कि उस पवित्र भावना की भी उपेक्षा है जिसने लाखों करोड़ों लोगों में राष्ट्रीय चेतना का संचार कर उन्हें प्रभावित किया।
- **अखिल भारतीय संस्था की आवश्यकता की अभिव्यक्ति (*Expressing the Need of an All-India Organisation*):** 19वीं सदी के पूर्वार्ध में पाश्चात्य शिक्षाप्राप्त नवोदित मध्यवर्ग की रुचि केवल समाज-सुधार में थी। यही कारण है कि 1857 ई. के विद्रोह के समय राजनीतिक चेतना से रहित इस वर्ग की सहानुभूति ब्रिटिश सरकार के साथ थी। किंतु, सन् 1870 के दशक में औपनिवेशिक शोषण-तंत्र के विषय में उनकी समझ बेहतर हुई। दादाभाई नौरोजी ने अपना लेख British Debt to India (ब्रिटिश डैब्ट टू इंडिया) लिखकर 'धन की निकासी' जैसे मुद्दों को प्रमुखता से उठाया। कालांतर में इसी राजनीतिक चेतना के प्रस्फुटन से देश के भिन्न-भिन्न भागों में राजनीतिक संगठनों की स्थापना हुई। इसी शृंखला की चरम परिणति के रूप में भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना हुई।

कांग्रेस की स्थापना के वास्तविक उद्देश्य

(*i*) देश के हितों की रक्षा करने वाले भारतीयों के बीच मित्रता और संपर्क बढ़ाना।
(*ii*) जातिगत, धर्मगत तथा प्रांतीय विभेदों को मिटाकर राष्ट्रीय एकता की भावना को विकसित करना।
(*iii*) राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक मुद्दों पर शिक्षित वर्गों को एकजुट करना।
(*iv*) भविष्य के राजनीतिक कार्यक्रमों की रूपरेखा सुनिश्चित करना।

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का प्रथम चरण : 1885-1905
(Ist Phase of Indian National Movement : 1885-1905)

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस की स्थापना के साथ ही राष्ट्रीय आंदोलन में एक नए युग का आरंभ हो गया। कांग्रेस का शुरुआती नेतृत्व उदारवादी (Moderate) राष्ट्रीय नेताओं ने किया। अपने प्रथम अध्यक्षीय भाषण में व्योमेश चन्द्र बनर्जी ने कांग्रेस के उद्देश्यों एवं लक्ष्यों को स्पष्ट कर दिया। साथ ही, उदारवादी नीतियों को कांग्रेस का आदर्श घोषित किया गया। कांग्रेस के आरंभिक 20 वर्षों के काल को 'उदारवादी राष्ट्रीयता' की संज्ञा दी जाती है क्योंकि इस काल में कांग्रेस की नीतियाँ अत्यंत उदार थीं। इस समय कांग्रेस पर समृद्धशाली मध्यवर्गीय बुद्धिजीवियों का प्रभाव था जिनमें वकील, डॉक्टर, इंजीनियर एवं पत्रकार इत्यादि प्रमुख थे। ये उदारवादी नेता अंग्रेज़ों के प्रति निष्ठावान थे तथा उन्हें अपना शत्रु नहीं मानते थे। दादाभाई नौरोजी के इन शब्दों में अंग्रेज़ों के प्रति उनकी भावनाओं की मूर्त अभिव्यक्ति का पता चलता है– "हम ब्रिटिश प्रजा हैं, हम अपने हक की माँग कर सकते हैं। अगर हमें ब्रिटेन की सर्वश्रेष्ठ संस्थाओं से वंचित रखा जाता है तो फिर भारत को अंग्रेज़ों के स्वामित्व में रहने से क्या लाभ? यह तो एक और एशियाई निरंकुश शासन मात्र होगा।" उदारवादी नेताओं में फिरोजशाह मेहता, बदरुद्दीन तैय्यब जी, व्योमेश चन्द्र बनर्जी, लालमोहन घोष, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, आनंद मोहन बोस और रमेशचंद्र दत्त प्रमुख थे। कालांतर में द्वारकानाथ गांगुली, एम.जी. राणाडे, वीर राघवाचारी, आनंद चारलू और गोखले भी सम्मिलित हो गए।

उदारवादियों की कार्यप्रणाली *(Methodology of the Moderates)*

उदारवादियों या नरमपंथियों की कार्यप्रणाली का एक विशिष्ट तरीका था, जिसमें वे अपने प्रतिवेदनों, भाषणों और लेखों के माध्यम से अंग्रेज़ी राज की प्रशंसा करते हुए अपनी माँगों को व्यक्त किया करते थे। इन याचनाओं को समाचार-पत्र, पत्रिकाओं के माध्यम से स्पष्ट किया जाता था। कांग्रेस का अधिवेशन वर्ष में केवल तीन दिन चलता था। वार्षिक अधिवेशनों के अतिरिक्त अपने कार्यक्रमों को जारी रखने के लिए कांग्रेस के पास किसी भी संगठित तंत्र का अभाव था।

उदारवादियों की विचारधारा एवं आरंभिक कार्यक्रम
(Ideology and Initial Programmes of the Moderates)

कांग्रेसी नेताओं को आरंभ में दृढ़ विश्वास था कि भारतीयों के सारे कष्टों के पीछे नौकरशाही (Bureaucracy) का भेदभावपूर्ण व्यवहार ही जिम्मेदार है। यदि अंग्रेज़ों को देश की वास्तविक स्थिति से अवगत कराया जाए तो वह कल्याणकारी विकास कार्यक्रमों

Copyright – Drishti The Vision Foundation

को बढ़ावा देंगे। उन्हें अंग्रेज़ों की न्यायप्रियता तथा उदारता के विषय में भ्रम था, जिसके परिणामस्वरूप वे एक अधिवेशन से दूसरे अधिवेशन तक समान प्रकार की माँगों से संबंधित प्रस्तावों की ही पुनरावृत्ति करते थे। इन माँगों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया जा सकता है– संवैधानिक, प्रशासनिक और आर्थिक।

उदारवादियों की संवैधानिक माँगें *(Constitutional Demands of the Moderates)*

- उदारवादियों ने ब्रिटिश शासन से मुक्ति की माँग नहीं की, बल्कि वे सिर्फ देश की सरकार में सहभागिता की माँग कर रहे थे तथा ब्रिटिश शासन के प्रति निष्ठावान थे।
- उदारवादियों द्वारा अपनी माँगों को संविधान की परिधि के भीतर रखकर ही प्रस्तुत किया गया। वे आक्रामक तरीकों की बजाय याचनाओं के माध्यम से ब्रिटिश शासन का ध्यान आकर्षित करना चाहते थे।
- उदारवादी राजनीतिक कार्यक्रमों के माध्यम से अपने अधिकारों को प्राप्त करना चाहते थे। वे किसी भी उग्र कार्यवाही के पक्ष में नहीं थे।
- उदारवादियों ने महत्त्वपूर्ण राजनीतिक प्रश्नों पर भारतीयों के मध्य एकता बनाए रखने का प्रयास किया।
- उदारवादियों के अनुसार राष्ट्रीय स्तर पर आंदोलन चलाए जाने के लिए समय अभी अनुकूल नहीं था।

उदारवादियों की प्रशासनिक माँगें *(Administrative Demands of the Moderates)*

- लोक सेवाओं में समान शर्तों के साथ भारतीयों की नियुक्ति तथा भविष्य में इन सेवाओं का भारतीयकरण उदारवादियों की महत्वपूर्ण माँग थी।
- उदारवादियों ने आर्म्स एक्ट को रद्द किए जाने की माँग की।
- कांग्रेस न्यायपालिका तथा कार्यपालिका के कार्यक्षेत्रों को पृथक करने की माँग उठा रही थी तथा ज्यूरी के अधिकारों को सीमित करने का विरोध भी कर रही थी।
- नागरिक अधिकारों को सुनिश्चित करना इनकी अन्य प्रमुख माँग थी।
- इन्होंने अभिव्यक्ति की स्वतन्त्रता को सीमित करने वाली सभी प्रशासनिक कार्यवाहियों का विरोध किया।

उदारवादियों की आर्थिक माँगें *(Economic Demands of the Moderates)*

- उदारवादियों ने साम्राज्यवाद की अर्थशास्त्रीय आलोचना करते हुए शोषण के विभिन्न रूपों, यथा–व्यापार, उद्योग तथा वित्त की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित किया।
- उदारवादियों के अनुसार भारतीयों के पिछड़ेपन, गरीबी, कृषकों की बदहाली तथा लघु उद्योगों के विनाश के लिए ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीति उत्तरदायी थी।
- उद्योगों के संदर्भ में उदारवादियों ने विऔद्योगीकरण (Deindustrialisation) के स्वरूप का विस्तृत विवेचन किया।
- दादाभाई नौरोजी द्वारा लिखे गए लेख 'पॉवर्टी एंड अनब्रिटिश रूल इन इंडिया' (Poverty and Un-British Rule in India) में 'धन के निष्कासन' सिद्धांत के माध्यम से ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों की कटु आलोचना की गई।
- भारत के आर्थिक दोहन को समाप्त करके सरकार को कल्याणकारी कार्यों की ओर प्रेरित करने की दिशा में उदारवादियों द्वारा विस्तृत कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार की गई, जिनमें भू-राजस्व को कम करना, नमक कर समाप्त करना, कृषि बैंकों का विकास करना तथा सिंचाई सुविधाओं का प्रसार करना प्रमुख थे।

उदारवादियों के कार्यों का मूल्यांकन *(Evaluation of the Moderates' Roles)*

उदारवादियों की राजनीतिक माँगों का स्वरूप साधारण होने के बावजूद आर्थिक मार्गों का स्वरूप ब्रिटिश-विरोधी तथा उग्र था। उन्होंने ब्रिटिश उपनिवेशवादी नीतियों का पर्दाफाश कर दिया। कांग्रेस एक अखिल भारतीय संस्था थी, जिसकी माँगों का स्वरूप धर्मनिरपेक्ष था। यद्यपि यह मुख्य रूप से एक राजनीतिक संगठन था, लेकिन इसने धर्म को छोड़कर जीवन के सभी क्षेत्रों में भारतीयों के हितों को अपने कार्यक्रमों में शामिल किया। 1892 ई० का भारतीय परिषद अधिनियम उदारवादियों के राजनीतिक प्रयासों से ही पारित हुआ। यद्यपि ये प्रयास संतोषजनक नहीं थे, तथापि इन्होंने परवर्ती स्वतन्त्रता आंदोलन के लिए नींव रखने का काम किया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

भारतीय राष्ट्रीय आंदोलन का द्वितीय चरण: 1905-1913
(2nd phase of Indian National Movement : 1905-1913)

राष्ट्रीय आंदोलन में उग्रवाद का उद्भव *(Rise of Extremism in National Movement)*

कांग्रेस की स्थापना के कुछ वर्षों बाद ही उदारवादियों की नीतियों की आलोचना आरंभ हो गई थी। अरविंद घोष द्वारा उदारवादी राजनीति की क्रमबद्ध आलोचना उनके एक पेम्फलेट 'न्यू लैम्प्स फॉर ओल्ड' में की गई। लाला लाजपतराय ने कांग्रेस के अधिवेशन को 'तीन दिनों का तमाशा' कहा। ऐसा कहा जाता है कि लाला लाजपत राय ने 1893-1900 ई० के बीच कांग्रेस के किसी भी अधिवेशन में भाग नहीं लिया था। समाजवादी इतिहास लेखन में उग्रवादी विचारधारा के उद्भव को कम महत्व देते हुए इसे उदारवादी विचारधारा के साथ प्रतिस्पर्धा का प्रतिफल बताया गया है। यद्यपि हम इसे अस्वीकार नहीं कर सकते, लेकिन इसे महत्वपूर्ण कारण के रूप में नहीं बताया जा सकता। वस्तुत: उग्रवाद के उदय के निम्नलिखित कारण थे-

- बढ़ती हुई मुद्रास्फीति और गहराता हुआ आर्थिक संकट
- गरीबी, ऋणग्रस्तता तथा बढ़ती हुई बेरोजगारी
- अकालों की बारम्बारता
- प्लेग आदि महामारियों का फैलना
- विभेदकारी ब्रिटिश नस्लवादी नीतियों के विरुद्ध प्रतिक्रिया
- अंतर्राष्ट्रीय परिदृश्य में इथोपिया द्वारा इटली का पराजित होना (1896 ई०) तथा जापान द्वारा रूस का पराजित होना (1904-05 ई०)।

उग्रवादियों का राष्ट्रीय आंदोलन में योगदान *(Contribution of Extremists in National Movement)*

उग्रवादी विचारधारा के परिणामस्वरूप भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के सामाजिक आधार में व्यापकता आई। इसमें सभी वर्गों के व्यक्तियों का प्रतिनिधित्व बढ़ा। दूसरे शब्दों में, कांग्रेस अब उच्च-मध्य वर्ग के साथ-साथ निम्न-मध्य वर्ग का भी प्रतिनिधित्व करने लगी। कांग्रेस के स्वरूप में भी परिवर्तन आया क्योंकि अब यह अनुनय-विनय की राजनीति से ऊपर उठकर आंदोलन की ओर अग्रसर हुई। उग्रवादी राजनीति के कार्यक्रमों की बुनियाद पर ही परवर्ती गांधीवादी कार्यक्रमों की शुरुआत हुई।

उग्रवाद की सीमाएँ *(Limitations of Extremism)*

- उग्रवादी आंदोलन को किसानों का समर्थन प्राप्त नहीं हुआ क्योंकि उन्होंने प्रगतिशील कृषि कार्यक्रम को नहीं अपनाया था। इसके परिणामस्वरूप यह जन-आंदोलन का रूप धारण नहीं कर सका।
- प्रगतिशील कृषि कार्यक्रम की अवहेलना करने तथा इसके बदले आम लोगों को आंदोलन से जोड़ने के लिए धार्मिक प्रतीकों का सहारा लेने के परिणामस्वरूप इसने अनजाने में सांप्रदायिक चेतना को प्रोत्साहन दिया।

उदारवादी और उग्रवादी राजनीति में मतभेद के महत्वपूर्ण बिंदु
(Important Points of Differences between Moderate and Extremist Politics)

- **सामाजिक संरचना (Social Structure) :** उदारवादी नेताओं का संबंध एक वर्ग विशेष से था अर्थात् यह सभी उच्च मध्य वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। अभिजात्यवादी दृष्टिकोण होने के कारण देश की जनता से इनका प्रत्यक्ष संवाद नहीं था। ये सभी अपने-अपने पेशों में सफल थे और वर्ष में कुछ ही दिनों के लिए एकत्रित होते थे। उग्रवादी निम्न मध्यवर्ग का नेतृत्व करते थे तथा उदारवादियों के विपरीत इनकी दृष्टि वंचित वर्गों के उत्थान के लिए प्रयास करने की थी।
- **राजनीतिक विरोध के साधन (Means of Political Protest) :** इस मुद्दे पर उदारवादियों एवं उग्रवादियों के बीच मतैक्य नहीं था। उदारवादियों द्वारा अपनाए गए साधनों को उग्रवादी राजनीतिक भिक्षावृत्ति (Political Beggary) की संज्ञा देते थे। उग्रवादी प्रार्थना, प्रतिवेदन तथा स्मरण-पत्र देने के स्थान पर निष्क्रिय प्रतिरोध की पद्धति पर बल देते थे। निष्क्रिय प्रतिरोध के अंतर्गत ब्रिटिश वस्तुओं का बहिष्कार, ब्रिटिश संस्थाओं का बहिष्कार इत्यादि शामिल थे।
- **वैचारिक मतभेद (Ideological Differences) :** उदारवादियों एवं उग्रवादियों के सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा आध्यात्मिक दृष्टिकोणों में पर्याप्त भिन्नता थी। जहाँ उदारवादी पाश्चात्य परंपरा से अत्यधिक प्रभावित थे, वहीं उग्रवादी ब्रिटिश

Copyright – Drishti The Vision Foundation

संविधानवाद की परंपरा में विश्वास नहीं रखते थे तथा भारतीय संस्कृति एवं परंपरा के प्रबल समर्थक थे। वे ब्रिटिश सरकार से की गई अपीलों को राष्ट्रीय अपमान (National Shame) की संज्ञा देते थे। उग्रवादियों ने प्राचीन भारत के यौधेय एवं लिच्छवी गणराज्यों का उदाहरण देकर भारत में गणतंत्र की प्राचीन परंपरा को सिद्ध करना चाहा। बाल गंगाधर तिलक ने उग्रवाद की मशाल को प्रज्वलित किया तथा राष्ट्रीय चेतना के पुनर्जागरण हेतु रूढ़िवादी तत्वों का सहारा लिया। तिलक ने ही सर्वप्रथम स्वराज, स्वदेशी और बहिष्कार का नारा दिया। उन्होंने 1893 ई. में 'गणपति उत्सव' तथा 1895 ई. में 'शिवाजी उत्सव' की शुरूआत की।

- **व्यक्तित्वों की टकराहट (Clash of Personalities) :** उग्रवादी एवं उदारवादी गुटों के बीच मतभेद को बढ़ाने में व्यक्तित्वों की टकराहट भी एक अन्य प्रमुख कारण था। उदाहरण के लिए, जी. आर. आगरकर जो पहले तिलक के शिष्य थे, आगे चलकर गोखले-मेहता गुट में चले गए। कालांतर में यह मुद्दा दोनों गुटों के बीच तनाव का कारण बना।

1905 ई. में बंगाल विभाजन ने उग्रवादी कार्यक्रम को एक नई दिशा प्रदान की। 1905 ई. से पूर्व कर्जन की प्रतिगामी नीतियों ने बहुत हद तक स्वदेशी आंदोलन को प्रेरित किया। उसके द्वारा लाए गए कई अलोकप्रिय अधिनियमों, यथा-कलकत्ता कॉरपोरेशन एक्ट, कलकत्ता यूनिवर्सिटी एक्ट, ऑफीशियल सीक्रेट्स एक्ट इत्यादि से देश में एक प्रकार का असंतोष उमड़ रहा था। बंगाल विभाजन की घोषणा ने आग में घी का काम किया। उदारवादियों एवं उग्रवादियों के बीच बंगाल विभाजन की घोषणा के मध्य ही मतभेद उभरने लगे, जिसके परिणामस्वरूप कांग्रेस का सूरत विभाजन हुआ। यह मतभेद दो मुद्दों पर आधारित था। एक तरफ, उदारवादी यह मानते थे कि बंगाल विभाजन की समस्या केवल बंगाल की समस्या थी, अतः स्वदेशी आंदोलन को बंगाल तक ही सीमित होना चाहिए। दूसरी तरफ, उग्रवादियों के दृष्टिकोण में स्वदेशी आंदोलन का विस्तार बंगाल से बाहर भी होना चाहिए। उदारवादी केवल ब्रिटिश वस्तुओं के बहिष्कार तक ही सीमित रहना चाहते थे, जबकि उग्रवादी बहिष्कार की नीति को अन्य क्षेत्रों में भी लागू करना चाहते थे।

कांग्रेस के 1906 ई. के कलकत्ता अधिवेशन में उग्रवादियों ने अपने अध्यक्ष को स्थापित करना चाहा, जिसमें उन्हें सफलता प्राप्त नहीं हुई। उदारवादियों ने अध्यक्ष के रूप में दादाभाई नौरोजी का नाम प्रस्तावित कर दिया। तथापि, उग्रवादियों के दबाव में चार प्रस्ताव– स्वराज, स्वदेशी, बहिष्कार तथा राष्ट्रीय शिक्षा पारित हो गए। अगला अधिवेशन (1907 ई.) नागपुर में प्रस्तावित था जो कि उग्रवादियों का गढ़ माना जाता था। इसीलिए अंतिम समय में गोखले-मेहता गुट ने अधिवेशन हेतु सूरत को चुन लिया। उग्रवादियों ने तिलक को अध्यक्ष के रूप में स्थापित करना चाहा, किंतु उदारवादियों ने रासबिहारी घोष को अध्यक्ष पद के लिए प्रस्तावित कर दिया। अंत में इसी मुद्दे पर मतभेद उभरा जो 1907 ई. के सूरत के विभाजन के रूप में प्रतिफलित हुआ।

क्रांतिकारी आतंकवाद का प्रथम चरण : 1905-1915
(1st Phase of Revolutionary Terrorism : 1905-1915)

क्रांतिकारी आतंकवाद का उदय 19वीं शताब्दी के अंत में और 20वीं शताब्दी के आरंभ में हुआ। यह उग्रवादी राष्ट्रवाद (Extremist Nationalism) का ही अगला चरण था। इसके उदय के प्रमुख कारणों में उदारवादियों द्वारा अपनाई गई निष्क्रिय प्रतिरोध की नीति तथा ब्रिटिश सरकार की प्रतिक्रियावादी एवं दमन की नीतियाँ जिम्मेदार थीं। इस विचारधारा के समर्थकों में यह विश्वास था कि पाश्चात्य उपनिवेशवादी साम्राज्य को केवल हिंसक साधनों का प्रयोग करके ही समाप्त किया जा सकता है। इसीलिए इन्होंने हिंसा का मार्ग अपनाया। इनका आदर्श वाक्य तिलक द्वारा दिया गया नारा 'अनुनय-विनय नहीं बल्कि युयुत्सा' (No Solicitation but a desire to fight) था। तत्कालीन क्रांतिकारी गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र पंजाब, बंगाल तथा महाराष्ट्र थे। क्रांतिकारी आतंकवाद के प्रथम चरण में विचारधारा के स्तर पर दो भिन्न मत प्रचलित थे। प्रथम विचारधारा के अनुयायियों के अनुसार ब्रिटिश सरकार से सशस्त्र संघर्ष हेतु भारतीय सेना और अन्य यूरोपीय ताकतों से भी मदद ली जानी चाहिए, जबकि द्वितीय विचारधारा के अनुयायियों के अनुसार उन व्यक्तियों की हत्या तक ही सीमित रहना चाहिए जो क्रांतिकारी नेताओं के विरुद्ध अंग्रेजी अफसरों और पुलिसवालों को सूचना देते हों। ये सभी क्रांतिकारी फ्रांसीसी क्रांति, आयरलैंड की क्रांति, इटली के पुनर्जागरण, अमेरिकी स्वतंत्रता संग्राम तथा सोवियत संघ की समाजवादी क्रांति के आदर्शों से प्रेरित थे।

महाराष्ट्र *(Maharashtra)*

महाराष्ट्र के चापेकर बंधुओं (दामोदर एवं बालकृष्ण) ने 1897 में पुणे के प्लेग कमिश्नर रैण्ड एवं लेफ्टिनेंट एमहर्स्ट की हत्या करके क्रांतिकारी गतिविधियों की नींव डाली। चापेकर बंधु क्रांतिकारी संस्था 'हिंदू धर्म संघ' से संबद्ध थे। उन्हें गिरफ्तार कर फाँसी दे दी गई।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

महाराष्ट्र में 'आर्य बांधव समाज' एक अन्य क्रांतिकारी संगठन था जिसकी नींव तिलक की प्रेरणा से पड़ी। महाराष्ट्र के अन्य क्रांतिकारी संगठनों में विनायक दामोदर सावरकर द्वारा 1904 ई. में स्थापित 'अभिनव भारत समाज' प्रमुख थे। महाराष्ट्र तथा मध्य प्रांत के विभिन्न क्षेत्रों में इस संगठन की अनेक शाखाएँ स्थापित की गयीं। इसी समिति के एक प्रमुख सदस्य अनंत लक्ष्मण करकरे ने नासिक के जिला मजिस्ट्रेट जैक्सन की हत्या कर दी। इतिहास में यह घटना 'नासिक षड्यंत्र केस' के नाम से प्रसिद्ध है। इस केस में 27 क्रांतिकारियों को दोषी पाकर दंडित किया गया। इन क्रांतिकारियों में सावरकर के भाई गणेश प्रमुख थे जिन्हें देशद्रोही लेखों और ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध भड़काने के आरोप में आजीवन कालापानी की सजा दी गई थी।

बंगाल *(Bengal)*

1905 ई. के बंगाल विभाजन के पश्चात् यहाँ क्रांतिकारी घटनाओं की शुरुआत हुई। यद्यपि बंगाल विभाजन के पूर्व भी यहाँ कई क्रांतिकारी संगठन अस्तित्व में थे। इनमें 1902 ई. में मिदनापुर में ज्ञानेन्द्रनाथ बसु द्वारा तथा कलकत्ता में जतीन्द्रनाथ बनर्जी और बारीन्द्रनाथ घोष द्वारा स्थापित 'अनुशीलन समिति' प्रमुख क्रांतिकारी संगठन था। इसके अतिरिक्त मायमेनसिंह की सुहृद समिति, बारीसाल की स्वदेश बांधव समिति, फरीदपुर की व्रती समिति तथा साधना समिति भी आतंकवादी गतिविधियों में संलग्न थीं। इन सभी समितियों को सरकार द्वारा गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

बंगाल में अनेक क्रांतिकारी समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं का संपादन किया गया। यह बंगाल विभाजन के पश्चात् की पत्र-पत्रिकाएँ थीं जिनमें ब्रह्म बांधव उपाध्याय द्वारा संपादित संध्या, अरविंद घोष द्वारा संपादित वंदेमातरम्, भूपेन्द्रनाथ दत्त (स्वामी विवेकानंद के भाई) द्वारा संपादित युगांतर इत्यादि प्रमुख थीं। युगांतर नामक एक अन्य क्रांतिकारी समिति भी थी, जो बंगाल के भिन्न-भिन्न भागों में अपनी शाखाओं के माध्यम से क्रांतिकारी दर्शन का प्रचार-प्रसार कर रही थी। बारीन्द्र घोष के नेतृत्व में युगांतर समूह ने सर्वत्र क्रांति का बिगुल बजाया तथा क्रांति को प्रभावी बनाने के तौर-तरीकों का प्रचार-प्रसार किया।

1908 ई. में पेरिस में एक रूसी प्रवासी से सैन्य प्रशिक्षण प्राप्त कर भारत लौटे हेमचंद्र कानूनगो का नाम बंगाल के क्रांतिकारियों की पहली पीढ़ी में गिना जाता है। उन्होंने कलकत्ता स्थित मणिकतल्ला में बम बनाने का कारखाना खोला। इसी दौरान बंगाल के दो क्रांतिकारियों प्रफुल्ल चाकी तथा खुदीराम बोस ने 30 अप्रैल, 1908 को मुजफ्फरपुर (बिहार) के जिला न्यायाधीश डी. एच. किंग्सफोर्ड पर बम फेंककर उसकी हत्या करने का प्रयास किया, जिसमें किंग्सफोर्ड बच गया, किंतु उसकी पत्नी तथा पुत्री मारी गयीं। इस घटना के उपरांत प्रफुल्ल चाकी ने आत्महत्या कर ली, किंतु खुदीराम बोस को गिरफ्तार कर लिया गया। खुदीराम बोस को 1908 ई. में 15 वर्ष की अल्पायु में फाँसी दे दी गई। वे सबसे कम उम्र में फाँसी पाने वाले क्रांतिकारी थे। इस घटना के तुरंत बाद पुलिस द्वारा मणिकतल्ला पर छापा मारा गया और वहाँ से बारीन्द्र और अरविंद घोष सहित गिरफ्तार सभी व्यक्तियों पर अलीपुर षड्यंत्र केस के तहत मुकदमा चलाया गया। बारीन्द्र को आजीवन कारावास का दंड दिया गया तथा अरविंद घोष को साक्ष्यों के अभाव में छोड़ दिया गया।

प्रथम विश्वयुद्ध का छिड़ जाना पूर्ण स्वतंत्रताप्राप्ति के लिए प्रयासरत क्रांतिकारियों को स्वर्णिम अवसर प्रतीत हुआ। बंगाल में 1915-16 ई. के मध्य राजनीतिक डकैतियाँ तथा हत्याएँ अपने चरम पर थीं। अधिकांश क्रांतिकारी गुटों ने अपने आपको 'बाघा जतिन' नाम से प्रसिद्ध क्रांतिकारी जतीन्द्रनाथ मुखर्जी के नेतृत्व में एकत्रित कर लिया था। 9 सितम्बर, 1915 को बालासोर (उड़ीसा) में अपनी अंतिम सांस तक उन्होंने अंग्रेजों से मुकाबला किया। बंगाल के अन्य प्रसिद्ध क्रांतिकारियों में रासबिहारी बोस का नाम बहुत प्रसिद्ध है। कलकत्ता से दिल्ली राजधानी परिवर्तन के समय लॉर्ड हार्डिंग के जुलूस पर बम फेंककर उसकी हत्या करने की योजना रासबिहारी बोस द्वारा ही बनाई गई थी। गिरफ्तारी से बचने के लिए वे जापान चले गए। इस घटना में अवध बिहारी, अमीर चंद्र, लाल मुकुंद तथा बसंत कुमार विश्वास को गिरफ्तार कर इन पर मुकदमा चलाया गया। यह घटना इतिहास में 'दिल्ली षड्यंत्र केस' के नाम से चर्चित है। इन क्रांतिकारियों को फाँसी तथा आजीवन कारावास की सजाएँ हुईं। ब्रिटिश सरकार द्वारा क्रांतिकारी गतिविधियों के दमन हेतु 1908 ई. में विस्फोटक पदार्थ अधिनियम तथा 1910 ई. में समाचार-पत्र अधिनियम का सहारा लिया गया। इन सभी कार्यवाहियों के फलस्वरूप कुछ क्रांतिकारी भूमिगत होकर कार्य करने लगे तथा कुछ विदेशी धरती से क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन करने लगे। अरविंद घोष द्वारा क्रांतिकारी क्रियाकलापों को त्यागकर पांडिचेरी में एक आश्रम की स्थापना की गई। रवीन्द्रनाथ टैगोर को सर्वप्रथम 'गुरुदेव' कहने वाले ब्रह्म बंधोपाध्याय रामकृष्ण मठ के स्वामी बन गये।

मद्रास *(Madras)*

मद्रास प्रांत में नीलकंठ ब्रह्मचारी एवं वंची अय्यर द्वारा गुप्त रूप से 'भारत माता समिति' की स्थापना की गई। 17 जून, 1911 को वंची अय्यर ने तिरुनेलवेली के जिलाधिकारी आशे की हत्या करने के पश्चात् आत्महत्या कर ली।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

पंजाब *(Punjab)*

अंग्रेजों की आर्थिक नीतियों, जैसे- भू-राजस्व एवं सिंचाई दरों में वृद्धि तथा अकालों की बारंबारता ने पंजाब में क्रांतिकारी आतंकवाद का बिगुल बजा दिया। 'भारत माता सोसाइटी' के संस्थापक जतिन मोहन चटर्जी पंजाब में क्रांतिकारी आंदोलन के प्रणेता थे। परवर्ती काल में लाला हरदयाल, अजीत सिंह और सूफी अंबा प्रसाद ने पंजाब में क्रांतिकारी आंदोलन की बागडोर संभाली।

कालांतर में लाला हरदयाल अमेरिका चले गए। वहाँ उन्होंने गदर पार्टी आंदोलन का नेतृत्व किया। 1907 ई. में ब्रिटिश सरकार ने अजीत सिंह तथा लाला लाजपत राय को निर्वासित कर दिया। क्रांतिकारी नेतृत्व में आई इस शून्यता को लाला अमीरचंद ने भरा। इनका संबंध बंगाल के क्रांतिकारी दल से था।

1915 ई. में बंगाल के क्रांतिकारियों ने संगठित आंदोलन की रूपरेखा तैयार की जिसमें यह तय किया गया कि 21 फरवरी, 1915 ई. को संपूर्ण उत्तरी भारत में क्रांति का बिगुल बजाया जाएगा। ब्रिटिश सरकार को इस योजना की जानकारी मिल गई। इस षड्यंत्र के नेताओं, यथा- पृथ्वी सिंह, परमानंद, करतार सिंह आदि को फाँसी एवं कारावास की सजा सुनाई गई। यह घटना इतिहास में लाहौर षड्यंत्र केस के नाम से प्रसिद्ध है।

भारतीय क्रांतिकारी संगठन (*Indian Revolutionary Groups*)

संगठन	स्थापना वर्ष	संस्थापक	स्थान
मित्र मेला	1899	वी. डी. सावरकर, गणेश सावरकर	महाराष्ट्र
अनुशीलन समिति	1902	वारीन्द्र कुमार घोष, जतीन्द्रनाथ बनर्जी, प्रबोध मित्र, पुलिन दास, सतीशचन्द्र बोस	बंगाल
अभिनव भारत समाज	1904	सावरकर	महाराष्ट्र
हिंदुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन	1924	शचींद्रनाथ सान्याल, रामप्रसाद बिस्मिल, योगेश चटर्जी	बंगाल
हिंदुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन	1928	चंद्रशेखर आजाद	दिल्ली
युगान्तर	1906	वी. के. घोष, भूपेन्द्रनाथ दत्त	कलकत्ता
अंजुमाने मोहिब्बाने वतन		सरदार अजीत सिंह	लाहौर

विदेशों में संचालित क्रांतिकारी संगठन *(Revolutionary Groups Operated Abroad)*

संगठन	स्थापना वर्ष	संस्थापक	स्थान
इंडिया होमरूल सोसायटी	1905	श्यामजी कृष्ण वर्मा	इंग्लैण्ड
इंडियन इंडिपेंडेंस लीग	1907	तारकनाथ दास	अमेरिका
हिंद एसोसिएशन	1913	सोहन सिंह भाकना	अमेरिका
गदर पार्टी	1913	लाला हरदयाल, रामचंद्र, बरकतुल्ला	सैन फ्रांसिस्को (अमेरिका)
इंडियन इंडिपेंडेंस लीग और स्वतंत्र सरकार	1915	राजा महेन्द्र प्रताप	अफगानिस्तान
इंडियन इंडिपेंडेंस लीग	1942	रासबिहारी बोस	जापान
आजाद हिंद फौज	1942	मोहन सिंह	जापान
पेरिस इंडियन सोसायटी	1905	मैडम कामा	पेरिस

Copyright – Drishti The Vision Foundation

विदेशों में क्रांतिकारी आंदोलन *(Revolutionary Movements Abroad)*

राष्ट्रवादी क्रांतिकारियों ने ब्रिटेन, संयुक्त राज्य अमेरिका, अफगानिस्तान, जर्मनी, पेरिस आदि देशों में अन्य क्रांतिकारियों से संपर्क स्थापित करने, भारत की स्वतंत्रता के विषय में वैध प्रचार करने तथा विदेशियों से सहायता प्राप्त करने के उद्देश्य से अनेक संगठनों की स्थापना की।

इंग्लैंड में क्रांतिकारी गतिविधियाँ *(Revolutionary Activities in England)*

भारत के बाहर सबसे पहले क्रांतिकारी समिति की स्थापना श्यामजीकृष्ण वर्मा, जो 1897 ई. में लंदन में बस गए थे, के द्वारा 'इंडिया होमरूल' के नाम से की गई। यह संस्था भारत के लिए स्वशासन प्राप्त करने के उद्देश्य से गठित की गई थी। श्यामजीकृष्ण वर्मा द्वारा लंदन में 'इंडिया हाउस' की भी स्थापना की गई तथा 'इंडियन सोशियोलोजिस्ट' नामक एक पत्र भी निकाला गया। लाला हरदयाल, वी. डी. सावरकर तथा मदनलाल ढींगरा जैसे क्रांतिकारी इस संस्था से जुड़े हुए थे। श्यामजीकृष्ण वर्मा के पेरिस में बस जाने के उपरांत 'इंडिया हाउस' का राजनीतिक नेतृत्व वी. डी. सावरकर के कंधों पर आ गया। मदनलाल ढींगरा ने लंदन में कर्जन वाइली को गोली मार कर हत्या कर दी। इसलिए ढींगरा को गिरफ्तार कर लिया गया तथा नासिक षड्यंत्र केस एवं अन्य अभियोगों के मामले में मुकदमा चलाने के लिए भारत भेज दिया गया।

मैडम भीकाजी कामा का आंदोलन *(Madam Bhikaji Cama's Movement)*

पारसी समुदाय की महिला मैडम भीकाजी रुस्तम कामा ने ब्रिटिश शासन के विरुद्ध अमेरिका तथा यूरोप के विभिन्न देशों में क्रांतिकारी विचारधारा का प्रचार किया। इन्होंने स्टर्टगार्ट (जर्मनी) में अगस्त 1907 में हुए अंतरराष्ट्रीय समाजवादी कांफ्रेंस में भाग लिया एवं वहाँ पर भारत का राष्ट्रीय तिरंगा (हरा, पीला, लाल) ध्वज फहराया।

मैडम भीकाजी कामा को 'मदर ऑफ इंडियन रिवोल्यूशन' के नाम से भी जाना जाता है।

अमेरिका में क्रांतिकारी गतिविधियाँ *(Revolutionary Activities in America)*

संयुक्त राज्य अमेरिका तथा कनाडा में 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक में बसे भारतीयों ने ब्रिटिश शासन विरोधी राष्ट्रवादी गतिविधियों का प्रारंभ 1906 ई. के आसपास शुरू किया। सन् 1907 ई. में अमेरिका में बसे एक प्रवासी भारतीय तारकनाथ दास द्वारा कैलिफोर्निया में भारतीय स्वतंत्रता लीग का गठन किया गया। उन्होंने 1908 ई. में 'स्वतंत्र हिन्दुस्तान' नामक समाचार-पत्र भी प्रकाशित किया। इसके परिणामस्वरूप कई नए राजनीतिक संगठनों का उदय हुआ। नवम्बर 1913 में 'हिंद एसोसिएशन ऑफ अमेरिका' की स्थापना सोहन सिंह भाखना द्वारा की गई तथा 'गदर' नामक साप्ताहिक पत्रिका का प्रकाशन सन् 1857 ई. में हुए विद्रोह की स्मृति में किया गया। यह पत्र अंग्रेजी, उर्दू, मराठी तथा पंजाबी में प्रकाशित किया गया। इसी पत्र के नाम पर 'हिंद एसोसिएशन ऑफ अमेरिका' का नाम 'गदर पार्टी' पड़ा। इस संगठन द्वारा सैन फ्रांसिस्को में 'युगांतर आश्रम' की स्थापना की गई। युगांतर आश्रम का नामकरण कलकत्ता से प्रकाशित सुप्रसिद्ध क्रांतिकारी पत्रिका 'युगांतर' के नाम पर किया गया था।

क्रांतिकारी गतिविधियों से जुड़ी समाचार पत्र, पत्रिकाएँ एवं पुस्तकें

समाचार पत्र/पत्रिका/पुस्तक	*संपादक एवं प्रकाशक*
युगान्तर	वारीन्द्र कुमार घोष, भूपेन्द्रनाथ दत्त
वंदेमातरम	अरविन्द घोष
भारत माता	अजीत सिंह
इण्डियन सोशियोलॉजिस्ट	श्यामजीकृष्ण वर्मा
वंदेमातरम	मैडम कामा (लंदन)
मदर	लाला हरदयाल (न्यूयार्क)
बंदी जीवन	शचीन्द्रनाथ सान्याल
भारतीय स्वतन्त्रता संग्राम	वी. डी. सावरकर
भवानी मंदिर	अरविन्द घोष
वर्तमान रणनीति	वारीन्द्र कुमार घोष
पथेर दाबी	शरतचन्द्र चट्टोपाध्याय
बम मैनुअल	पी. एन. वापट

गदर पार्टी आंदोलन *(Ghadar Party Movement)*

गदर पार्टी का गठन 1 नवम्बर, 1913 को अमेरिका के सैन फ्रांसिस्को नगर में किया गया। लाला हरदयाल गदर पार्टी आंदोलन के पथ-प्रदर्शक थे जबकि सोहन सिंह भाखना इसके अध्यक्ष थे। लाला हरदयाल, भाई परमानंद और रामचंद्र गदर पार्टी के प्रमुख कार्यकर्ता थे। यह पार्टी विदेशों में निवास करने वाले भारतीय समुदाय में अत्यधिक लोकप्रिय थी। गदर पार्टी ने प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान अंग्रेजों के विरुद्ध योजना बनाई तथा भारत में सक्रिय

Copyright – Drishti The Vision Foundation

क्रांतिकारियों से संपर्क स्थापित किया, किंतु यह योजना सफलता प्राप्त नहीं कर सकी। 1914 ई. में इस दल का नेतृत्व रामचंद्र द्वारा किया गया क्योंकि लाला हरदयाल को अमेरिका छोड़ने के लिए बाध्य होना पड़ा था। अमेरिका का ब्रिटेन की ओर से प्रथम विश्व युद्ध में सम्मिलित होने की वजह से गदर पार्टी का प्रभाव समाप्त हो गया तथा इसे गैर-कानूनी घोषित कर दिया गया।

अफगानिस्तान *(Afghanistan)*

दिसंबर 1915 में काबुल में भारत की प्रथम स्थाई सरकार का गठन राजा महेन्द्र प्रताप के नेतृत्व में किया गया। उनके सहयोगी बरकतुल्ला की इस सरकार के गठन में प्रमुख भूमिका थी। राजा महेन्द्र प्रताप के मंत्रिमंडल में बरकतुल्ला (प्रधानमंत्री), मौलाना अब्दुल्ला, मौलाना बशीर, सी. पिल्लई, शमशेर सिंह, डॉ. मथुरा सिंह, खुदाबक्श और मुहम्मद अली इत्यादि प्रमुख व्यक्ति थे। इस सरकार को जर्मनी तथा रूस की मान्यता प्राप्त थी।

कामागाटामारू प्रकरण, 1914 *(Komagata Maru Incident, 1914)*

यह कनाडा में भारतीयों के प्रवेश से संबंधित विवाद था। कामागाटामारू एक जापानी जहाज था। इसे भारतीय मूल के व्यापारी गुरुदत्त सिंह ने किराये पर लिया तथा दक्षिण-पूर्वी एशिया से करीब 376 यात्रियों को बैठाकर वैंकुवर (कनाडा) की ओर प्रस्थान किया। इस प्रकरण की पृष्ठभूमि यह थी कि कनाडा सरकार ने एक कानून पास कर कनाडा में ऐसे भारतीयों के प्रवेश को प्रतिबंधित कर दिया जो भारत से सीधे कनाडा न आये हों। लेकिन 1913 ई. में कनाडा के उच्चतम न्यायालय ने अपने एक निर्णय के अंतर्गत ऐसे 35 भारतीयों को देश में प्रवेश करने का आदेश दे दिया जो सीधे भारत से नहीं आये थे। इसी निर्णय से प्रोत्साहित होकर कामागाटामारू जहाज ने वैंकुवर (कनाडा) की ओर प्रस्थान किया।

इस यात्रा के मध्य में दो भारतीय क्रांतिकारियों भगवान सिंह एवं बरकतुल्ला ने जहाज में क्रांतिकारी भाषण देकर यात्रियों को भारत में ब्रिटिश सरकार के खिलाफ विद्रोह करने को कहा।

23 मई, 1914 को यह जहाज वैंकुवर पहुँचा, किंतु इसी बीच कनाडा सरकार ने भारतीयों के प्रवेश को पुनः प्रतिबंधित कर दिया। इसे कनाडा में प्रवेश नहीं करने दिया गया। कनाडा में इन यात्रियों के पक्ष में हुसैन रहीम, सोहनलाल पाठक और बलवंत सिंह के नेतृत्व में शोर कमेटी या तटीय कमेटी का गठन किया गया। अमेरिका में भगवान सिंह, बरकतुल्ला, रामचंद्र एवं सोहन सिंह के नेतृत्व में आंदोलन चलाया गया, किंतु कनाडा सरकार की सख्त नीतियों के कारण इसे कनाडा की जल-सीमा को छोड़ना पड़ा। भारत की ब्रिटिश सरकार ने जहाज को सीधे कलकत्ता लाने का आदेश दिया। इस जहाज के कलकत्ता में बजबज नामक स्थान पर पहुँचने के उपरांत यात्रियों एवं पुलिस के बीच हुए संघर्ष में 18 यात्री मारे गए तथा 202 यात्रियों को कारावास में डाल दिया गया।

तोषामारू काण्ड, 1914 *(Tosha Maru Incident, 1914)*

यह प्रकरण गदर पार्टी के नेताओं से संबंधित था। तोषामारू नामक जहाज पर गदर पार्टी के कुछ क्रांतिकारी नेता यात्रा कर रहे थे। अपने सिंगापुर पड़ाव के दौरान भाई परमानंद के क्रांतिकारी भाषणों से भारतीय सैनिकों में ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध विरोध की भावना जाग्रत हुई। परिणामस्वरूप सिंगापुर लाइट इन्फैन्ट्री के जवानों ने जमादार चिश्ती खाँ एवं डुण्डे खाँ के नेतृत्व में विद्रोह कर दिया तथा उन्होंने अंग्रेजी सैन्य अड्डों पर कब्जा कर तिरंगा ध्वज फहराया। इतिहास में इस घटना को सिंगापुर क्रांति के नाम से भी जाना जाता है।

सिल्क पेपर षड्यंत्र, 1915 *(Silk Paper Conspiracy, 1915)*

यह प्रकरण हिजरत आंदोलन के नेताओं से जुड़ा था जो कालांतर में अफगानिस्तान तथा तुर्किस्तान चले गए थे। वहाँ इन्होंने खुदाई सेना की स्थापना की। इन्होंने भारत से ब्रिटिश शासन को उखाड़ फेंकने की योजना बनाई। इस योजना के सूत्रधार खुदाई सेना से जुड़े मौलवी उबैदुल्ला सिंधी थे जिन्होंने कुछ गुप्त पत्र महमूद हसन को पीले सिल्क पर फारसी भाषा में लिखे, किंतु ये अंग्रेजों के हाथ लग गए और यह योजना असफल हो गयी। इतिहास में इस समूचे प्रकरण को सिल्क पेपर षड्यंत्र के नाम से जाना जाता है।

बंगाल विभाजन एवं स्वदेशी आंदोलन *(Partition of Bengal and Swadeshi Movement)*

बंगाल विभाजन (1905 ई.) भारतीय राष्ट्रवाद पर किया गया प्रच्छन्न प्रहार था, जो लॉर्ड कर्जन के कार्यकाल का सबसे विवादास्पद कार्य माना जाता है। कर्जन का मानना था कि "भारतीयों का एकमात्र कर्त्तव्य शासित होना है और इसके अतिरिक्त कुछ अन्य सोचना अंग्रेजों के लिए मर्यादा भंग करने के समतुल्य होगा।"

बंगाल प्रेसीडेन्सी ब्रिटिश भारत का सबसे अधिक जनसंख्या वाला प्रांत था, जिसमें पश्चिमी और पूर्वी बंगाल (आधुनिक बांग्लादेश), उड़ीसा तथा बिहार भी सम्मिलित थे। बंगाल विभाजन के लिए लॉर्ड कर्जन ने यह तर्क दिया कि इतने बड़े प्रांत पर सुव्यवस्थित ढंग से शासन करना संभव नहीं है किंतु विभाजन का वास्तविक उद्देश्य राष्ट्रीय आंदोलन की तीव्रता को क्षीण करना

Copyright – Drishti The Vision Foundation

था। लंदन में लॉर्ड कर्जन ने इस विभाजन के राजनीतिक उद्देश्यों को स्पष्ट करते हुए अपने अधिकारियों से कहा था कि "मैं विभाजन के द्वारा विरोधियों के संगठित समूह को तोड़ना चाहता हूँ। अविभाजित बंगाल एक महाशक्ति है जिसे विभाजन द्वारा खंडित कर दिया जायेगा।" चूँकि बंगाल उस समय राष्ट्रवादी क्रांतिकारी गतिविधियों एवं राष्ट्रीय चेतना का गढ़ था, इसलिए इसके विभाजन के माध्यम से कर्जन ने दूरदर्शिता का परिचय दिया।

बंगाल विभाजन की योजना के अनुसार बंगाल को पश्चिमी (West) एवं पूर्वी (East) दो भागों में विभाजित कर दिया गया। इसके बाद पूर्वी बंगाल एवं असम को मिलाकर एक नए प्रांत का गठन किया गया, जिसमें राजशाही, चटगाँव तथा ढाका इत्यादि जिले सम्मिलित थे। इस प्रांत की कुल जनसंख्या (3 करोड़ 10 लाख) में एक करोड़ अस्सी लाख मुसलमान तथा एक करोड़ बीस लाख हिंदू थे। इस प्रकार यह प्रांत मुस्लिम-बहुल बन गया। इस प्रांत की राजधानी ढाका को बनाया गया। पश्चिमी बंगाल में आधुनिक पश्चिम बंगाल के 11 जिले, दार्जिलिंग, कलकत्ता सहित संपूर्ण बिहार तथा उड़ीसा का भूभाग सम्मिलित था। इस प्रांत की कुल जनसंख्या (5 करोड़ 40 लाख) में से 4 करोड़ 26 लाख हिन्दू तथा 90 लाख मुसलमान थे। इस प्रकार यह नवगठित प्रांत हिंदू-बहुल जनसंख्या का प्रतिनिधित्व करता था।

देशव्यापी विरोध के बावजूद 20 जुलाई, 1905 को बंगाल विभाजन के निर्णय की घोषणा की गई। इस घोषणा की प्रतिक्रियास्वरूप 7 अगस्त, 1905 को कलकत्ता के टाउन हाल में 'स्वदेशी आंदोलन' की घोषणा की गई और ऐतिहासिक 'बहिष्कार प्रस्ताव' पारित किया गया। 16 अक्टूबर, 1905 को एक आधिकारिक घोषणा के द्वारा बंगाल विभाजन प्रभावी हो गया।

स्वदेशी आंदोलन *(Swadeshi Movement)*

बंगाल विभाजन की घोषणा मात्र से ही एक प्रबल राजनीतिक तूफान आ गया जिसकी लहरों ने विभिन्न राजनीतिक विचारधाराओं तथा सामाजिक दृष्टिकोणों वाले व्यक्तियों को एक तट पर ला खड़ा किया। आधिकारिक रूप से यद्यपि बंगाल का विभाजन 16 अक्टूबर, 1905 से लागू हुआ, किंतु विभाजन के निर्णय की घोषणा के तुरंत पश्चात् ही विभाजन के विरुद्ध अनेक विरोध सभाओं का आयोजन किया गया। इस आंदोलन में छात्रों ने अत्यधिक उत्साह से भाग लिया। बंकिमचंद्र चटर्जी द्वारा लिखा गया 'वंदेमातरम्' रातों-रात संपूर्ण देश का राष्ट्रगान बन गया। बंगाल विभाजन का दिन बंगाल में 'शोक दिवस' के रूप में मनाया गया तथा रवीन्द्रनाथ टैगोर के सुझाव पर यह दिन 'राखी दिवस' के रूप में मनाया गया।

बंगाल विभाजन के विरुद्ध विरोध प्रदर्शित करने हेतु ब्रिटिश सामान के बहिष्कार का निर्णय लिया गया। स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन की आग संपूर्ण भारतवर्ष में फैल गई। पंजाब में इसका नेतृत्व अजीत सिंह, लाला लाजपत राय, स्वामी श्रद्धानंद, जयपाल और गंगाराम द्वारा किया गया। तिलक व उनकी पुत्री ने महाराष्ट्र में नेतृत्व किया। सैय्यद हैदर रजा ने दिल्ली में तथा चिदम्बरम् पिल्लई, सुब्रह्मण्यम अय्यर, आनंद चारलू और टी.एम. नायक ने मद्रास प्रेसीडेंसी में इसकी बागडोर संभाली। इस आंदोलन को सर्वाधिक सफलता विदेशी वस्तुओं के बहिष्कार से मिली। महिलाओं ने विदेशी प्रसाधन-सामग्री, चूड़ियों एवं बर्तनों का प्रयोग बंद कर दिया। धोबियों ने विदेशी कपड़ों को धोने से इन्कार कर दिया। अनेक जगह विदेशी कपड़ों की होली जलाई गई। मंदिरों के प्रसाद में यदि विदेशी चीनी का प्रयोग किया जाता तो महंत उस प्रसाद को लेने से इन्कार कर देते। इस आंदोलन ने आत्मशक्ति और आत्मनिर्भरता का नारा दिया। स्वदेशी वस्तुओं की आपूर्ति सुनिश्चित करने हेतु स्वदेशी प्रतिष्ठानों की स्थापना की गई, यथा- 'बंगाल केमिकल्स' की स्थापना आचार्य प्रफुल्लचंद राय द्वारा की गई।

स्वदेशी आंदोलन का सबसे अधिक प्रभाव कला एवं संस्कृति के क्षेत्र में पड़ा। रवीन्द्रनाथ टैगोर, मुकुंद दास, बंकिमचंद चटर्जी, सैय्यद अबु अहमद इत्यादि द्वारा लिखे गए गीतों ने आंदोलनकारियों को प्रेरणा दी। रवीन्द्रनाथ टैगोर द्वारा लिखा गया गीत 'आमार सोनार बांग्ला' जो कालांतर में बांग्लादेश का राष्ट्रीय गीत बना, वह भी इसी समय लिखा गया। बंगाल की गलियाँ देशभक्ति के गीतों से गूँज उठीं। कला के क्षेत्र में पाश्चात्य कला के आधिपत्य को तोड़ते हुए पारंपरिक भारतीय कलाओं, यथा- अजंता की चित्रकारी से प्रेरणा ली गई। इस क्षेत्र में अवनीन्द्रनाथ टैगोर का योगदान अविस्मरणीय है। विज्ञान के क्षेत्र में जगदीश चंद्र बसु, प्रफुल्ल चंद्र राय छात्रों के लिए प्रेरणा-स्रोत बने, जिसके परिणामस्वरूप यह आंदोलन और अधिक मजबूत हो गया।

स्वदेशी आंदोलन में विद्यार्थियों की सक्रिय भूमिका ने इस आंदोलन की तीव्रता तथा प्रभावक्षेत्र को बढ़ा दिया। कलकत्ता विश्वविद्यालय को गुलाम खाना (दास गृह) के रूप में भर्त्सना की गई तथा एक राष्ट्रीय शिक्षा परिषद् का गठन किया गया। इन्हीं प्रयासों के परिणामस्वरूप रंगपुर नेशनल स्कूल तथा बंगाल नेशनल कॉलेज और स्कूल की स्थापना हुई। अरविंद घोष बंगाल नेशनल कॉलेज के प्रथम प्राचार्य बने। डॉन सोसाइटी के सचिव सतीशचंद्र मुखर्जी ने बंगाल में राष्ट्रीय शिक्षा को प्रसारित करने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई। भारतीयों के निर्देशन में राष्ट्रीय विचारधारा के अनुरूप शिक्षा-व्यवस्था को संगठित करने का प्रयास किया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

स्वदेशी आंदोलन का प्रसार तथा नेतृत्व

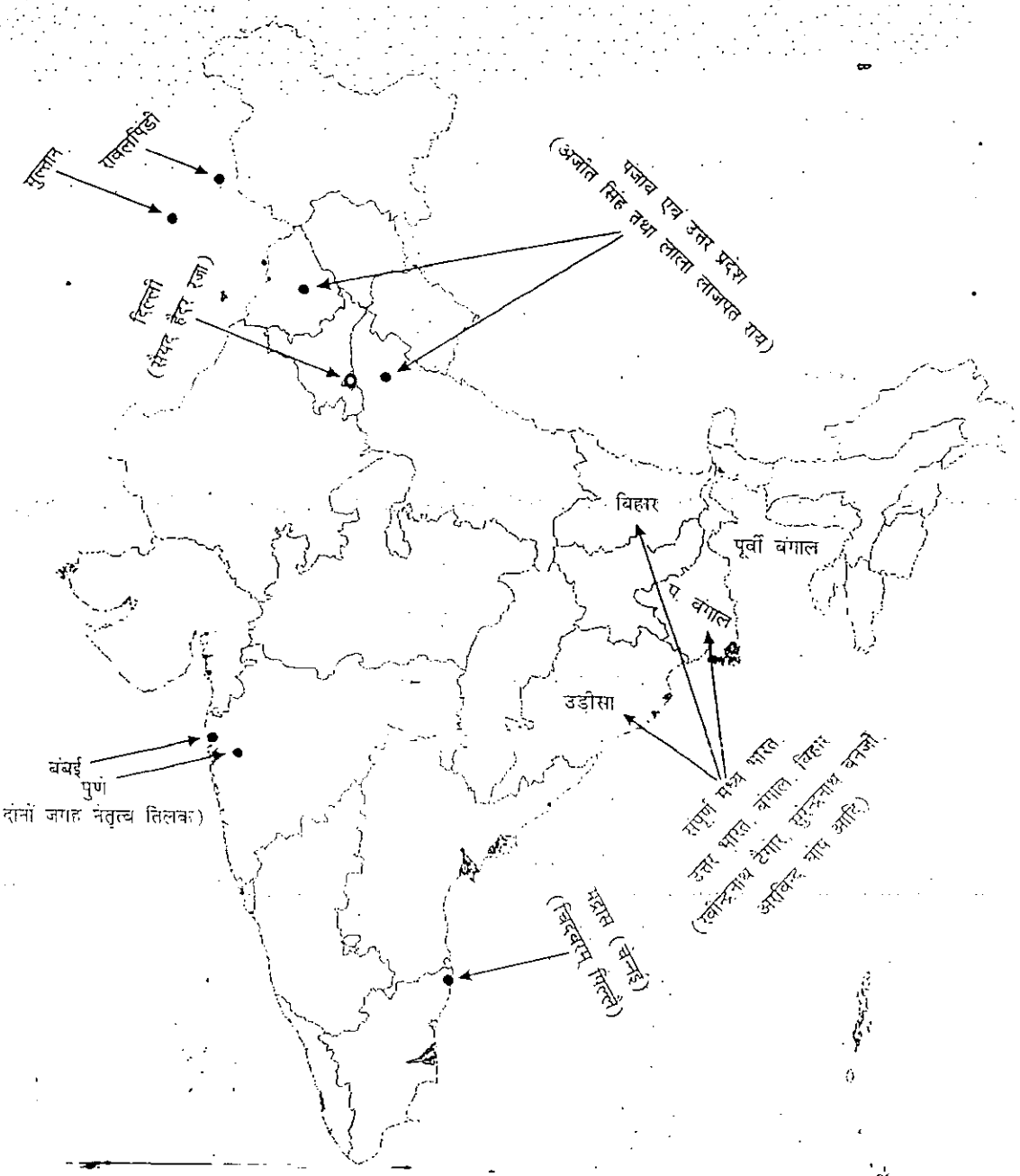

स्वदेशी आंदोलन का महत्व *(Importance of Swadeshi Movement)*

इस आंदोलन में अनेक प्रवृत्तियाँ और शक्तियाँ विद्यमान थीं जिन्होंने बीज रूप में ही सही पर 1947 ई. तथा उसके बाद के समय में भी भारतीय जनमानस को प्रभावित किया। स्वदेशी आंदोलन ने परवर्ती स्वतन्त्रता आंदोलन के लिए नींव रखने का काम किया तथा राष्ट्रवाद को व्यावहारिक राजनीति की धरातल पर ला खड़ा कर दिया। इस आंदोलन ने सिद्धांतों, विचारधाराओं एवं भावनाओं की सीमाओं से ऊपर उठकर भारतीयों में एकता एवं अखण्डता जैसे मूल्यों को प्रतिष्ठित किया, जिसके फलस्वरूप भारत का समग्र राष्ट्रीय जीवन आंदोलित हुआ।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

यद्यपि अपने तात्कालिक लक्ष्यों की पूर्ति में स्वदेशी एवं बहिष्कार आंदोलन असफल रहा क्योंकि इस अवसर पर बंगाल विभाजन को समाप्त नहीं किया गया, किंतु इसके दूरगामी लाभ निश्चित रूप से प्राप्त हुए। उदाहरण के लिए, भारतीय उद्योगों को प्रोत्साहन मिला तथा विदेशी वस्तुओं के आयात में कमी आई। ब्रिटिश सरकार ने जब आंदोलन का दमन करना चाहा तो उग्र राष्ट्रीयता की भावना का उदय हुआ। कालांतर में यह आंदोलन शिथिल पड़ गया और नेतृत्वविहीन हो गया क्योंकि इसके अधिकांश नेताओं को गिरफ्तार किया जा चुका था। स्वदेशी आंदोलन के लक्ष्यों की प्राप्ति के सम्बन्ध में संबंध में महात्मा गांधी ने कहा कि "भारत का वास्तविक शासन बंगाल विभाजन के उपरांत शुरू हुआ। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र–उद्योग, शिक्षा, संस्कृति, साहित्य और फैशन में स्वदेशी की भावना का संचार हुआ। हमारे राष्ट्रीय आंदोलन के किसी भी चरण में इतनी अधिक सांस्कृतिक जागृति देखने को नहीं मिलती, जितनी की स्वदेशी आंदोलन के दौरान।"

बंगाल विभाजन का निरस्तीकरण, 1911 *(Cancellation of the Partition of Bengal)*

लॉर्ड मिन्टो (द्वितीय) द्वारा 1906 ई. में गठित 'अरुण्डेल कमेटी' की अनुशंसा पर बंगाल विभाजन को सन् 1911 ई. में रद्द कर दिया गया। लॉर्ड कर्जन के उपरांत आए नए गवर्नर जनरल लॉर्ड मिन्टो (द्वितीय) ने राजनीतिक सुधारों के विषय में सलाह देने के उद्देश्य से इस कमेटी का गठन किया। बंगाल विभाजन रद्द करने के पीछे अरुण्डेल कमेटी की सिफारिश के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियाँ भी उत्तरदायी थीं।

कांग्रेस का सूरत विभाजन, 1907 *(Congress Surat Split, 1907)*

1905 ई. के बंगाल विभाजन का कांग्रेस के उदारवादी एवं उग्रवादी गुटों के मध्य बढ़ते हुए मतभेदों पर स्पष्ट प्रभाव पड़ा। यद्यपि गोपालकृष्ण गोखले की अध्यक्षता में हुए कांग्रेस के 1905 ई. के वाराणसी अधिवेशन में बंगाल विभाजन का पुरजोर विरोध किया गया, किंतु उदारवादी बहिष्कार संबंधी प्रस्ताव को खुला समर्थन देने के पक्ष में नहीं थे क्योंकि ऐसा करना उनकी नीति 'याचना और अनुनय' के विरुद्ध था। कांग्रेस का अगला अधिवेशन 1906 ई. में कलकत्ता में हुआ। इस अधिवेशन में अध्यक्ष पद को लेकर उदारवादी एवं उग्रवादी गुटों में विवाद उत्पन्न हो गया। लेकिन दादाभाई नौरोजी को अध्यक्ष चुन लिये जाने पर यह विवाद खत्म हो गया। उग्रवादियों ने दबाव डालकर स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा एवं स्वशासन से जुड़े चार प्रस्ताव पारित करवा लिए। इसी अधिवेशन में दादाभाई नौरोजी ने सर्वप्रथम 'स्वराज' शब्द का उल्लेख किया। कांग्रेस का अगला अधिवेशन नागपुर में प्रस्तावित था जो कि उग्रवादियों का गढ़ माना जाता था। अंतिम समय में इसका स्थान परिवर्तित कर सूरत का चयन किया गया। दिसम्बर, 1907 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन ताप्ती नदी के किनारे सूरत में हुआ। इस अधिवेशन में उग्रवादियों ने अध्यक्ष पद के लिए लाला लाजपत राय का नाम प्रस्तावित किया, किंतु उदारवादियों ने रासबिहारी घोष को अध्यक्ष पद पर प्रतिष्ठित कर दिया। साथ ही, उग्रवादियों द्वारा 1906 ई. के अधिवेशन में पास करवाये गए चार प्रस्तावों स्वदेशी, बहिष्कार, राष्ट्रीय शिक्षा और स्वशासन के मुद्दे पर मतभेद खुलकर सामने आया, जिसकी परिणति प्रथम कांग्रेस विभाजन के रूप में सामने आयी।

सूरत विभाजन के पश्चात् उग्रवादियों के लिए कांग्रेस के द्वार बंद कर दिए गए। सभी बड़े उग्रवादी नेताओं को ब्रिटिश सरकार द्वारा गिरफ्तार कर लिया गया। इनमें लाला लाजपत राय, बाल गंगाधर तिलक तथा विपिनचंद्र पाल (लाल, बाल, पाल) प्रमुख थे। अप्रैल 1908 में इलाहाबाद में एक सम्मेलन आयोजित किया गया जिसमें कांग्रेस के लिए एक नवीन संविधान और नियमावली तैयार की गई। 1908 ई. के मद्रास अधिवेशन में इस नवीन संविधान का अनुमोदन किया गया।

अगले 8 वर्षों में कांग्रेस का स्वरूप एक राष्ट्रीय संस्था से दलीय संगठन के रूप में परिवर्तित हो गया। कांग्रेस के प्रत्येक अधिवेशन में उदारवादी अपनी पुरानी अनुनय-विनय की पद्धति के माध्यम से सामान्य माँगों की ही पुनरावृत्ति करते रहे। इन माँगों की ओर ब्रिटिश सरकार ने कोई ध्यान नहीं दिया और जनता भी इन्हें महत्वहीन समझती थी।

अखिल भारतीय मुस्लिम लीग की स्थापना *(Foundation of All India Muslim League, 1906)*

1 अक्टूबर, 1906 को तत्कालीन वायसराय लॉर्ड मिंटो से मुसलमानों का एक शिष्टमंडल आगा खाँ के नेतृत्व में शिमला में मिला। इस शिष्टमंडल द्वारा प्रस्तुत प्रतिवेदन में मुसलमानों की गौरवशाली ऐतिहासिक राजनीतिक प्रस्थिति, वर्तमान राजनीतिक महत्व एवं सैन्य भर्ती को ध्यान में रखते हुए भारतीय मुसलमानों के लिए विशिष्ट स्थिति की माँग की गई। इस प्रतिनिधिमंडल के नेताओं को लॉर्ड मिण्टो द्वारा यह आश्वासन दिया गया कि एक संप्रदाय के रूप में मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों की रक्षा की जाएगी।

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष: 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

ब्रिटिश सरकार से इस प्रकार का आश्वासन मिलने के पश्चात् पूर्वी बंगाल में मुसलमानों द्वारा बंगाल विभाजन के पक्ष में सभाओं का आयोजन किया गया। ढाका के नवाब सलीमउल्लाह (या हबीबउल्लाह) ने लॉर्ड कर्जन की प्रेरणा से बंगाल विभाजन के समर्थन में हुए आंदोलन का समर्थन किया। इसके पश्चात् 30 दिसम्बर, 1906 को नवाब सलीमउल्लाह के नेतृत्व में ढाका में एक बैठक का आयोजन किया गया, जिसमें अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का गठन किया गया। इस संगठन की स्थापना तीन उद्देश्यों की पूर्ति हेतु की गई थी- पहला, मुसलमानों में ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा को बढ़ाना, दूसरा, मुसलमानों के राजनीतिक अधिकारों का विस्तार एवं उनकी रक्षा करना तथा तीसरा, लीग के अन्य उद्देश्यों को दुष्प्रभावित किए बिना अन्य संप्रदायों के प्रति असहिष्णुता एवं कटुता की भावना के प्रसार को रोकना। इसी अधिवेशन में मुस्लिम लीग ने भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के बढ़ते हुए प्रभाव को सीमित करने के संबंध में भी प्रस्ताव पास किया।

आरंभिक वर्षों में मुस्लिम लीग का उद्देश्य अपनी स्थिति को मजबूत करना तथा पृथक् निर्वाचन के लिए संघर्ष करना था। 1908 ई. में मुस्लिम लीग के अमृतसर अधिवेशन में पृथक निर्वाचक मंडल की माँग की गई, जिसे 1909 ई. के मार्ले-मिण्टो सुधारों में मान लिया गया।

अहरार आंदोलन, 1906 *(Ahrar Movement, 1906)*

1906 ई. में बंगाल के राष्ट्रवादी मुसलमानों द्वारा इस आंदोलन का आरंभ किया गया। इस आंदोलन का लक्ष्य मुसलमानों की राष्ट्रीय आंदोलन में सहभागिता को प्रोत्साहित करना तथा ब्रिटिश राज्य के प्रति स्वामिभक्ति की भावना को हतोत्साहित करना था। इस आंदोलन का नेतृत्व मौलाना मोहम्मद अली, हकीम अजमल खाँ, मौलाना जफर अली खान, हसन इमाम, नजरुल हक इत्यादि द्वारा किया गया।

मार्ले-मिंटो सुधार, 1909 *(Morley-Minto Reforms, 1909)*

भारत में बढ़ती हुई अशांति और उपद्रव की स्थितियों के बीच ही लॉर्ड मिंटो (द्वितीय) ने भारत के गवर्नर जनरल तथा लॉर्ड मार्ले ने इंग्लैण्ड में भारत सचिव का पद संभाला। भारत परिषद में सुधार हेतु इन दोनों ने एक विस्तृत योजना बनाने का निश्चय किया। लॉर्ड मार्ले की अनुमति प्राप्त कर लॉर्ड मिण्टो ने एक समिति गठित की, जिसका कार्य विधान परिषदों में अधिक प्रतिनिधित्व, बजट को प्रस्तुत एवं संशोधित करने की प्रक्रिया पर विचार करना तथा बजट पर वाद-विवाद करने के लिए अधिक समय प्रदान करने पर विमर्श करना था। तीन वर्षों के पश्चात् यह योजना 1909 ई. में मार्ले-मिन्टो सुधारों के रूप में दृष्टिगत हुई। यह योजना विधेयक रूप में 25 मई, 1909 को पारित की गई तथा 15 नवम्बर, 1909 को भारत परिषद अधिनियम के रूप में राजकीय अनुमोदन के पश्चात् लागू हो गयी। इस अधिनियम के द्वारा ब्रिटिश सरकार नरम दल को अपनी ओर आकर्षित करना चाहती थी जबकि इस अधिनियम का मुख्य उद्देश्य मुसलमानों की पृथक निर्वाचक पद्धति की माँग को स्वीकार कर सांप्रदायिकता को बढ़ावा देना था। कालांतर में अंग्रेजों की यही नीति भारत के विभाजन का कारण बनी। इसी अधिनियम के अंतर्गत केन्द्रीय एवं प्रांतीय विधानमण्डलों के आकार एवं उनकी शक्ति में वृद्धि की गयी। कांग्रेस के द्वारा लाहौर अधिवेशन (1909 ई.) में इन सुधारों का कड़ा विरोध किया गया, जबकि कट्टरपंथी मुसलमानों ने इसका स्वागत किया।

राजद्रोह (रक्षण) सभा अधिनियम, 1911 *(Prevention of Seditious Meetings Act, 1911)*

सन् 1911 ई. का राजद्रोह (रक्षण) सभा अधिनियम क्रांतिकारी गतिविधियों के दमन के लिए लाया गया था। ध्यातव्य है कि मार्ले-मिन्टो सुधारों पर तीव्र प्रतिक्रिया व्यक्त करते हुए उग्रवादी राष्ट्रवादियों द्वारा क्रांतिकारी गतिविधियों को काफी तीव्र कर दिया गया था। इस अधिनियम में सरकार के विरुद्ध सभा करने पर कठोर दण्ड का प्रावधान किया गया। इसी आधार पर लाला लाजपत राय तथा अजीत सिंह को गिरफ्तार किया गया। प्रेस की भूमिका को सीमित करने के उद्देश्य से भारतीय प्रेस एक्ट (Indian Press Act) पारित किया गया, जिसके परिणामस्वरूप समाचार-पत्रों की स्वाधीनता छीन ली गई। इन्हीं नीतियों के विस्तार के क्रम में 1913 ई. का फौजदारी अधिनियम पारित किया गया, जिसका उद्देश्य ही राष्ट्रवादी आंदोलन का दमन करना था।

दिल्ली दरबार, 1911 *(Delhi Durbar, 1911)*

इंग्लैण्ड के सम्राट जॉर्ज पंचम तथा महारानी मेरी के स्वागत में लॉर्ड हार्डिंग द्वारा 12 दिसम्बर, 1911 को दिल्ली में एक भव्य दरबार का आयोजन किया गया। इसी दरबार में बंगाल का विभाजन रद्द करने की घोषणा की गई तथा बंगाल प्रांत का पुनर्गठन किया गया, जिसमें सिलहट के अतिरिक्त सभी बंगाली भाषी जिले शामिल किये गये। असम को उसकी पूर्व स्थिति (1874 ई.) के अनुसार एक नए प्रांत के रूप में गठित किया गया तथा सिलहट को भी इसमें शामिल किया गया। दिल्ली दरबार की सबसे महत्वपूर्ण घोषणा थी- भारत की राजधानी को कलकत्ता से दिल्ली स्थानान्तरित करना।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

आधिकारिक घोषणा में यह स्पष्ट किया गया कि भौगोलिक, ऐतिहासिक एवं राजनीतिक कारणों से दिल्ली को राजधानी के रूप में चुना गया है। स्पष्ट है कि भौगोलिक कारण कहना निराधार एवं अप्रासंगिक था क्योंकि दिल्ली भारत के केन्द्र में स्थित नहीं थी। ऐतिहासिक कारण कहने से तात्पर्य उस योजना से था जिसके द्वारा मुगलकालीन गौरवशाली परंपरा को पुनर्जीवित करके भारतीय मुसलमानों का समर्थन हासिल करना एवं उन्हें प्रसन्न करना था। बहरहाल, इसका वास्तविक एवं राजनीतिक उद्देश्य बंगाल विभाजन विरोधी आंदोलन के केन्द्र कलकत्ता की प्रतिष्ठा को न्यून करना था। दिल्ली राजनीतिक हलचलों से अप्रभावित शहर था, इसलिए 23 दिसम्बर, 1912 से दिल्ली को नई राजधानी के रूप में परिवर्तित कर दिया गया।

हार्डिंग बम कांड *(Hardinge Bomb Case, 1912)*

23 दिसम्बर, 1912 को राजधानी परिवर्तन के दिन जब लॉर्ड हार्डिंग ब्रिटेन के शाही राजवंश एवं अपने परिवार के साथ एक भव्य समारोह के साथ दिल्ली में प्रवेश कर रहा था, उस समय लॉर्ड हार्डिंग के जुलूस पर बम फेंका गया, जिसमें वह घायल हो गया। यह बम बसंत विश्वास एवं मन्मथ नाथ द्वारा फेंका गया था। इस षड्यंत्र के प्रमुख सूत्रधार रासबिहारी बोस थे। बम कांड से संबंधित इस घटना को 'दिल्ली षड्यंत्र केस' के नाम से जाना जाता है। इस मुकदमे में बसंत विश्वास, बाल मुकुंद, अवध बिहारी तथा मास्टर अमीरचंद्र को फाँसी दी गयी। षड्यंत्र का भेद खुल जाने के पश्चात् रासबिहारी जापान भाग गए। जापान पहुँचकर उन्होंने अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों को विराम नहीं दिया तथा द्वितीय विश्वयुद्ध के समय सन् 1942 ई. में 'इंडियन इंडिपेंडेंस लीग' का गठन किया। इन्होंने आजाद हिंद फौज की स्थापना में भी महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

प्रथम विश्व युद्ध और भारत *(The First World War and India)*

1914 ई. में प्रथम विश्व युद्ध के दौरान विश्व दो ध्रुवों में विभक्त हो गया। प्रथम गुट में जहाँ जर्मनी, ऑस्ट्रिया, इटली और तुर्की थे, तो वहीं द्वितीय गुट का प्रतिनिधित्व फ्रांस, इंग्लैण्ड एवं रूस कर रहे थे। इंग्लैण्ड द्वारा जर्मनी के विरुद्ध युद्ध की घोषणा के उपरांत भारत को स्वयमेव युद्धरत (Voluntarily Belligerent) देश मान लिया गया तथा युद्ध के दौरान अंग्रेजों द्वारा भारतीयों एवं यहाँ के संसाधनों का बुरी तरह शोषण किया गया। उदारवादी नेताओं ने ब्रिटिश सरकार के प्रति पूर्ण निष्ठा की भावना का परिचय दिया। उनका मानना था कि युद्ध समाप्ति के उपरांत ब्रिटिश सरकार को दिए गए सहयोग के बदले उनकी स्वराज या स्वशासन की माँग को पूरा किया जाएगा। युद्ध के दौरान ही देश में फैले राष्ट्रवाद की लहर का यहाँ की राजनीतिक व्यवस्था पर तात्कालिक प्रभाव पड़ा। इसमें ऐनी बेसेंट एवं तिलक द्वारा प्रारंभ किये गये होमरुल आंदोलन का महत्वपूर्ण योगदान था। इसी दौरान क्रांतिकारी एवं आतंकी गतिविधियों ने भी जोर पकड़ा। इससे निपटने के लिए ब्रिटिश सरकार ने भारतीय अपराध कानून संशोधन अधिनियम तथा भारत सुरक्षा अधिनियम जैसे उत्पीड़क कानून लागू किए। आतंकी एवं क्रांतिकारी घटनाओं की न्याय-प्रक्रिया के लिए विशेष न्यायाधिकरणों का गठन किया गया। सैकड़ों क्रांतिकारियों को ठीक से मुकदमा चलाए बिना ही कालापानी की सजा या कठोर यातनाएँ दी गयी।

दिल्ली दरबार

ब्रिटिश औपनिवेशिक शासन के दौरान तीन बार राजकीय दरबार (दिल्ली) का आयोजन किया गया, जिनका विवरण निम्नवत् है-

प्रथम दिल्ली दरबार: लॉर्ड लिटन के कार्यकाल में सन् 1877 ई. में प्रथम दिल्ली दरबार का आयोजन किया गया। इसमें इंग्लैण्ड की महारानी विक्टोरिया को भारत की साम्राज्ञी घोषित करने के साथ ही उसे कैसर-ए-हिंद की उपाधि दी गई। इसी समय दक्षिण भारत में भयंकर अकाल पड़ा जिसमें हजारों व्यक्तियों को अपनी जान से हाथ धोना पड़ा, वहीं दूसरी ओर लॉर्ड लिटन द्वारा इस दरबार को आयोजित करने में बेशुमार धन की बर्बादी की गई।

द्वितीय दिल्ली दरबार: लॉर्ड कर्जन के कार्यकाल में सन् 1903 ई. में द्वितीय दिल्ली दरबार का आयोजन दिया गया। इसके आयोजन पर पहले से कहीं अधिक भारतीय धन की बर्बादी हुई। इसके अंतर्गत इंग्लैण्ड के बादशाह एडवर्ड सप्तम की ताजपोशी की घोषणा की गई। वस्तुत: इसका उद्देश्य ब्रिटिश सरकार की शक्तियों का प्रदर्शन मात्र था, जिसका कोई नतीजा नहीं निकला।

तृतीय दिल्ली दरबार: लॉर्ड हार्डिंग के कार्यकाल में सन् 1911 ई. में तृतीय दिल्ली दरबार आयोजित किया गया। इस अवसर पर इंग्लैंड के बादशाह जॉर्ज पंचम तथा उनकी महारानी मेरी का भारत आगमन हुआ। बंगाल विभाजन को रद्द कर दिया गया एवं दिल्ली को राजधानी के रूप में स्थापित करने की घोषणा की गई।

प्रथम विश्व युद्ध के दौरान ब्रिटेन की सरकार द्वारा तुर्की के विरुद्ध की गई युद्ध की घोषणा से मुस्लिम लीग, जो अब तक ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा रखती थी, का मोहभंग हो गया। तुर्की में ऑटोमन साम्राज्य के विघटन एवं पराजय के उपरांत मुस्लिम लीग ने कांग्रेस के साथ संबंधों को घनिष्ट करने का प्रयास किया, जिसकी परिणति लखनऊ समझौता (Lucknow Pact) एवं खिलाफत आंदोलन (Khilafat Movement) के रूप में हुई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

होमरूल आंदोलन *(Home Rule Movement)*

1914 ई० में आठ वर्ष की सजा काटकर तिलक जेल से रिहा हुए। इन परिस्थितियों में स्वराज प्राप्ति के लिए सरकार पर दबाव डालने के उद्देश्य से तिलक एवं ऐनी बेसेंट ने एक ऐसे आंदोलन को आरंभ करने का निर्णय लिया जो व्यवस्था के अधीन रहते हुए संघर्ष कर सके। इसी उद्देश्य से इन दोनों ने आयरलैंड के होमरूल आंदोलन से प्रेरणा लेते हुए भारत में होमरूल आंदोलन का सूत्रपात किया। होमरूल मूलतः आयरिश आंदोलन था जिसका नेतृत्वकर्ता रेमाण्ड था।

स्वशासन के उद्देश्य को महत्व देते हुए धार्मिक स्वतंत्रता, राष्ट्रीय शिक्षा तथा राजनीतिक एवं सामाजिक सुधार को अपना आधारभूत कार्यक्रम मानते हुए दो अलग-अलग होमरूल लीगों की स्थापना की गयी। पहला, अप्रैल 1916 में तिलक ने पूना में तथा दूसरा, सितंबर 1916 में ऐनी बेसेंट ने मद्रास में 'अखिल भारतीय होमरूल लीग' की स्थापना की। ब्रिटिश शासन के अधीन रहते हुए संवैधानिक तरीके से स्वशासनप्राप्त करना इस आंदोलन का उद्देश्य था।

तिलक की होमरूल लीग *(Tilak's Home Rule League)*

तिलक द्वारा स्थापित होमरूल के अध्यक्ष जोसेफ बैपतिस्ता तथा सचिव एन. सी. केलकर थे। इस होमरूल लीग का कार्यक्षेत्र महाराष्ट्र (मुंबई को छोड़कर), कर्नाटक, मध्य प्रांत एवं बरार तक फैला था। तिलक ने मराठी भाषा में 'केसरी' और अंग्रेज़ी में 'मराठा' नामक पत्रों के माध्यम से होमरूल की अवधारणा का प्रचार किया। इन्होंने संपूर्ण भारतवर्ष का भ्रमण कर स्वराजप्राप्ति के लिए जनमत तैयार करने का प्रयास किया और नारा दिया कि "स्वराज मेरा जन्मसिद्ध अधिकार है और इसे मैं लेकर रहूँगा।"

एनी बेसेंट की ऑल इंडिया होमरूल लीग *(Annie Basant's All India Home Rule League)*

एनी बेसेंट द्वारा स्थापित होमरूल लीग के सचिव जॉर्ज अरुण्डेल थे तथा अन्य सदस्यों में बी. पी. वाडिया, सी. पी. रामास्वामी अय्यर, जवाहरलाल नेहरू, बी. चक्रवर्ती तथा जे. बनर्जी जैसे प्रमुख लोकप्रिय नेता थे। गोपालकृष्ण गोखले द्वारा स्थापित सर्वेण्ट्स ऑफ इंडिया सोसाइटी (Servants of Indian Society) के सदस्यों को लीग की सदस्यता ग्रहण करने से प्रतिबंधित कर दिया गया था। एनी बेसेंट की लीग पर तिलक के क्षेत्रों को छोड़कर संपूर्ण भारतवर्ष में अपने कार्यक्रमों का प्रसार करने का दायित्व था। 1917 ई. में एनी बेसेंट कांग्रेस की अध्यक्षा बनीं। अध्यक्षा के पद पर रहते हुए उन्होंने कहा- "भारत अब अनुग्रहों के लिए अपने घुटनों पर नहीं, बल्कि अधिकारों के लिए अपने पैरों पर खड़ा है।"

ब्रिटिश सरकार होमरूल आंदोलन की बढ़ती लोकप्रियता से चिंतित हो गई, जिसके परिणामस्वरूप जून 1917 में एनी बेसेंट, जॉर्ज अरुण्डेल तथा बी.पी. वाडिया को गिरफ्तार कर लिया गया। सर सुब्रह्मण्यम अय्यर ने इस गिरफ्तारी के विरोध में अपनी 'नाइटहुड' की उपाधि वापस लौटा दी। इस आंदोलन की व्यापकता ने भारतीय राजनीति से उदारवादियों के प्रभाव को लगभग समाप्त कर दिया। लीग के गठन से कांग्रेस में एक नई ऊर्जा का संचार हुआ, जिसने नए वायसराय को व्यापक सुधार कार्यक्रमों की घोषणा करने के लिए बाध्य कर दिया। परिणामस्वरूप, भारत सचिव मांटेग्यू ने 20 अगस्त, 1917 को ब्रिटिश संसद में इस आशय का प्रस्ताव पारित किया जिसमें भारत को उत्तरदायी शासन देने की बात कही गई थी। इस घोषणा से एनी बेसेंट शांत हो गई जबकि दूसरी ओर, तिलक को 'इंडियन अनरेस्ट' के लेखक वेलेंटाइन चिरोल पर मानहानि का मुकदमा दायर करने के लिए लंदन जाना पड़ा। इस प्रकार यह आंदोलन नेतृत्वविहीन होकर खत्म हो गया।

लखनऊ समझौता, 1916 *(Lucknow Pact, 1916)*

सूरत अधिवेशन (1907) से लेकर 1915 तक कांग्रेस पर उदारवादियों का वर्चस्व रहा तथा ये किसी भी हाल में उग्रवादियों के साथ संबंध स्थापित करना नहीं चाहते थे।

उदारवादियों एवं उग्रवादियों के इस मतभेद ने राष्ट्रीय आंदोलन को काफी कमजोर कर दिया था। 1915 ई. में उदारवादी नेता गोपालकृष्ण गोखले एवं फिरोजशाह मेहता की मृत्यु हो गई। ऐसी परिस्थिति में यह महसूस किया गया कि यदि राष्ट्रीय संघर्ष में तीव्रता लानी है तो दोनों विचारधारा के नेताओं को एक साथ मंच पर आना होगा। इसके लिए ऐनी बेसेंट ने गरम दल एवं नरम दल के नेताओं को एक साथ लाने का प्रयास किया, जिसकी परिणति कांग्रेस के 1916 के लखनऊ अधिवेशन में देखने को मिली। इस अधिवेशन की अध्यक्षता अंबिका चरण मजूमदार ने की।

यह अधिवेशन दो दृष्टि से महत्वपूर्ण रहा। पहला, तिलक के नेतृत्व में गरमपंथियों का कांग्रेस में पुनर्प्रवेश तथा दूसरा, कांग्रेस और मुस्लिम लीग के मध्य समझौता। कांग्रेस और मुस्लिम ने पृथक्-पृथक् ढंग से संवैधानिक सुधारों की संयुक्त योजना से संबंधित प्रस्ताव पारित किये और राजनीतिक क्षेत्र में एक-दूसरे के साथ सहयोग करने के संबंध में भी समझौते किये। यह समझौता 'लखनऊ समझौता' या 'लीग-कांग्रेस समझौता' के नाम से जाना जाता है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इस समझौते में ही कांग्रेस ने मुसलमानों के लिए पृथक् निर्वाचन की माँग स्वीकार कर ली जो कालांतर में भयावह सिद्ध हुआ। इस समझौते के बाद मुस्लिम लीग ने अपना अलग अस्तित्व बनाए रखा तथा मुसलमानों के लिए पृथक् राजनीतिक अधिकारों की माँग करता रहा। असहयोग आंदोलन के स्थगित होते ही यह समझौता भंग हो गया तथा कांग्रेस व मुस्लिम लीग एक-दूसरे का प्रतिद्वंद्वी हो गया। यही वह समझौता था जिसने भावी राजनीति के लिए सांप्रदायिकता का बीज बोया। मदन मोहन मालवीय ने लखनऊ समझौता का विरोध किया था।

मांटेग्यू घोषणा, 1917 *(Montague Declaration, 1917)*

प्रथम विश्व युद्ध की समाप्ति तथा उसमें प्राप्त भारतीयों के सहयोग, राष्ट्रवादी क्रांतिकारी गतिविधियों की तीव्रता, होमरूल आंदोलन की लोकप्रियता आदि ने ब्रिटिश सरकार को भारत विषयक अपनी नीतियों में परिवर्तन हेतु बाध्य किया। ब्रिटिश प्रधानमंत्री लॉयड जॉर्ज द्वारा एडविन मांटेग्यू, जिन्हें भारतीय राष्ट्रीय भावनाओं का समर्थक माना जाता था, को भारत सचिव के पद पर नियुक्त किया गया। 20 अगस्त, 1917 को मांटेग्यू ने ब्रिटेन के हाउस ऑफ कॉमन्स में इस बात की घोषणा की कि भारत में उत्तरदायी सरकार के क्रमिक विकास हेतु भारतीयों को प्रशासन में अधिकाधिक भागीदारी प्रदान की जायेगी और क्रमिक रूप से स्वशासित संस्थाओं का विकास किया जायेगा। मांटेग्यू घोषणा को उदारवादियों ने 'भारत का मैग्नाकार्टा' कहा है। मांटेग्यू भारतीय नेताओं से विचार-विमर्श करने हेतु भारत-यात्रा पर आये। इसके उपरांत उन्होंने एक विस्तृत रिपोर्ट प्रकाशित की जिसका सम्बंध भारत में संवैधानिक सुधारों से था। कालांतर में यही रिपोर्ट 1919 ई. के भारत सरकार अधिनियम (Government of India Act, 1919) का आधार बनी।

भारत सरकार अधिनियम, 1919 *(Government of India Act, 1919)*

इस अधिनियम के अंतर्गत सर्वप्रथम उत्तरदायी शासन (Responsible Government) जैसे शब्दों का स्पष्ट उल्लेख किया गया। पहली बार प्रांतों में द्वैध-शासन की स्थापना इसी अधिनियम के अंतर्गत की गयी तथा प्रांतीय विषयों को दो भागों – हस्तांतरित एवं आरक्षित में बाँट दिया गया। आरक्षित विषयों पर गवर्नर जनरल अपने मंत्रियों की सहायता से प्रशासनिक निर्णय लेता था। केन्द्र में भी द्विसदनीय व्यवस्था की गई। ऊपरी सदन अर्थात् काउंसिल ऑफ स्टेट के कुल 60 सदस्यों में से 27 नामांकित तथा 33 निर्वाचित होते थे तथा निचले सदन अर्थात् लेजिस्लेटिव असेंबली में कुल 145 सदस्यों में से 41 सदस्य मनोनीत तथा 104 सदस्य निर्वाचित होते थे। गवर्नर जनरल तथा उसकी कार्यकारी परिषद (Executive Council) पर विधानमंडल का कोई नियंत्रण नहीं था।

भारत सरकार अधिनियम, 1919 के अंतर्गत ही सर्वप्रथम भारतीय विधानमंडल को बजट पास करने संबंधी अधिकार प्रदान किए गए। भारत में पहली बार लोक सेवा आयोग के गठन का प्रावधान किया गया तथा पंजाब में सिख और मद्रास में गैर-ब्राह्मणों को पृथक निर्वाचन मण्डल का अधिकार प्रदान किया गया। इसी अधिनियम के प्रावधानों के अंतर्गत प्रत्येक 10 वर्ष पश्चात् शासन-व्यवस्था की कार्यप्रणाली की जाँच हेतु एक वैधानिक आयोग के गठन का प्रावधान किया गया। साइमन कमीशन की नियुक्ति इसी प्रावधान का नतीजा था।

1919 के अधिनियम का मूल्यांकन *(Evaluation of the Act, 1919)*

1919 ई. का भारत सरकार अधिनियम ब्रिटिश औपनिवेशिक हितों से परिचालित था। मांटेग्यू घोषणा के अनुसार इसका उद्देश्य स्वशासी संस्थाओं का विकास करना था, किंतु व्यवहार में इसकी अवहेलना की गई। स्वशासन को टालने के उद्देश्य से प्रांतों में द्वैध-शासन लाया गया। अपनी घोषणाओं के विपरीत पृथक निर्वाचन की अवधारणा को न केवल बनाए रखा गया, बल्कि उसका विस्तार भी किया गया। भारतीय राजनीति का प्रांतीयकरण तथा संप्रदायवाद को प्रोत्साहन देना इस अधिनियम के उद्देश्य थे। अतः यह कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि 1919 ई. के भारत सरकार अधिनियम में भारतीय जनाकांक्षाओं की अवहेलना कर अंग्रेजों के हितों का ही संवर्धन किया गया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस (1885-1950)

क्र.सं.	वर्ष	स्थल	अध्यक्ष	प्रमुख माँगें/घटनायें
1.	1885	बंबई	व्योमेश चन्द्र बनर्जी	भारतीय परिषद् को बंद करने, भारतीय सिविल सेवा की परीक्षा भारत में भी लिया जाना।
2.	1886	कलकत्ता	दादाभाई नौरोजी	न्यायपालिका तथा कार्यपालिका को पृथक करने की माँग।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

क्र.सं.	वर्ष	स्थल	अध्यक्ष	प्रमुख माँगें/घटनायें
3.	1887	मद्रास	बदरुद्दीन तैय्यबजी	शस्त्र अधिनियम तथा कानून में संशोधन, सैनिक अधिकारियों की शिक्षा के लिए सैनिक कालेजों की स्थापना।
4.	1888	इलाहाबाद	जॉर्ज यूले	औद्योगिक तथा तकनीकी शिक्षा विकास।
5.	1889	बंबई	विलियम वेडरबर्न	लगान नीति में सुधार की माँग।
6.	1890	कलकत्ता	फिरोजशाह मेहता	सरकार ने कांग्रेस में किसी भी सरकारी अधिकारी के भाग लेने पर रोक लगा दी।
7.	1891	नागपुर	आनंद चारलू	—
8.	1892	इलाहाबाद	व्योमेश चन्द्र बनर्जी	मुद्रा नीति में सुधार की माँग।
9.	1893	लाहौर	दादाभाई नौरोजी	सूती कपड़ों पर से उत्पादन कर हटाने, स्वतंत्र सिविल मेडिकल सर्विस संगठन बनाने, बेगार प्रथा को रोकने की माँग।
10.	1894	इलाहाबाद	अल्फ्रेड वेब	उपनिवेशों में भारतीयों की स्थिति में सुधार करने, सूती वस्त्र उद्योग के हितों की रक्षा करने, पुलिस अधिनियम की कुछ धाराओं को हटाने, वकीलों को न्याय विभाग में शीर्ष पदों पर नियुक्त करने की माँग। कांग्रेस का संविधान बनाया गया।
11.	1895	पूना	सुरेन्द्रनाथ बनर्जी	किसानों की ऋण समस्या का निराकरण, रेल यात्रियों को और अधिक सुविधायें देने की माँग।
12.	1896	कलकत्ता	रहतुल्ला सयानी	प्रांतों का आर्थिक स्वतंत्रता देने, शिक्षा विभाग में भारतीयों को अधिक स्थान देने की माँग।
13.	1897	अमरावती (महाराष्ट्र)	शंकरन नायर	बंगाल (1818), मद्रास (1817) तथा बंबई (1827) के अधिनियम वापस लेने की माँग, 1897 के राष्ट्रद्रोह एक्ट का भी विरोध।
14.	1898	मद्रास	आनंद मोहन बोस	वन्य कानून को किसानों के हितों के लिए इस्तेमाल की माँग।
15.	1899	लखनऊ	रमेशचन्द्र दत्त	कांग्रेस के शिक्षा तथा उद्योग-धंधों संबंधी समस्याओं पर विचार किया।
16.	1900	लाहौर	नारायण गणेश चंद्रावरकर	सरकारी विभागों के शीर्ष पदों पर भारतीयों को नियुक्त न करने की आलोचना।
17.	1901	कलकत्ता	दीनशा वाचा	चाय बागानों में प्रचलित प्रतिज्ञाबद्ध कुली प्रथा और दक्षिण अफ्रीका में भारतीयों पर हो रहे अन्याय की ओर ध्यान आकृष्ट किया गया।
18.	1902	अहमदाबाद	सुरेन्द्रनाथ बनर्जी	भारत पर पड़ने वाले सैनिक खर्चे का विरोध किया गया।
19.	1903	मद्रास	लालमोहन घोष	भारतीय विश्वविद्यालय एक्ट तथा सरकारी गोपनीयता कानून को वापस लिए जाने की माँग।
20.	1904	बंबई	हेनरी कॉटन	लॉर्ड कर्जन की नीतियों का विरोध किया गया।
21.	1905	बनारस	गोपालकृष्ण गोखले	स्वराज के विषय में पहली बार चर्चा, गोखले जो स्वयं एक उदारवादी थे, ने आक्रमण आंदोलन की बात की। कांग्रेस ने एक स्थायी संस्था के रूप में कार्य प्रारंभ किया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

क्र.सं.	वर्ष	स्थल	अध्यक्ष	प्रमुख माँगें/घटनायें
22.	1906	कलकत्ता (वरीसाल)	दादाभाई नौरोजी	'स्वराज' की स्पष्ट शब्दों में माँग, स्वदेशी के बहिष्कार आंदोलन की घोषणा, राष्ट्रीय शिक्षा पर विचार, पुलिस ने इस अधिवेशन के दौरान सदस्यों पर लाठी चार्ज किया, नरमपंथी व गरमपंथी दलों में मतभेद गहरा।
23.	1907	सूरत	रासबिहारी घोष	कांग्रेस का विभाजन।
24.	1908	मद्रास	रासबिहारी घोष	फौजदारी कानून में संशोधन, न्यूज पेपर एक्ट वापस लेने की माँग।
25.	1909	लाहौर	मदनमोहन मालवीय	मुफ्त व आवश्यक प्राइमरी शिक्षा की माँग।
26.	1910	इलाहाबाद	विलियम वेडरबर्न	भारतीय प्रेस एक्ट व देशद्रोही सभा अधिनियम (Seditious Meetings Act) वापस लेने की माँग।
27.	1911	कलकत्ता	विशन नारायण धर	सरकार की कठोर नीतियों का विरोध।
28.	1912	बांकीपुर (पटना)	आर. एन. मधोलकर	—
29.	1913	कराची	नवाब सैयद मुहम्मद	—
30.	1914	मद्रास	भूपेन्द्रनाथ बसु	पहली बार कांग्रेस के किसी अधिवेशन में गवर्नर (लॉर्ड डेन्टलैण्ट) उपस्थिति हुए।
31.	1915	बंबई	सत्येन्द्र प्रसन्न सिन्हा	कांग्रेस तथा मुस्लिम लीग एक ही स्थान पर अपने अधिवेशन करने पर सहमत, वायसराय लॉर्ड विलिंग्डन इस अधिवेशन में शामिल।
32.	1916	लखनऊ	अंबिकाचरण मजूमदार	कांग्रेस का एकीकरण, लीग तथा कांग्रेस के मध्य लखनऊ समझौता, उत्तर प्रदेश के गवर्नर लॉर्ड मेस्टॉन अधिवेशन में शामिल।
33.	1917	कलकत्ता	एनी बेसेंट	पहली बार एक महिला कांग्रेस अध्यक्ष नियुक्त, कांग्रेस ने समाज सुधार को अपनी कार्यसूची में पहली बार शामिल किया।
34.	1918	दिल्ली	मदनमोहन मालवीय	—
35.	1919	अमृतसर	मोतीलाल नेहरू	कांग्रेस ने खिलाफत आंदोलन का समर्थन किया।
36.	1920	नागपुर	विजय राघवाचारी	कांग्रेस के संविधान में संशोधन, कांग्रेस कार्यकारी परिषद् की स्थापना, प्रांतीय कांग्रेस परिषदों का भाषाई आधार पर पुनर्गठन, कांग्रेस की सदस्यता शुल्क 25 पैसे कर दिया गया।
37.	1921	अहमदाबाद	हकीम अजमल खान	इस वर्ष चितरंजन दास को अध्यक्ष चुना गया था पर चूँकि वे जेल में थे, अतः हकीम अजमल खान ने अधिवेशन की अध्यक्षता की।
38.	1922	गया	चितरंजन दास	विधान परिषदों (काउंसिल) में शामिल होने के मुद्दे पर मतभेद।
39.	1923	काकीनाडा (बंगाल)	मौलाना मुहम्मद अली	कांग्रेस छुआछूत (Untouchability) की प्रथा समाप्त करने के लिए प्रतिबद्ध। अखिल भारतीय खादी की स्थापना।
40.	1924	बेलगाँव	महात्मा गांधी	'स्वराजवादी' तथा 'परिवर्तन-विरोधी' (नो-चेंजर्स) के बीच हुए समझौते का अनुमोदन, स्वराजवादी परिषदों में कांग्रेस के प्रतिनिधि, कांग्रेस कार्यकारिणी में स्वराजवादियों को बहुमत।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

क्र.सं.	वर्ष	स्थल	अध्यक्ष	प्रमुख माँगें/घटनायें
41.	1925	कानपुर	सरोजिनी नायडू	—
42.	1926	गुवाहाटी	श्रीनिवास आयंगर	कांग्रेस अधिवेशन उत्तर-पूर्वी प्रांतों में पहली बार।
43.	1927	मद्रास	एम. ए. अंसारी	पहली बार पूर्ण स्वराज की माँग की गई, गांधी के विरोध पर वापस लिया गया, साइमन कमीशन का विरोध, कांग्रेस 'उपनिवेशवाद' के विरुद्ध, अंतर्राष्ट्रीय लीग में शामिल।
44.	1928	कलकत्ता	मोतीलाल नेहरू	'पूर्ण स्वराज' तथा अधिशासी राज (Dominion Status) के समर्थकों के बीच मतभेद।
45.	1929	लाहौर	जवाहरलाल नेहरू	'पूर्ण स्वराज' की माँग का अनुमोदन; 26 जनवरी, 1930 को स्वतंत्रता दिवस मनाने की घोषणा।
46.	1930	.....	.....	कोई अधिवेशन नहीं (सरकार द्वारा कांग्रेस को अवैध घोषित कर दिए जाने की वजह से)।
47.	1931	कराची	वल्लभ भाई पटेल	गांधी-इरविन समझौते का अनुमोदन, मूल अधिकारों (Fundamental Rights) पर प्रस्ताव पारित, प्रमुख उद्योगों के राष्ट्रीयकरण की माँग, आर्थिक नीतियाँ बनाई गईं। मुफ्त शिक्षा, कानून की समानता, चुनावों में सार्वभौम वयस्क मताधिकार की माँग।
48.	1932	दिल्ली	सेठ रणछोड़ दास	—
49.	1933	कलकत्ता	नेल्ली सेनगुप्ता	नागरिक अवज्ञा आंदोलन अस्थायी रूप से स्थापित।
50.	1934	बंबई	राजेन्द्र प्रसाद	कांग्रेस संविधान में संशोधन, प्रांतीय कांग्रेस समितियों को भंग कर दिया गया– अल्पसंख्यकों को उच्च पदों पर शामिल होने में कठिनाई।
51.	1935	.....	.....	कोई अधिवेशन नहीं।
52.	1936	लखनऊ	जवाहरलाल नेहरू	जवाहरलाल नेहरू ने 'समाजवाद' के विचार को प्रश्रय दिया, मजदूर संघों तथा कृषक संगठनों को कांग्रेस से संबद्ध किया गया।
53.	1937	फैजपुर (बंगाल)	जवाहरलाल नेहरू	पहली बार कांग्रेस अधिवेशन का आयोजन किसी गाँव में हुआ।
54.	1938	हरिपुरा (गुजरात)	सुभाषचन्द्र बोस	आर्थिक नियोजन पर विचार : 'राष्ट्रीय योजना कमेटी' (पंडित नेहरू की अध्यक्षता में) की स्थापना, रियासती आंदोलनों को कांग्रेस का नैतिक समर्थन दिया गया।
55.	1939	त्रिपुरी (म०प्र०)	सुभाषचन्द्र बोस/राजेन्द्र प्रसाद	गांधी-सुभाष के बीच मतभेद, कांग्रेस ने देशी रियासतों में चल रहे स्वतंत्रता आंदोलन को पहली बार पूर्ण समर्थन दिया।
56.	1940	रामगढ़	मौलाना अबुल कलाम आजाद	गांधी को सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ करने की पूरी अनुमति दी गयी।
57.	1941		मौलाना अबुल कलाम आजाद	कोई अधिवेशन नहीं
58.	1942	बंबई	मौलाना अबुल कलाम आजाद	'भारत छोड़ो आंदोलन' प्रस्ताव का अनुमोदन।
59.	1943		मौलाना अबुल कलाम आजाद	कोई अधिवेशन नहीं।
60.	1944		मौलाना अबुल कलाम आजाद	कोई अधिवेशन नहीं।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

क्र.सं.	वर्ष	स्थल	अध्यक्ष	प्रमुख माँगें/घटनायें
61.	1945		मौलाना अबुल कलाम आजाद	—
62.	1946	मेरठ	जे. बी. कृपलानी/राजेन्द्र प्रसाद	—
63.	1947		जे. बी. कृपलानी	—
64.	1948	जयपुर	पट्टाभिसीतारमैया	—
65.	1949		पट्टाभिसीतारमैया	—
66.	1950	नासिक	पुरुषोत्तम दास टंडन	—

ब्रिटिश भारत में मजदूर आंदोलन *(Labour Movements in British India)*

उन्नीसवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में आधुनिक उद्योगों की स्थापना के साथ ही भारत में मजदूर संघों की गतिविधियाँ एवं उनके अस्तित्व की शुरुआत देखी गई। इस दिशा में सर्वप्रथम कदम था रेलवे का विकास, जो आधुनिक भारतीय कामगार वर्ग आंदोलन का अग्रदूत सिद्ध हुआ। औद्योगिक जीवन की कठिनाइयों को ख़त्म करने के लिए मजदूर संघवाद की प्रारंभिक अवस्था में श्रमिकों ने अपनी माँगें प्रस्तुत की थीं। श्रमिक आंदोलन की प्रथम अभिव्यक्ति 1877 ई. में, नागपुर स्थित एम्प्रेस मिल (Empress Mill) के कामगारों की वेतन दरों के विरोध में हड़ताल थी। इस शताब्दी के अंतिम दशक तक किसी भी व्यवस्थित मजदूर संघ का गठन नहीं हुआ था। भारतीय श्रमिकों की दशा का अध्ययन करने, उसमें सुधारात्मक कार्य करने तथा भारतीय कामगारों की दशा को सुधारने के उद्देश्य से 1875 ई. (जब कारखाना श्रमिकों की स्थितियों की जाँच के लिए प्रथम जाँच समिति नियुक्त की गई थी) से 1890 ई. तक (जब भारतीय श्रम आयोग की नियुक्ति की गई) की कालावधि में कई प्रयास किए गए थे।

बम्बई विधानसभा में श्रमिकों की कार्य अवधि के विषय में 1878 ई. में सोराबजी शापूर जी बंगाली ने एक विधेयक प्रस्तुत करने का प्रयास किया, लेकिन इसमें वे असफल रहे। श्रमिक नेता शशिपाद बनर्जी ने 1870 ई. में श्रमिकों में जागरूकता लाने हेतु मजदूरों का एक क्लब स्थापित किया और 'भारत श्रमजीवी' नामक पत्रिका का सम्पादन किया। 1890 ई. में एन. एम. लोखण्डे ने 'बॉम्बे मिल हैंड्स एसोसिएशन' की स्थापना की, जिसे भारत में गठित प्रथम श्रमिक संघ कहा जाता है। 1897 ई. में कोष, स्थायी सदस्यता तथा स्पष्ट नियमों के साथ पहली बार एक मजदूर संगठन 'अमलगमेटिड सोसायटी ऑफ रेलवे सर्वेन्ट्स ऑफ इण्डिया एण्ड बर्मा' का गठन हुआ। मजदूर वर्ग की प्रथम संगठित हड़ताल ब्रिटिश स्वामित्व वाली रेलवे में हुई, जब 1899 ई. में ग्रेट इण्डियन पेनिनसुलर में कार्यरत श्रमिकों ने कम मजदूरी और अधिक कार्य अवधि के कारण हड़ताल कर दी। इसी दौरान भारत में अनेक मजदूर संगठन अस्तित्व में आये। इन श्रमिक संगठनों में कामगार हितवर्धक सभा, 1909 ई.; सामाजिक सेवा संघ, 1911 ई.; कलकत्ता मुद्रक संघ, 1905 ई.; भारतीय रेल कर्मचारी एकीकृत सोसायटी, 1897 ई.; प्रिन्टर्स यूनियन, 1905 ई.; पोस्टल यूनियन, 1907 ई. आदि संगठन प्रमुख थे।

1908 ई. में राष्ट्रवादी नेता बाल गंगाधर तिलक को 8 वर्ष का कारावास होने पर बम्बई के कपड़ा मजदूर लगभग एक सप्ताह तक हड़ताल पर रहे। यह मजदूरों की पहली राजनीतिक हड़ताल थी। श्रमिक आंदोलन के आरम्भिक दिनों में श्रमिकों की जिस समस्या ने लोगों का ध्यान खींचा, वह करारबद्ध श्रम (Indentured Labour) की व्यवस्था थी। यह उन भारतीयों की कार्य तथा जीवन संबंधी समस्याओं को संबोधित करता था जो बहुत बड़ी संख्या में ब्रिटिश उपनिवेशों तथा अन्य देशों में भेजे जाते थे। सामान्यत: 1830 ई. से ही भारतीय करारबद्ध श्रमिकों को देश से बाहर भेजा जाने लगा और 1922 ई. तक इस प्रथा के समाप्त हो जाने तक यह स्थिति बनी रही। दक्षिण अफ्रीका में महात्मा गांधी ने करारबद्ध श्रमिकों के बीच श्रमिक क्षेत्र में अपने कार्य की शुरुआत की थी। आगे चलकर उन्होंने अहमदाबाद के कपड़ा मिल श्रमिक संघ का गठन किया और उसके विकास में सहायक रहे।

श्रमिक संघों के गठन के कारण *(Why Trade Unions Came into Being)*

श्रमिक संघों के गठन संबंधी प्रमुख कारणों में सर्वोपरि थे–ग्रामीण गरीबी तथा ऋणग्रस्तता। गरीबी के कारण शहर आने वाले श्रमिक उन बिचौलियों की दया पर निर्भर होते थे, जो उन्हें नौकरी दिलाने में मदद करते थे। ये श्रमिक देश के विभिन्न भागों से आते थे और धर्म, जाति, सम्प्रदाय एवं भाषा भेद के कारणों से एक-दूसरे के स्वभाव से परिचित नहीं होते थे। इस परिवेश में रहने के कारण श्रमिकों को एकता एवं संगठन में निहित शक्ति का ज्ञान प्राप्त करने में काफी समय लगा। इसी बीच प्रथम विश्व युद्ध तथा मन्दी के कारण आर्थिक संकट का भार श्रमिकों के कंधों पर आ पड़ा। भारत में यह स्थिति संगठित मजदूर आंदोलन के विकास के लिए एकदम उपयुक्त थी।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

शुरुआती मजदूर संघ आंदोलन *(Early Trade Union Movements)*

भारत का पहला आधुनिक मजदूर संगठन था–बी.पी. वाडिया द्वारा गठित मद्रास मजदूर संघ, 1918 ई.। 1919 ई. में अन्तर्राष्ट्रीय श्रम संगठन की स्थापना तथा उसमें भारत की सदस्यता का परिणाम ऑल इंडिया ट्रेड यूनियन कांग्रेस (AITUC) की स्थापना के रूप में सामने आया। एटक (AITUC) का पहला सम्मेलन 1920 ई. में बम्बई में आयोजित किया गया जिसकी अध्यक्षता तत्कालीन कांग्रेस अध्यक्ष लाला लाजपत राय ने की। 1920 ई. तथा 1922 ई. के मध्य यह संगठन कांग्रेस से सम्बद्ध था। कांग्रेस के गया अधिवेशन (1922 ई.) में श्रमिकों को संगठित करने के लिए कांग्रेस ने सहयोग करने का निर्णय लिया। कालांतर में लाला लाजपत राय, सी. आर. दास, जी. ए. सेन गुप्त, सी. एफ. एन्ड्रूज, सुभाषचंद्र बोस तथा जवाहरलाल नेहरू जैसे नेताओं ने एटक की अध्यक्षता की। 1926 ई. में भारतीय मजदूर संघ अधिनियम पारित हुआ, जिससे मजदूर संघों को कानूनी दर्जा प्रदान किया गया। श्रमिक संघों में वामपंथी विचारधारा के प्रचार-प्रसार के कारण 1929 ई. में एटक का विभाजन हो गया। 1929 ई. में एटक से अलग हुए साम्यवादी नेता देशपाण्डे ने लाल ट्रेड यूनियन का गठन किया।

1934 ई. में कांग्रेस के अन्दर गठित समाजवादी कांग्रेस दल के प्रयासों से विभाजित एटक में एक बार फिर से एकता कायम हो गयी। कांग्रेस में ही वामपंथी विचारधारा वाले नेता जैसे श्रीपाद अमृत डांगे, मुजफ्फर अहमद, पूरणचन्द्र जोशी तथा सोहन सिंह जोश ने 'कामगार किसान पार्टी' की स्थापना की। केन्द्रीय मजदूर संघ के संगठनों को एक करने के परिणामस्वरूप 1933 ई. में राष्ट्रीय मजदूर संघ परिसंघ (National Trade Union Federation–NTUF) की स्थापना हुई। 1938 ई. में एटक (AITUC) तथा NTUF की नागपुर में एक संयुक्त बैठक हुई और पहले विभाजन के 11 वर्ष बाद अर्थात् 1940 ई. में दोनों में एकता स्थापित हो गयी। बाद में NTUF का विघटन हो गया तथा उसके मजदूर संघ एटक (AITUC) से जुड़ गये।

श्रमिक आंदोलन 1930-36 ई. के बीच कमजोर पड़ गया। इसका परिणाम यह हुआ कि 1932-34 ई. में शुरू हुए द्वितीय सविनय अवज्ञा आंदोलन में मजदूरों की भागीदारी कम रही। 1935 ई. के अधिनियम के बाद लोकप्रिय मंत्रिमंडलों के सत्ता में आने से मजदूर संघों की संख्या में अत्यधिक वृद्धि हुई। आमतौर पर कांग्रेस मंत्रिमंडल श्रमिकों की माँगों के प्रति सहानुभूति रखते थे। उसके कार्यकाल में कांग्रेस मंत्रिमंडलों द्वारा 1938 ई. के बम्बई औद्योगिक विवाद अधिनियम तथा 1939 ई. के दुकान और संस्थान अधिनियम जैसे विभिन्न श्रम अधिनियम पारित किए गए।

द्वितीय विश्वयुद्ध का श्रमिक संघ आंदोलन पर नकारात्मक प्रभाव पड़ा। युद्ध के परिणामस्वरूप पहले तो मूल्यों में वृद्धि हुई और जरूरी वस्तुओं का अभाव हो गया। दूसरे, युद्ध की माँग को पूरा करने के लिए औद्योगिक क्रियाकलापों में अत्यधिक वृद्धि हुई। कांग्रेस मंत्रिमंडल पहले ही त्याग-पत्र दे चुके थे। श्रमिकों ने महँगाई भत्ता तथा बोनस की माँग की परंतु सरकार ने भारत सुरक्षा अधिनियम के तहत सभी हड़तालों पर प्रतिबन्ध लगा दिया। तथापि, युद्ध से उत्पन्न स्थितियाँ श्रमिक संघों के विकास में सहायक हुई। लाहौर में नवम्बर 1941 में श्रमिक संघों के बहुत बड़े सम्मेलन का आयोजन किया गया। इसमें विशाल संख्या में श्रमिक संघों ने भाग लिया। इसी सम्मेलन में भारतीय श्रमिक परिसंघ (Indian Federation of Labour) नाम से नए केन्द्रीय मजदूर संघ के गठन का निर्णय लिया गया। लेकिन द्वितीय विश्वयुद्ध के प्रारम्भ से ही भारत की स्वतंत्रताप्राप्ति तक श्रमिक संघों की गतिविधियाँ बहुत धीमी रहीं। 1940 ई. के बाद से ही साम्यवादी युद्ध प्रयासों का समर्थन कर रहे थे तथा वे हड़ताल के समर्थन में नहीं थे। इसके अलावा, कांग्रेस के श्रमिक संघों के अधिकतर नेता 1942 ई. के 'भारत छोड़ो आंदोलन' में गिरफ्तार किए जा चुके थे।

स्वतंत्रताप्राप्ति से पूर्व श्रमिक संघ आंदोलन के इतिहास में युगांतरकारी घटना मई 1944 में भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन की स्थापना थी। इसका लक्ष्य श्रमिक आंदोलन को गांधीवादी आदर्शों पर चलाना था। इस संगठन के गठन का प्रमुख कारण 1938 ई. में नागपुर एकता के बाद साम्यवादियों द्वारा एटक (AITUC) पर अपना प्रभुत्व जमा लेना था। राष्ट्रवादियों ने सरदार बल्लभभाई पटेल के नेतृत्व में मई 1947 में एटक (AITUC) से अलग होकर भारतीय राष्ट्रीय ट्रेड यूनियन बना ली।

देश में 1918 ई. में प्रथम श्रमिक संघ के गठन के साथ श्रमिक आंदोलनों की विकास-यात्रा आरंभ हुई। इसके विकास का अनुमान इस बात से लगाया जा सकता है कि भारत जब आजाद हुआ तब इन संघों की संख्या 1925 तक पहुँच गयी थी। फिर भी, स्वतंत्रताप्राप्ति से पूर्व भारतीय श्रमिक संघ आंदोलन में अधिकांश औद्योगिक श्रमिकों की निरक्षरता, बाह्य नेतृत्व पर उनकी निर्भरता तथा राजनीतिक चेतना का अभाव आदि प्रमुख कारण थे, जिनके परिणामस्वरूप यह आंदोलन कई धाराओं में विभक्त हो गया तथा इसे आपसी फूट का शिकार होना पड़ा।

वामपंथी विचारधारा का विकास *(Development of Communist Ideology)*

वामपंथी (Leftist) एवं दक्षिणपंथी (Rightist) शब्द फ्रांसीसी क्रांति की देन हैं। राजा के समर्थक दक्षिणपंथी तथा राजा के विरोधी वामपंथी कहलाए। कालांतर में समाजवादी (Socialist) तथा साम्यवादी (Communist) विचारधाराओं के संदर्भ में 'वामपंथी' शब्द का प्रयोग किया जाने लगा।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

प्राचीन भारतीय परंपरा में चोलकाल के अंतर्गत भी दो वर्ग थे–वैलंगै तथा इड़गै। वैलंगे राजा के समर्थकों का वर्ग था जबकि इड़गै राजा के विरोधियों का प्रतिनिधित्व करते थे। अठारहवी शताब्दी के अंतिम दशक में इंग्लैण्ड में हुई औद्योगिक क्रांति के पश्चात् समाज में दो नए वर्गों पूंजीपति (Capitalist) एवं मजदूर वर्ग (Working Class) का उदय हुआ। धीरे-धीरे इन मजदूरों की दशा बहुत खराब होने लगी। कार्ल मार्क्स एवं फैडरिक एंजिल्स द्वारा सन् 1848 ई. में प्रसिद्ध पुस्तक 'कम्युनिस्ट मैनीफेस्टो' लिखी गई, जिसमें सर्वप्रथम 'साम्यवाद' शब्द का प्रयोग हुआ।

भारत में प्रथम विश्व युद्ध के पश्चात् साम्यवादी विचारधारा का प्रचलन हुआ। इस विचारधारा का प्रसार सबसे अधिक औद्योगिक नगरों, जैसे बंबई, कलकत्ता, मद्रास, लाहौर में हुआ। लाहौर में गुलाम हुसैन के संपादन में 'इंकलाब', बम्बई में एस. ए. डांगे के संपादन में 'सोशलिस्ट', बंगाल में मुजफ्फर अहमद के संपादन में 'नवयुग' ने वामपंथी विचारा धारा का प्रतिनिधित्व किया तथा मद्रास में सिंगारवेलु चेट्टियार ने कृषकों तथा मजदूरों को समर्थन देकर साम्यवादी विचारधारा के प्रचार-प्रसार में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई।

भारत में वामपंथी आंदोलन का दो विचारधाराओं– साम्यवाद एवं कांग्रेस सोशलिस्ट दल के रूप में विकास हुआ। कांग्रेस सोशलिस्ट दल को भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था जबकि साम्यवाद को रूस के साम्यवादी संगठन 'कमिन्टर्न' का समर्थन प्राप्त था।

भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का उदय *(Emergence of Communist Party of India)*

अक्टूबर 1920 में ताशकंद (तत्कालीन सोवियत रूस) में एम. एन. राय एवं उनके कुछ सहयोगियों ने मिलकर साम्यवादी दल (Communist Party) के गठन की घोषणा की। एम. एन. राय कम्युनिस्ट इंटरनेशनल की सदस्यता पाने वाले प्रथम भारतीय थे। सन् 1925 ई. में कानपुर में भारतीय कम्युनिस्ट पार्टी का गठन हुआ जिसके महामंत्री का पदभार एस. पी. घाटे ने संभाला। साम्यवादी दल के चर्चित होने का मुख्य कारण पेशावर षड्यंत्र केस (1922-24 ई.), कानपुर षड्यंत्र मामला (1924 ई.) तथा मेरठ षड्यंत्र केस (1929-33 ई.) में इस दल से संबंधित व्यक्तियों की संलिप्तता थी। इन मुकदमों से निपटने के लिए कांग्रेस ने केन्द्रीय सुरक्षा समिति का गठन किया। पं. जवाहरलाल नेहरू, कैलाशनाथ काटजू एवं डॉ. एफ. एच. अंसारी ने इन मुकदमों की सुनवाई के दौरान प्रतिवादियों की ओर से पैरवी की। 1934 ई. तक साम्यवादी दल के आंदोलनों ने भारत में काफी प्रसिद्धि प्राप्त कर ली थी, जिसके परिणामस्वरूप सन् 1934 ई. में ब्रिटिश सरकार ने साम्यवादी दल पर प्रतिबंध लगा दिया।

कांग्रेस समाजवादी दल का उदय *(Emergence of Congress Socialist Party)*

सन् 1934 में आचार्य नरेन्द्र देव, जय प्रकाश नारायण, मीनू मसानी एवं अशोक मेहता के सम्मिलित प्रयासों के फलस्वरूप कांग्रेस समाजवादी दल (Congress Socialist Party) की स्थापना हुई। इसका प्रथम सम्मेलन सन् 1934 ई. में पटना में हुआ। कांग्रेस की नीतियों में समाजवादी विचारधारा को सम्मिलित करना तथा भारत के आर्थिक विकास की प्रक्रिया के नियंत्रण एवं नियमन हेतु राज्य की सर्वोच्चता को स्वीकार करना समाजवादी दल की स्थापना का उद्देश्य था। साथ ही, राजाओं और जमींदारों की प्रथा का उन्मूलन बिना मुआवजे के करना, इसके अन्य उद्देश्यों में शामिल था।

जुलाई 1931 में बिहार में समाजवादी दल की स्थापना जयप्रकाश नारायण, फूलन प्रसाद वर्मा तथा कुछ अन्य व्यक्तियों ने की। पंजाब में भी सन् 1933 ई. में एक समाजवादी दल की स्थापना की गई। इसी दौरान आचार्य नरेन्द्र देव की 'समाजवाद एवं राष्ट्रीय आंदोलन' तथा जयप्रकाश नारायण की 'समाजवाद ही क्यों' नामक पुस्तकें प्रकाशित हुईं।

सुभाषचंद्र बोस द्वारा 1939 ई. में गठित फॉरवर्ड ब्लॉक अन्य वामपंथी संस्थाओं में प्रमुख है। सन् 1940 ई. में क्रांतिकारी समाजवादी दल का गठन हुआ, जिसका उद्देश्य अंग्रेजों को शक्ति द्वारा भारत से निकाल फेंकना था तथा भारत में समाजवाद की स्थापना करना था। एन. दत्त मजूमदार द्वारा सन् 1939 ई. में बोल्शेविक दल और सौम्येन्द्रनाथ टेगौर द्वारा सन् 1942 ई. में क्रांतिकारी साम्यवादी दल (Revolutionary Communist Party) का गठन किया गया। सन् 1941 में बोल्शेविक लेनिनिस्ट दल की स्थापना का श्रेय क्रांतिकारी नेताओं अजीय राय एवं इन्द्रसेन को जाता है। 'अतिवादी लोकतंत्र दल' का गठन भारतीय साम्यवादी दल के जनक एम. एन. राय द्वारा 1940 ई. में किया गया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इकाई-6

गांधी युग : 1919-1948 ई०
(Gandhian Era : 1919-1948 AD)

**** (इस खंड का उल्लेख मुख्य परीक्षा के प्रश्नपत्र-1 के टॉपिक 2 में है। दृष्टि द्वारा वर्गीकृत पाठ्यक्रम के 15 खंडों में इसका संबंध भाग 2 से है।)*

मोहनदास करमचंद गांधी (1869-1948 ई.) 9 जनवरी, 1915 को दक्षिण अफ्रीका से भारत वापस आए। वे 1893 ई. में एक भारतीय मुस्लिम व्यापारी दादा अब्दुल्ला का मुकदमा लड़ने दक्षिण अफ्रीका गए थे। वहाँ पर उन्होंने भारतीयों के साथ हो रहे भेदभावपूर्ण व्यवहार को देखा। एक बार जब वे दक्षिण अफ्रीका में ट्रेन से यात्रा कर रहे थे तो उसी दौरान मेरित्जबर्ग नामक स्टेशन पर एक अंग्रेज ने धक्का देकर उन्हें ट्रेन से बाहर निकाल दिया। इस घटना से गांधीजी को एक नई दिशा मिली। अपने दक्षिण अफ्रीका प्रवास के दौरान ही गांधीजी ने भारतीयों के प्रति अपनायी जाने वाली रंगभेद की नीतियों के विरुद्ध संघर्ष प्रारंभ किया। अपने आंदोलन को संगठनात्मक रूप प्रदान करने तथा दिशा देने हेतु उन्होंने कई संस्थाओं, जैसे– नटाल इंडियन कांग्रेस, टॉलस्टाय फार्म (जर्मन शिल्पकार मित्र कालेन बाग की सहायता से) तथा फीनिक्स आश्रम की स्थापना की। दक्षिण अफ्रीका में ही गांधीजी ने 'इंडियन ओपीनियन' नामक समाचार-पत्र का प्रकाशन भी किया। गांधीजी द्वारा दक्षिण अफ्रीका में सफलतापूर्वक आंदोलन का संचालन किए जाने के परिणामस्वरूप वहाँ की सरकार द्वारा सन् 1914 ई. तक अधिकांश भेदभावपूर्ण काले कानूनों को रद्द कर दिया गया। यह गांधीजी की प्रथम सफलता थी जो उन्होंने अहिंसा के मार्ग द्वारा प्राप्त की।

1915 ई. में भारत आने के पश्चात् ही गांधीजी का भारतीय राजनीति में पदार्पण हुआ। गांधीजी ने गोपालकृष्ण गोखले को अपना राजनीतिक गुरु माना। इस समय प्रथम विश्वयुद्ध चल रहा था तथा गांधीजी ने इस युद्ध में अंग्रेजों का समर्थन किया और भारतीयों को सेना में शामिल होने के लिए प्रोत्साहित किया। इसी कारण से उन्हें 'भर्ती करने वाला सार्जेंट' कहा जाने लगा। ब्रिटिश सरकार ने उन्हें केसर-ए-हिंद की उपाधि से विभूषित किया। गांधीजी का मानना था कि प्रथम विश्व युद्ध में सहयोग के बदले भारतीयों को स्वराज की प्राप्ति होगी। गांधीजी ने 1915 ई. में अहमदाबाद में साबरमती आश्रम की स्थापना की। इसका उद्देश्य रचनात्मक कार्यों को प्रोत्साहन देना था। गांधीजी का भारतीय राजनीति में एक प्रभावशाली नेता के रूप में उदय उत्तर बिहार के चंपारण आंदोलन, गुजरात के खेड़ा कृषक आंदोलन तथा अहमदाबाद के श्रमिक विवाद का सफलतापूर्वक नेतृत्व करने के पश्चात् हुआ। जहाँ चंपारण और खेड़ा आंदोलन कृषकों की समस्याओं से सम्बन्धित थे, तो वहीं अहमदाबाद के श्रमिकों के विवाद की पृष्ठभूमि में कॉटन टेक्सटाइल मिल-मालिक और मजदूरों के बीच मजदूरी बढ़ाने तथा प्लेग बोनस दिए जाने से संबंधित विवाद था। अहमदाबाद में प्लेग की समाप्ति के पश्चात् मिल-मालिक बोनस को समाप्त करना चाहते थे। मिल-मालिकों ने केवल 20% बोनस को स्वीकार किया और धमकी दी कि जो कर्मचारी यह बोनस नहीं स्वीकार करेगा उसे नौकरी से निकाल दिया जाएगा। गांधीजी 35% बोनस दिए जाने की मजदूरों की माँग का समर्थन करते हुए स्वयं हड़ताल पर बैठ गए। इस पूरे प्रकरण पर न्यायाधिकरण ने भी मजदूरों की माँग को सही ठहराते हुए 35% बोनस दिए जाने का आदेश दिया। इन मिल मालिकों में से एक गांधीजी के मित्र अम्बालाल साराभाई भी थे, जिन्होंने साबरमती आश्रम के निर्माण हेतु बहुत अधिक मात्रा में धन दान दिया था। अम्बालाल साराभाई की बहन अनुसुईया भी अहमदाबाद मजदूर आंदोलन में गांधीजी के साथ थीं।

सत्याग्रह के आरंभिक प्रयोगों की सफलता ने गांधीजी को जनसाधारण के समीप ला खड़ा कर दिया। गांधीजी के आदर्शों, दार्शनिक चिंतन, विचारधारा और जीवन-पद्धति ने उन्हें साधारण जनता के जीवन के साथ एकीकृत कर दिया। वे गरीब, राष्ट्रवादी एवं विद्रोही भारत के प्रतीक बन गये। हिन्दू-मुस्लिम एकता, स्त्रियों की सामाजिक स्थिति को सुधारने तथा छुआछूत के विरुद्ध कार्य करना उनके अन्य प्रमुख लक्ष्यों में सम्मिलित थे। 1919 ई. के जलियाँवाला बाग हत्याकाण्ड ने ब्रिटिश सरकार के प्रति गांधीजी के दृष्टिकोण को परिवर्तित कर दिया।

रौलट एक्ट, 1919 *(Rowlatt Act, 1919)*

अंग्रेजी शासन के विरुद्ध पनप रहे असंतोष तथा बढ़ती हुई क्रांतिकारी गतिविधियों से प्रभावशाली ढंग से निपटने हेतु लॉर्ड चेम्सफोर्ड द्वारा किंग्स न्यायपीठ (King's Bench) के न्यायाधीश सिडनी रौलट की अध्यक्षता में एक समिति का गठन किया गया। इस समिति का कार्य भारत में क्रांतिकारी गतिविधियों के स्वरूप और प्रसार की जाँच करना तथा आवश्यक हो तो उनसे प्रभावशाली ढंग से निपटने के लिए विधेयक प्रस्तावित करना था। इसी समिति की सिफारिशों के आधार पर केन्द्रीय विधान परिषद् में दो विधेयक प्रस्तुत किए गए। भारतीय सदस्यों के तीव्र विरोध के परिणामस्वरूप प्रथम विधेयक को निरस्त कर दिया गया, किंतु द्वितीय विधेयक

Copyright – Drishti The Vision Foundation

जिसका नाम 'क्रांतिकारी एवं अराजकतावादी अधिनियम' था, मार्च 1919 में पारित कर दिया गया। इस रौलेट अधिनियम (Rowlatt Act) के द्वारा ब्रिटिश सरकार किसी को भी जब तक चाहे बिना मुकदमा चलाये जेल में बंद रख सकती थी। इसलिए इसे बिना वकील, बिना अपील, बिना दलील वाला कानून भी कहा गया।

रौलट विधेयक पेश किए जाने के साथ ही गांधीजी ने अपने सत्याग्रह अभियान को संगठित करने के लिए एक सत्याग्रह सभा की स्थापना की जिसकी अध्यक्षता स्वयं गांधीजी द्वारा की गई। इस सभा के अन्य सदस्यों में जमनालाल दास, बी. जी. हार्नीमन, शंकरलाल बैंकर तथा उमर सोमानी के नाम उल्लेखनीय हैं। गांधीजी ने कहा कि "यह कानून बिलकुल अनुचित, स्वतन्त्रता-विरोधी तथा व्यक्ति के मूल अधिकारों की हत्या करने वाला है।"

रौलट कानून के विरोध में हुए सत्याग्रह के दौरान सर्वप्रथम स्वयंसेवकों द्वारा कानून को औपचारिक चुनौती देते हुए गिरफ्तारियाँ दी गई तथा द्वितीय चरण में 6 अप्रैल, 1919 को देशव्यापी हड़ताल का आयोजन किया गया। इसके उपरांत बंबई, अहमदाबाद तथा अन्य नगरों में सार्वजनिक विरोध तथा हिंसा के मार्ग को अपनाया गया। इस आंदोलन के दौरान गांधीजी की गिरफ्तारी ने आग में घी का काम किया। गांधीजी को 9 अप्रैल को दिल्ली प्रवेश के प्रयास में गिरफ्तार कर लिया गया। बाद में बढ़ते जनाक्रोश के चलते उन्हें बंबई ले जाकर रिहा कर दिया गया। इस रौलेट एक्ट विरोधी सत्याग्रह के परिणामस्वरूप कांग्रेस अब राष्ट्रीय संस्था में परिवर्तित हो गई तथा गांधीजी ने नयी विचारधारा व नई रणनीति से इसका नेतृत्व किया।

जलियाँवाला बाग हत्याकांड : 13 अप्रैल, 1919 *(Jallianwala Bagh Massacre : 13 April, 1919)*

जलियाँवाला बाग हत्याकांड का सम्बन्ध रौलेट एक्ट के विरोध में हुए आंदोलन से था। तत्कालीन पंजाब क्रांतिकारी गतिविधियों का एक प्रमुख केन्द्र था। इसके साथ ही युद्धकालीन मंदी, सेना में जबरन भर्ती जैसी नीतियों के कारण वहाँ की जनता में ब्रिटिश शासन के प्रति विरोध का भाव पनप रहा था। रौलट सत्याग्रह के दौरान पंजाब के विभिन्न भागों में हड़तालें तथा हिंसक घटनाएँ हुई। इस आक्रोश का दमन करने के लिए अंग्रेजी सरकार ने क्रूर कार्रवाइयों को अंजाम दिया। तत्कालीन पंजाब का लेफ्टिनेंट गवर्नर माइकल ओ. डायर एक अत्याचारी और कुख्यात प्रशासक के रूप में प्रसिद्ध था। 9 अप्रैल, 1919 को उसने पंजाब के दो स्थानीय नेताओं डॉ. सैफुद्दीन किचलू तथा डॉ. सत्यपाल की गिरफ्तारी के आदेश जारी कर दिए। इन दोनों नेताओं का सम्बन्ध दिसंबर, 1919 में होने वाले भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के वार्षिक अधिवेशन की स्वागत समिति से था। इन दोनों नेताओं की गिरफ्तारी और ब्रिटिश सरकार की क्रूर नीतियों का विरोध करने हेतु 13 अप्रैल, 1919 (बैसाखी के दिन) को एक शांतिपूर्ण सार्वजनिक सभा का आयोजन अमृतसर के जलियाँवाला बाग में किया गया। जनरल डायर ने बिना किसी पूर्व सूचना या चेतावनी दिए ही निहत्थी भीड़ पर गोली चलवा दी, जिसमें करीब 1000 लोग मारे गए। सरकारी रिपोर्टानुसार 379 व्यक्ति मारे गए और करीब 1200 व्यक्ति घायल हुए। इस नरसंहार के पश्चात् पंजाब में मार्शल लॉ लगा दिया गया।

जलियाँवाला बाग नरसंहार के विरोध में गुरुदेव रवीन्द्रनाथ टैगोर ने ब्रिटिश सरकार को नाइटहुड (Knighthood) की उपाधि वापस कर दी तथा कांग्रेस के भूतपूर्व अध्यक्ष सर शंकरन नायर द्वारा वायसराय की कार्यकारिणी परिषद से त्याग-पत्र दे दिया गया। इस हत्याकांड की जाँच हेतु लॉर्ड हंटर की अध्यक्षता में एक कमेटी (हंटर कमेटी) गठित की गयी। इस कमेटी की रिपोर्ट के अनुसार- "तत्कालीन परिस्थितियों में अमृतसर में मार्शल लॉ लगाना एवं अनियंत्रित भीड़ पर गोली चलाना आवश्यक था, लेकिन जनरल डायर ने अपने कर्त्तव्य का निर्वहन भलीभांति नहीं किया तथा भीड़ पर आवश्यकता से अधिक बल का प्रयोग किया। फिर भी उसने ईमानदारी से जो उचित समझा वही किया।" हत्याकांड के दोषी लोगों को बचाने के लिए सरकार ने हंटर कमीशन की रिपोर्ट आने से पहले ही इण्डेम्निटी बिल पारित कर दिया था। जनरल डायर को सजा के रूप में नौकरी से बर्खास्त कर इंग्लैण्ड भेज दिया गया, जहाँ ब्रिटेन की संसद में उसकी प्रशंसा में भाषण दिए गए तथा उसे सम्मानपूर्वक सोर्ड ऑफ ऑनर (Sword of Honour) की उपाधि से विभूषित किया गया।

जलियाँवाला बाग हत्याकांड की जाँच हेतु कांग्रेस द्वारा भी एक जाँच समिति गठित की गई, जिसकी अध्यक्षता मदनमोहन मालवीय द्वारा की गई। कांग्रेस ने हंटर कमीशन की रिपोर्ट को सरकार द्वारा की गई 'निर्लज्ज लीपापोती' (Shameless Cover-up) की संज्ञा दी। इस समिति के अन्य सदस्यों में महात्मा गांधी, सी. आर. दास, तैयब्बजी तथा जवाहरलाल नेहरू शामिल थे। कांग्रेस ने अपनी रिपोर्ट में जनरल डायर के कार्यों की निंदा की तथा उसके कृत्य को भावनाओं में बहकर उठाया गया कदम बताया।

खिलाफत आंदोलन : 1919-1922 *(Khilafat Movement, 1919-22)*

प्रथम विश्व युद्ध में भारतीय मुसलमानों ने ब्रिटिश सरकार को तुर्की के खिलाफ इस शर्त पर सहायता दी थी कि वे उनके

Copyright – Drishti The Vision Foundation

धार्मिक मामलों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे। किंतु, युद्ध के पश्चात् ब्रिटिश सरकार अपने वायदे से मुकर गयी। पराजित तुर्की के ओटोमन साम्राज्य (Ottaman Empire) का विघटन कर दिया गया तथा सेवर्स की संधि (Treaty of Sevres, 1920) द्वारा तुर्की के खलीफा जो संपूर्ण इस्लामी जगत का प्रतिनिधित्व करता था, को उसकी सत्ता के प्रयोग से वंचित कर दिया गया। भारतीय मुसलमानों ने ब्रिटेन द्वारा तुर्की के साथ किए जाने वाले इस व्यवहार को विश्वासघात माना। 1920 के आरंभ में भारतीय मुसलमानों ने, ब्रिटेन को तुर्की के प्रति अपनी नीति बदलने के लिए, खिलाफत आंदोलन आरंभ किया। गांधीजी के समर्थन के कारण यह आंदोलन और अधिक शक्तिशाली हो गया।

23 नवम्बर, 1919 को दिल्ली में गांधीजी की अध्यक्षता में 'अखिल भारतीय खिलाफत कमेटी' का अधिवेशन हुआ। गांधीजी के सुझावों पर ही स्वदेशी एवं असहयोग की नीति अपनाई गई। इस आंदोलन के प्रमुख नेताओं में मुहम्मद अली, शौकत अली, हकीम अजमल खाँ एवं अबुल कलाम आज़ाद इत्यादि थे। गांधीजी के सुझाव पर एक शिष्टमंडल डॉ॰ अंसारी की अध्यक्षता में वायसराय से मिलने गया तथा एक अन्य शिष्टमंडल मौलाना शौकत अली के नेतृत्व में ब्रिटिश सरकार से वार्ता हेतु इंग्लैण्ड गया। बहरहाल, दोनों ही प्रतिनिधिमण्डल अपने उद्देश्यों में असफल रहे। 9 जून, 1920 को इलाहाबाद में हुई बैठक में खिलाफत के प्रस्ताव को स्वीकार कर लिया गया तथा 31 अगस्त, 1920 का दिन 'खिलाफत दिवस' के रूप में मनाने का निर्णय लिया गया।

भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस के कलकत्ता में हुए विशेष अधिवेशन (सितम्बर 1920) की अध्यक्षता लाला लाजपत राय द्वारा की गई। इस अधिवेशन में गांधीजी की प्रेरणा से एक प्रस्ताव पारित किया गया जिसमें ब्रिटिश सरकार के दो अन्यायपूर्ण कार्यों के लिए असहयोग का निर्णय लिया गया। ये दो कार्य थे– (i) खिलाफत मुद्दे के प्रति ब्रिटिश सरकार का दृष्टिकोण तथा (ii) पंजाब के निर्दोष लोगों की रक्षा न करने व उनसे बर्बर व्यवहार करने वाले अधिकारियों को दंडित करने में सरकार की विफलता।

असहयोग आंदोलन का प्रस्ताव सन् 1920 ई॰ में कांग्रेस के नागपुर में आयोजित वार्षिक अधिवेशन में अंतिम रूप से पारित कर दिया गया। इसके अतिरिक्त दो महत्वपूर्ण संशोधन भी पारित किए गए। पहला, कांग्रेस में संगठनात्मक परिवर्तन किया गया एवं रचनात्मक कार्यक्रमों की रूपरेखा तैयार की गई। दूसरा, भारतीय राष्ट्रीय कांग्रेस का लक्ष्य स्वराज प्राप्त करना हो गया जो कि पूर्व में ब्रिटिश साम्राज्य के भीतर स्वशासन था। इन कार्यक्रमों में सभी वयस्कों को कांग्रेस की सदस्यता प्रदान करने के अतिरिक्त 300 सदस्यों वाली एक अखिल भारतीय कांग्रेस समिति का गठन करना, हाथ की बुनाई, कताई या स्वदेशी वस्तुओं के उत्पादन को प्रोत्साहन देना, ग्राम, तालुका एवं जिला स्तर पर कांग्रेस की समितियों का एक संस्तर बनाना, हिन्दी का यथासंभव प्रयोग करना तथा प्रांतों में भाषाई आधार पर कांग्रेस समितियों का पुनर्गठन करना, हिन्दू-मुस्लिम एकता को प्रोत्साहन देना तथा अस्पृश्यता के निवारण हेतु यथासंभव प्रयत्न करना आदि शामिल था।

असहयोग आंदोलन, 1920-22 *(Non-Cooperation Movement, 1920-22)*

गांधीजी द्वारा असहयोग आंदोलन की औपचारिक शुरुआत 1 अगस्त, 1920 को की गयी। असहयोग आंदोलन से सम्बन्धित कार्यक्रमों पर विचार करने के लिए सितम्बर 1920 (कलकत्ता) में कांग्रेस कार्यसमिति का अधिवेशन आयोजित किया गया। गांधीजी द्वारा इसी अधिवेशन में असहयोग प्रस्ताव पेश किया गया। इस प्रस्ताव का विरोध एनी बेसेंट, मदनमोहन मालवीय, सुरेन्द्रनाथ बनर्जी, विपिनचंद्र पाल, देशबंधु चितरंजन दास, मोहम्मद अली जिन्ना, शंकरन नायर तथा सर नारायण चन्द्रावरकर ने किया, किंतु अली बंधुओं तथा मोतीलाल नेहरू के समर्थन से यह प्रस्ताव स्वीकार कर लिया गया। यहीं से गांधी युग की शुरुआत हुई। असहयोग प्रस्ताव सम्बन्धी प्रमुख उपबंध निम्नवत् थे–

- ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान की गई उपाधियों एवं अवैतनिक पदों का त्याग
- विदेशी वस्तुओं का पूर्ण बहिष्कार
- सरकारी शिक्षा का विरोध अर्थात् स्कूल, कॉलेजों का बहिष्कार
- वकीलों द्वारा ब्रिटिश न्याय व्यवस्था का बहिष्कार
- सरकारी तथा अर्ध-सरकारी उत्सवों का बहिष्कार

दिसम्बर 1920 के नागपुर अधिवेशन में गांधीजी ने कांग्रेस के पुराने लक्ष्य अंग्रेजी शासन के अंतर्गत स्वशासन के स्थान पर 'स्वराज' को नया लक्ष्य घोषित कर दिया। उनका कहना था कि यदि आवश्यक हुआ तो इसे (स्वराज) ब्रिटिश साम्राज्य के बाहर भी प्राप्त किया जा सकता है। इसी अधिवेशन में लाला लाजपत राय एवं चितरंजन दास ने असहयोग प्रस्ताव से संबंधित अपना विरोध वापस ले लिया तथा एनी बेसेंट, विपिनचन्द्र पाल, मुहम्मद अली जिन्ना, जी. एस. खपार्डे इत्यादि नेताओं ने कांग्रेस से असंतुष्ट होकर त्याग-पत्र दे दिया। नागपुर अधिवेशन इसलिए महत्वपूर्ण माना जाता है क्योंकि इसी अधिवेशन में कांग्रेस ने स्वराजप्राप्ति के लक्ष्य का त्याग कर ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध सक्रिय विरोध करने की बात को स्वीकार किया।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

आंदोलन की प्रगति एवं विस्तार *(Growth and Expansion of the Movement)*

असहयोग आंदोलन आरंभ करने से पूर्व ही गांधीजी ने ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रदान की गई 'केसर-ए-हिन्द' की उपाधि वापस कर दी। जमुनालाल बजाज द्वारा भी 'राय बहादुर' की उपाधि लौटा दी गयी। गांधीजी ने असहयोग आंदोलन की शुरुआत 1 अगस्त, 1920 को की। एक दुःखद घटना के साथ आंदोलन का आरंभ हुआ, क्योंकि इसी दिन तिलक की मृत्यु हो गई।

- इस आंदोलन को पश्चिमी भारत, उत्तरी भारत एवं बंगाल में अभूतपूर्व सफलता मिली। शिक्षण संस्थाओं का सर्वाधिक बहिष्कार बंगाल में किया गया। राष्ट्रीय शिक्षा प्रणाली के आधार पर अनेक शिक्षण संस्थाओं की स्थापना की गयी, जैसे– काशी विद्यापीठ, बिहार विद्यापीठ, गुजरात विद्यापीठ, महाराष्ट्र विद्यापीठ, अलीगढ़ मुस्लिम विश्वविद्यालय आदि। कलकत्ता में नेशनल कॉलेज की स्थापना भी इसी आंदोलन के दौरान की गई। इस कॉलेज के प्रधानाचार्य सुभाषचंद्र बोस बने। बहिष्कार करने वाले प्रमुख वकीलों में देशबंधु चितरंजन दास, मोतीलाल नेहरू, सी॰ राजगोपालाचारी, राजेन्द्र प्रसाद, जवाहरलाल नेहरू, विट्ठल भाई पटेल, वल्लभभाई पटेल तथा आसफ अली प्रमुख थे। असहयोग आंदोलन के समय कांग्रेस को कई मुस्लिम नेताओं का भी समर्थन प्राप्त हुआ, जिनमें मोहम्मद अली, डॉ॰ अंसारी, शौकत अली तथा मौलाना अबुल कलाम आजाद इत्यादि प्रमुख थे। बहिष्कार आंदोलन (Boycott Movement) में विदेशी कपड़ों के बहिष्कार का कार्यक्रम सर्वाधिक सफल रहा।

आंदोलन के दौरान मोहम्मद अली जिन्ना, मोतीलाल नेहरू, सरदार पटेल, चितरंजन दास, मौलाना आजाद, राजेन्द्र प्रसाद तथा राजगोपालाचारी जैसे नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। सर्वप्रथम गिरफ्तार किए गए नेता मुहम्मद अली थे। आंदोलन के दौरान नवंबर, 1921 में प्रिंस ऑफ वेल्स भारत आये, जिन्हें हर जगह विरोध का सामना करना पड़ा। 1 फरवरी 1922 को गांधीजी ने वायसराय को अल्टीमेटम भेजा, जिसमें यह कहा गया था कि अगर 7 दिनों के भीतर राजनीतिक बंदियों को रिहा नहीं किया गया और सरकार के नियंत्रण से प्रेस को मुक्त नहीं किया तो वे करों की नाअदायगी समेत सामूहिक रूप से बारदोली से सविनय अवज्ञा आंदोलन (Civil Disobedience Movement) प्रारंभ करेंगे। किंतु, सप्ताह समाप्ति से पूर्व ही 5 फरवरी, 1922 को उत्तर प्रदेश के गोरखपुर जिले के चौरी-चौरा नामक स्थान पर पुलिस ने राजनीतिक जुलूस पर गोलीबारी कर दी, प्रतिक्रियास्वरूप जनता ने पुलिस थाने पर हमला कर दिया। इस हमले में 22 पुलिसकर्मियों की हत्या कर दी गयी। इतिहास में इस घटना को चौरी-चौरा काण्ड (Chauri-Chaura Incident) के नाम से जाना जाता है। इस घटना के पश्चात् गांधीजी को यह विश्वास हो गया कि भारत अभी व्यापक सविनय अवज्ञा आंदोलन के लिए तैयार नहीं है। परिणामस्वरूप, 12 फरवरी, 1922 को बारदोली में आयोजित कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में आंदोलन को स्थगित करने का निर्णय लिया गया। मार्च 1922 में गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया तथा उन्हें असंतोष फैलाने के जुर्म में न्यायाधीश ब्रूमफील्ड द्वारा 6 वर्ष के कारावास का दंड दिया गया। किंतु, 5 फरवरी, 1924 को स्वास्थ्य कारणों से उन्हें रिहा कर दिया गया।

असहयोग आंदोलन का मूल्यांकन *(Evaluation of Non-Cooperation Movement)*

असहयोग आंदोलन के स्थगित होते ही खिलाफत के मुद्दे का भी अंत हो गया, जिसके फलस्वरूप देश में हिंदू-मुस्लिम एकता भंग हो गई तथा सांप्रदायिक तनाव (Communal Tension) की स्थिति पैदा हो गई। केरल के मालाबार क्षेत्र में मोपला किसानों ने भू-सामंतों और साहूकारों के विरुद्ध-भयंकर विद्रोह और रक्तपात किया। असहयोग आंदोलन अपने किसी भी घोषित उद्देश्य को प्राप्त नहीं कर सका। गांधीजी द्वारा एक वर्ष के भीतर स्वराज प्राप्त करने का वादा पूरा नहीं किया जा सका और न ही ब्रिटिश सरकार द्वारा पंजाब में किए गए अन्यायों का निवारण हुआ। किंतु, इसकी दीर्घकालिक उपब्धियाँ इसकी तात्कालिक हानियों से कहीं अधिक थीं। इसने कांग्रेस की शक्तियों को कहीं अधिक बढ़ा दिया था तथा यह पहले से अधिक संगठित हो गयी थी। इसने देशवासियों के भीतर स्वतन्त्रताप्राप्ति की प्रबल इच्छाशक्ति जागृत की तथा औपनिवेशिक ब्रिटिश सरकार को चुनौती देने के लिए जनता को प्रोत्साहित किया।

खिलाफत आंदोलन की समाप्ति *(End of Khilafat Movement)*

असहयोग आंदोलन के आकस्मिक स्थगन से खिलाफत आंदोलन के मुद्दे की स्वतः समाप्ति हो गयी। तुर्की में कमालपाशा के नेतृत्व में क्रांति हो गई, जिसमें खलीफा के पद को समाप्त कर दिया गया तथा तुर्की के सुल्तान को 1922 ई॰ में सत्ता से वंचित कर दिया गया। इस घटना के परिणामस्वरूप खिलाफत आंदोलन ने अपनी प्रासंगिकता खो दी और इसे समाप्त कर दिया गया।

स्वराज पार्टी की स्थापना *(Foundation of Swaraj Party)*

असहयोग आंदोलन के स्थगन के पश्चात् कांग्रेस के राजनीतिक कार्यक्रमों में शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो गई थी। कांग्रेस के सामने अगला प्रश्न यह था कि 1919 ई. के मांटेग्यू-चेम्सफोर्ड अधिनियम द्वारा घोषित विधान परिषदों के चुनावों में भागीदारी की जाए अथवा नहीं। चितरंजन दास तथा मोतीलाल नेहरू के अनुसार विधान परिषदों का बहिष्कार करने के स्थान पर चुनाव प्रक्रिया द्वारा उनमें प्रवेश कर असहयोग आंदोलन को चलाया जाना चाहिए। ये परिवर्तनवादी (Radical) कहलाए। इस सुझाव का विरोध

Copyright – Drishti The Vision Foundation

अपरिवर्तनवादी गुट (Non-Radical Group) द्वारा किया गया, जिनमें डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद, सी॰ राजगोपालाचारी, बल्लभभाई पटेल, डॉ॰ अंसारी, आयंगर, एन. जी. रंगा इत्यादि नेता शामिल थे। इन्हीं वैचारिक द्वन्द्वों के मध्य कांग्रेस का गया अधिवेशन दिसम्बर 1922 में आयोजित किया गया, जिसकी अध्यक्षता चितरंजन दास द्वारा की गई। इस सम्मेलन में परिवर्तन-विरोधियों ने परिवर्तनवादियों के प्रस्तावों को अस्वीकार कर दिया। परिणामस्वरूप, चितरंजन दास ने कांग्रेस के अध्यक्ष पद से त्याग-पत्र दे दिया तथा मोतीलाल नेहरू एवं अन्य सहयोगियों के साथ मिलकर एक नई पार्टी 'कांग्रेस खिलाफत स्वराज पार्टी' बनाई जिसे 'स्वराज पार्टी' के नाम से जाना जाता है। इस पार्टी के अध्यक्ष चितरंजन दास तथा महासचिव मोतीलाल नेहरू थे।

सितम्बर 1923 में कांग्रेस के दिल्ली अधिवेशन की अध्यक्षता मौलाना आजाद द्वारा की गई। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने अपने सदस्यों को स्वराज पार्टी के अंतर्गत चुनाव में उतरने की स्वतन्त्रता प्रदान की। इस विचार का समर्थन विट्ठल भाई पटेल एवं एम. आर. जयकर जैसे नेताओं ने किया।

नवम्बर 1923 में हुए चुनावों में 'स्वराज पार्टी' को अत्यधिक सफलता मिली। सेंट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली में इन्होंने 101 निर्वाचित सीटों में से 42 सीटों पर अपनी जीत दर्ज की। मध्य प्रान्त में इसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। बंगाल में यह सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी। संयुक्त प्रांत (आधुनिक उत्तर प्रदेश) और बंबई में इसका प्रदर्शन बहुत अच्छा रहा, लेकिन मद्रास और पंजाब में साम्प्रदायिकता तथा जातिवाद जैसे कारणों के उभरने के परिणामस्वरूप इन्हें सीमित सफलता ही प्राप्त हुई।

केन्द्रीय एवं प्रांतीय विधानमण्डलों में स्वराज पार्टी द्वारा बड़े महत्वपूर्ण कार्य किए गए। विट्ठलभाई पटेल को सेन्ट्रल लेजिस्लेटिव असेम्बली का अध्यक्ष बनवाना स्वराज पार्टी की एक महत्वपूर्ण सफलता थी। सेना के तीव्र गति से भारतीयकरण के लिए बनाई गई स्क्रीन कमेटी की सदस्यता 1925 ई॰ में मोतीलाल नेहरू ने स्वीकार की। केन्द्रीय विधानमण्डल में 1919 ई॰ के अधिनियम की जाँच करने के लिए मुडीमैन समिति की नियुक्ति स्वराजियों ने ही करवायी। इन्होंने दमनात्मक कानूनों को निरस्त करने के लिए संघर्ष भी किया। स्वराज पार्टी ने देश के आर्थिक हितों में संवर्धन हेतु भी अनेक प्रयत्न किए, यथा- नमक कर में कटौती, कपास पर लगने वाले उत्पाद-शुल्क को समाप्त करवाना, श्रमिकों की स्थिति में सुधार एवं मजदूर संघों की सुरक्षा इत्यादि।

1925 ई॰ में स्वराज्य पार्टी को बहुत बड़ा आघात तब लगा जब चितरंजन दास की मृत्यु हो गई। कांग्रेस ने स्वराज पार्टी के सदस्यों को परिषद से बाहर आने का निर्देश दिया क्योंकि सरकार उनके साथ सहयोग नहीं कर रही थी। यद्यपि, 1926 ई. के चुनावों में केन्द्रीय विधानमंडलों की 40 सीटों तथा मद्रास की पचास प्रतिशत सीटों पर स्वराज पार्टी ने जीत दर्ज की, लेकिन अन्य प्रांतों में इसे पराजय का सामना करना पड़ा। स्वराजी इस बार विधानमंडलों में राष्ट्रीय मोर्चा बनाने में सफल नहीं रहे। किंतु, कई अन्य मौकों पर वे स्थगन प्रस्ताव लाने में सफल रहे। उल्लेखनीय है कि ब्रिटिश सरकार द्वारा 1928 ई. में लाए गए सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक (Public Safety Bill) जिसे स्वराजियों ने 'भारतीय गुलामी विधेयक नं. 1' की संज्ञा दी थी, पर ब्रिटिश सरकार की हार हुई। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में पारित प्रस्तावों तथा सविनय अवज्ञा आंदोलन की घोषणा के बाद स्वराज पार्टी द्वारा विधानमण्डलों के बहिष्कार की घोषणा कर दी गई। इस प्रकार स्वराज पार्टी का सूर्यास्त हो गया।

गांधी-दास पैक्ट : नवम्बर 1924 *(Gandhi-Das Pact : November 1924)*

फरवरी 1924 में स्वास्थ्य कारणों से जेल से रिहा होने के पश्चात् नवम्बर 1924 में गांधीजी, सी. आर. दास एवं मोतीलाल नेहरू ने मिलकर एक संयुक्त वक्तव्य प्रस्तुत किया। इसे गांधी-दास पैक्ट के नाम से जाना जाता है। इसकी मुख्य बातों में विधानसभाओं के भीतर स्वराज पार्टी को कांग्रेस के नाम तथा इसके अभिन्न अंग के रूप में कार्य करने का अधिकार प्रदान किया गया। इस पैक्ट की दूसरी महत्वपूर्ण विशेषता यह भी थी कि इसमें यह कहा गया था कि असहयोग अब राष्ट्रीय कार्यक्रम नहीं रहेगा। इसके अतिरिक्त 'ऑल इंडिया स्पिनर्स एसोसिएशन' को संगठित करने तथा चरखे व करघे का प्रचार-प्रसार करने की जिम्मेदारी गांधीजी को सौंपी गयी। सन् 1924 ई. के बेलगाँव अधिवेशन, जिसकी अध्यक्षता गांधीजी द्वारा की गई थी, में इस पैक्ट की प्रमुख बातों की पुष्टि की गई।

अन्य राजनीतिक दल एवं आंदोलन, 1922-27 *(Other Political Parties and Movements, 1922-27)*

स्वराज पार्टी के अतिरिक्त 1922-27 की अवधि के मध्य कई अन्य राजनीतिक दलों का उदय हुआ, जिनका विवरण निम्नवत् है-

अखिल-भारतीय मुस्लिम लीग *(All-India Muslim League)*

सन् 1924 में तुर्की में मुस्तफा कमालपाशा के नेतृत्व में खलीफा के पद या खिलाफत को समाप्त कर दिए जाने के उपरांत 'भारतीय खिलाफत समिति' ने कार्य करना बंद कर दिया। परिणामस्वरूप, 1924 ई. में अखिल भारतीय मुस्लिम लीग का पुनरुत्थान हुआ और मुहम्मद अली जिन्ना इसके नेता के रूप में उभरे।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

हिन्दू महासभा *(Hindu Mahasabha)*

पंडित मदनमोहन मालवीय ने 1915 ई. में हरिद्वार में 'हिन्दू महासभा' की स्थापना की। कासिम बाज़ार के महाराजा की अध्यक्षता में इसका प्रथम सम्मेलन आयोजित किया गया। दिसम्बर 1924 में पंडित मदनमोहन मालवीय के अध्यक्ष बनने के उपरांत यह दल बहुत अधिक प्रभावशाली हो गया।

राष्ट्रीय उदारवादी लीग *(National Liberal League)*

तेज बहादुर सप्रू, विपिनचंद्र पाल तथा श्रीनिवास शास्त्री इत्यादि उदारवादी नेताओं द्वारा 1918 ई. में कांग्रेस से अलग होने के पश्चात् राष्ट्रीय उदारवादी लीग का गठन किया गया, जो कालांतर में 'अखिल भारतीय संघ' के नाम से प्रसिद्ध हुई। इन्होंने सरकार के साथ सहयोग की नीति का अनुसरण किया। 1923 ई. के चुनावों के उपरांत इस पार्टी का पूर्णतः सफाया हो गया।

यूनियनिस्ट पार्टी *(Unionist Party)*

इस पार्टी का गठन पंजाब में भू-स्वामी वर्गों के हितों की रक्षा के लिए किया गया था। 1937 ई. के चुनावों में मुस्लिम लीग तथा यूनियनिस्ट पार्टी ने पंजाब में मिली-जुली सरकार की स्थापना की।

अकाली आंदोलन *(Akali Movement)*

यह 1922-27 ई. के मध्य हुए आंदोलनों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण था। इस आंदोलन का उद्देश्य सिख गुरूद्वारों को अंग्रेज समर्थक एवं भ्रष्ट आनुवंशिक महन्तों के चंगुल से मुक्त करना था। इस आंदोलन के उग्र स्वरूप को देखते हुए ब्रिटिश सरकार को यह भय उत्पन्न हो गया कि यह आंदोलन ब्रिटिश सेना में कार्यरत सिख सैनिकों तथा कृषकों में असंतोष उत्पन्न कर सकता है। परिणामस्वरूप, जुलाई 1925 में एक विधेयक पारित किया गया जिसके अंतर्गत 'शिरोमणी गुरुद्वारा प्रबंधक समिति' की स्थापना की गयी। इस विधेयक के प्रावधानों के अंतर्गत गुरुद्वारा के प्रबंधन तथा पदाधिकारियों एवं कार्यकर्ताओं के चुनाव का अधिकार सिख समुदाय के व्यक्तियों को सौंप दिया गया।

बोरसाद आंदोलन *(Borsad Movement)*

यह आंदोलन गुजरात के खेड़ा जिले के बोरसाद नगर में डकैतों से रक्षा के बदले पुलिस द्वारा वयस्क व्यक्तियों पर लगाए गए 'व्यक्ति कर' के भुगतान के विरूद्ध किया गया। अपने स्वरूप में गांधीवादी प्रतीत होने वाला यह आंदोलन सफल रहा। अत्यधिक सामाजिक दबाव के परिणामस्वरूप सरकार द्वारा 1923 ई. में यह कर समाप्त कर दिया गया।

वायकूम सत्याग्रह *(Vaikom Satyagraha)*

केरल में टी० के० माधवन, के.के. केलप्पन तथा के.पी. केशव मेनन के नेतृत्व में हुए इस आंदोलन का उद्देश्य श्रमिक निम्न जातियों (एझवाओं) एवं अछूतों द्वारा गाँधीवादी तरीके से त्रावणकोर के एक मंदिर के निकट की सड़कों के उपयोग के बारे अपने अधिकारों को प्राप्त करना था। गांधीजी द्वारा मार्च 1925 में वायकूम का दौरा किया गया। यह आंदोलन सरकार द्वारा (20 माह पश्चात्) अलग से सड़क बनाने के उपरांत समाप्त हो गया। यह मंदिर-प्रवेश संबंधी पहला आंदोलन था।

नागपुर झंडा सत्याग्रह *(Nagpur Flag Satyagraha)*

1923 ई० में सरकार द्वारा नागपुर में कांग्रेस द्वारा अपने ध्वज के प्रयोग पर प्रतिबंध लगाए जाने वाले एक स्थानीय आदेश के विरोध में यह सत्याग्रह शुरू हुआ। गुजरात से आंदोलनकारियों के दस्ते नागपुर भेजे गए ताकि सरकार समझौते के लिए बाध्य हो सके।

क्रांतिकारी आंदोलन का द्वितीय चरण *(2nd Phase of Revolutionary Movement)*

असहयोग आंदोलन को स्थगित किए जाने के पश्चात् देश में राजनीतिक शून्यता की स्थिति उत्पन्न हो गयी थी, जिससे राष्ट्रवादी युवाओं का मोहभंग हो गया। गांधीजी द्वारा प्रतिपादित अहिंसात्मक संघर्ष की नीति से भी यह वर्ग संतुष्ट नहीं था। ये क्रांतिकारी युवक रूस, चीन, तुर्की, मिश्र तथा आयरलैंड में होने वाली क्रांतियों से अत्यधिक प्रभावित थे तथा ब्रिटिश शासन को हिंसा के माध्यम से उखाड़ फेंकने हेतु प्रयासरत थे। युगान्तर तथा अनुशीलन जैसी पुरानी क्रांतिकारी समितियों का पुनः प्रादुर्भाव हुआ। बंगाल, पंजाब, दिल्ली तथा संयुक्त प्रांत इन नव गठित क्रांतिकारी संगठनों के केन्द्र के रूप में उभरे।

उत्तरी भारत में क्रांतिकारी आंदोलन *(Revolutionary Movement in North India)*

उत्तरी भारत के क्रांतिकारी संगठनों में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन तथा हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन

Copyright – Drishti The Vision Foundation

महत्वपूर्ण है। अक्टूबर 1924 में कानपुर में सचिन्द्रनाथ सान्याल, चंद्रशेखर आजाद, रामप्रसाद बिस्मिल तथा जोगेन्द्रचंद्र चटर्जी द्वारा 'हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन' का गठन किया गया। इस संगठन के घोषित उद्देश्य निम्नवत् थे-

- संगठित एवं सशस्त्र क्रांति के माध्यम से भारत के राज्यों को परस्पर संयुक्त कर एक संघीय गणतंत्र की स्थापना करना।
- राजनीतिक डकैतियों एवं राजनीतिक अपराधों के द्वारा आंदोलन के लिए शस्त्र एवं धन एकत्रित करना।
- देश के विभिन्न भागों में हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन की शाखाओं को स्थापित करना।
- राजनीतिक डकैतियों का उद्देश्य मात्र सरकारी धन की प्राप्ति होगा। यह विचार रामप्रसाद बिस्मिल द्वारा दिया गया।

इन उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु लखनऊ-सहारनपुर संभाग पर काकोरी नामक स्थान पर चलती ट्रेन में डकैती की योजना को सफलतापूर्वक क्रियान्वित किया गया। इस घटना को हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन के लगभग 10 क्रांतिकारियों ने मिलकर अंजाम दिया। इन क्रांतिकारियों ने 9 अगस्त, 1925 को लखनऊ के पास एक गाँव काकोरी में 8 डाउन ट्रेन को रोक लिया तथा रेलवे की तिजोरी को लूट लिया। इतिहास में यह घटना 'काकोरी कांड' के नाम से जानी जाती है। अंग्रेजी सरकार ने कार्यवाही करते हुए 29 क्रांतिकारियों को गिरफ्तार कर उन पर मुकदमा चलाया। इनमें से चार क्रांतिकारियों-अशफाक उल्ला खाँ, रामप्रसाद बिस्मिल, रोशनसिंह लाल तथा राजेन्द्रनाथ लाहिड़ी को मृत्युदंड दिया गया।

इस घटना के पश्चात् हिन्दुस्तान रिपब्लिकन एसोसिएशन का अस्तित्व लगभग समाप्त हो गया क्योंकि इस संगठन के अधिकांश नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया था। काकोरी कांड के एकमात्र फरार क्रांतिकारी चंद्रशेखर आजाद ने 9-10 सितम्बर, 1928 को दिल्ली के फिरोजशाह कोटला मैदान में हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन (HSRA) की स्थापना की। अपने स्वरूप में यह संगठन लोकतांत्रिक था, जिसमें बहुमत के द्वारा निर्णय लिया जाता था। इस एसोसिएशन का उद्देश्य भारत में समाजवादी गणतंत्रवादी राज्य की स्थापना करना था।

इस संगठन का पहला क्रांतिकारी कार्य लाहौर के पुलिस अधीक्षक सांडर्स की हत्या करना था क्योंकि 30 अक्टूबर, 1928 को लाहौर में साइमन कमीशन के विरोध में निकाले गए जुलूस के दौरान किए गए लाठीचार्ज में लाला लाजपत राय की मृत्यु हो गयी थी और यह लाठीचार्ज करवाने वाला पुलिस अधिकारी सांडर्स ही था। 17 दिसम्बर, 1928 को लाहौर में भगत सिंह, राजगुरु तथा चंद्रशेखर ने मिलकर सांडर्स की हत्या कर दी। इस हत्याकांड के पश्चात् क्रांतिकारी भूमिगत हो गए थे लेकिन पुलिस निरंतर निर्दोष जनता को आतंकित कर रही थी। अतः सरकार का ध्यान अपनी ओर आकर्षित करने के उद्देश्य से इस एसोसिएशन ने अपने दो सदस्यों भगत सिंह एवं बटुकेश्वर दत्त को गिरफ्तारी देने के लिए भेजने का निर्णय किया। 8 अप्रैल, 1929 को भगत सिंह तथा बटुकेश्वर दत्त ने केन्द्रीय विधानसभा में दो बम तथा कुछ पर्चे फेंके। उस समय केन्द्रीय विधानसभा में सार्वजनिक सुरक्षा विधेयक (Public Safety Bill) तथा व्यापार विवाद विधेयक (Trade Dispute Bill) पर बहस चल रही थी। भगत सिंह एवं बटुकेश्वर दत्त को गिरफ्तार कर लिया गया तथा उन पर केन्द्रीय एसेंबली बम काण्ड के तहत मुकदमा चलाया गया। इस घटना के पश्चात् हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोशिएशन (HSRA) के अन्य सदस्यों की भी गिरफ्तारी की गयी तथा उन पर लाहौर षड्यंत्र कांड में संयुक्त रूप से मुकदमा चलाया गया। जेल में क्रांतिकारियों ने राजनीतिक बंदियों का दर्जा प्राप्त करने के लिए भू-हड़ताल की। 13 सितम्बर को 63 दिन की भूख-हड़ताल के कारण जतिन दास का देहांत हो गया। लाहौर षड्यंत्र कांड के अंतर्गत भगत सिंह, सुखदेव एवं राजगुरु को 23 मार्च, 1931 को फाँसी दे दी गई।

चन्द्रशेखर आजाद को सरकार द्वारा फरार घोषित कर दिया गया। उन्होंने भूमिगत होकर अपनी क्रांतिकारी गतिविधियों का संचालन प्रारंभ कर दिया, जिसमें वायसराय की हत्या का षड्यंत्र भी शामिल था। लेकिन, 27 फरवरी, 1931 को इलाहाबाद के अल्फ्रेड पार्क में पुलिस के साथ संघर्ष करते हुए आजाद वीरगति को प्राप्त हुए। इन सभी घटनाओं के फलस्वरूप हिन्दुस्तान सोशलिस्ट रिपब्लिकन एसोसिएशन का आंदोलन समाप्त हो गया।

बंगाल में क्रांतिकारी आंदोलन *(Revolutionary Movement in Bengal)*

तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों में बंगाल एक बार फिर से क्रांतिकारी गतिविधियों के प्रमुख केन्द्र के रूप में उभरा। पुरानी क्रांतिकारी समितियाँ फिर से सक्रिय हो गयीं तथा अनेक नई समितियों का भी गठन किया गया। उदाहरण के लिए, बंगाल स्वयंसेवक दल (Bengal Volunteers Party) का गठन हेमचंद्र घोष तथा लीला नाग द्वारा किया गया तथा 'श्रीसंघ' की स्थापना अनिल राय द्वारा की गयी। इन नवीन संगठनों में 'इंडियन रिपब्लिकन आर्मी' का विशिष्ट स्थान था, जिसकी नींव सूर्यसेन द्वारा रखी गई। वे पेशे से शिक्षक थे तथा असहयोग आंदोलन में भी भाग ले चुके थे। जनसामान्य उन्हें 'मास्टर दा' के नाम से पुकारता था।

सूर्यसेन ने 'इंडियन रिपब्लिकन आर्मी' के बल पर 18 अप्रैल, 1930 को ब्रिटिश सरकार के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। इस संगठन के सदस्यों द्वारा चटगाँव शस्त्रागार पर हमला कर हथियारों को लूट लिया गया। इसके पश्चात् भारत की एक अस्थायी स्वतन्त्र सरकार की स्थापना की गई, जिसके राष्ट्रपति सूर्यसेन थे। इस घटना के पश्चात् बंगाल में क्रांतिकारी गतिविधियों में तेजी

Copyright – Drishti The Vision Foundation

आ गई। बंगाल के कारागार महानिरीक्षक की दो क्रांतिकारियों द्वारा गोली मारकर हत्या कर दी गई। दिसम्बर 1931 में दो स्कूली छात्राओं– शांति घोष तथा सुनीति चौधरी ने एक जिलाधिकारी की गोली मारकर हत्या कर दी तथा फरवरी 1932 में कलकत्ता विश्वविद्यालय के दीक्षांत समारोह में बीना दास नामक युवती ने बंगाल के गवर्नर को गोली मार दी। एक अन्य युवा महिला क्रांतिकारी प्रीतिलता वाडेकर ने अन्य क्रांतिकारियों के साथ मिलकर चटगाँव के पहाड़तली रेलवे स्टेशन पर हमला कर दिया। गंभीर रूप से घायल होने के पश्चात् इन्होंने गिरफ्तारी से बचने के लिए आत्महत्या कर ली। इन क्रांतिकारी आंदोलनों की महत्वपूर्ण विशेषता यह थी कि इनमें बहुत-सी साहसी एवं निडर महिलाओं ने भी भाग लिया था।

चटगाँव शस्त्रागार की घटना के पश्चात् सरकार द्वारा फैलाये गये आतंक राज्य के बावजूद सूर्यसेन ने क्रांतिकारी गतिविधियाँ जारी रखीं। फरवरी, 1933 में अपने एक साथी के विश्वासघात के कारण सूर्यसेन को गिरफ्तार कर लिया गया तथा 1934 ई० में उन्हें फाँसी दे दी गई। इनकी मृत्यु से बंगाल में क्रांतिकारी घटनाओं का सूर्यास्त हो गया। वे क्रांतिकारी जो समाजवादी दर्शन से अत्यधिक प्रभावित थे, उन्होंने कम्युनिस्ट पार्टी, कांग्रेस समाजवादी पार्टी, वामपंथी पार्टी आदि की सदस्यता ग्रहण कर ली।

साइमन कमीशन, 1927 *(Simon Commission, 1927)*

1919 ई० के 'भारत शासन अधिनियम' के अंतर्गत यह प्रावधान किया गया था कि 10 वर्ष के बाद एक आयोग नियुक्त किया जायेगा जो इस बात की जाँच करेगा कि इस अधिनियम में कौन-कौन से बदलाव संभव हैं। लेकिन समय से पूर्व ही सर जॉन साइमन की अध्यक्षता में एक सात सदस्यीय आयोग का गठन 8 नवंबर 1927 को कर दिया गया। कांग्रेसियों ने इस कमीशन को श्वेत कमीशन (White Commission) कहा क्योंकि इसके सभी सदस्य ब्रिटेन के थे। इस आयोग का कार्य इस बात की संस्तुति करना था कि क्या भारतीयों को और अधिक संवैधानिक अधिकार प्रदान किए जाएँ और यदि किए जाएँ तो उसका स्वरूप क्या हो? इसके बावजूद इसमें एक भी भारतीय को शामिल नहीं किया गया, जिससे भारत में इसका तीव्र विरोध हुआ।

3 फरवरी, 1928 को साइमन आयोग के सदस्यों के मुंबई पहुँचते ही इनके विरोध में अभूतपूर्व हड़ताल आयोजित की गई। इन्हें काले झंडे दिखाए गए तथा 'साइमन वापस जाओ' के नारे लगाए गए। विरोध-प्रदर्शन के दौरान लाहौर में लाला लाजपत राय पर लाठचार्ज किया गया, जिससे नवम्बर, 1928 में उनका देहांत हो गया। अपनी मृत्यु से पहले लाला लाजपत राय द्वारा कहा गया यह कथन ऐतिहासिक सिद्ध हुआ कि "मेरे ऊपर जिस लाठी से प्रहार किए गए हैं, वही एक दिन ब्रिटिश साम्राज्य के ताबूत (शवपेटी) में आखिरी कील साबित होगी।" लखनऊ में साइमन कमीशन के विरोध की बागडोर जवाहरलाल नेहरू तथा गोविंद बल्लभ पंत के हाथ में थी। उनके ऊपर भी लाठियों से प्रहार किए गए। पंजाब की यूनियनिस्ट पार्टी एवं मद्रास की जस्टिस पार्टी के अतिरिक्त कांग्रेस सहित लगभग सभी प्रमुख दलों ने साइमन कमीशन का बहिष्कार किया, जिनमें हिन्दू महासभा, लिबरल फेडरेशन, किसान मजदूर पार्टी, मुस्लिम लीग इत्यादि शामिल थे। 1928 ई० में मुस्लिम लीग में कमीशन के बहिष्कार के मुद्दे पर विभाजन हो गया था, जिसमें मुहम्मद अली जिन्ना वाले गुट बहिष्कार के मुद्दे पर कांग्रेस के साथ थे। कुछ पूँजीपतियों, देशी नरेशों एवं जमींदारों ने इस कमीशन का समर्थन किया। साइमन कमीशनके साथ सहयोग करने के लिए बनाई गई कमेटी में डॉ० अम्बेडकर भी एक सदस्य के रूप में शामिल थे।

मई, 1930 ई० में साइमन कमीशन ने अपनी रिपोर्ट प्रकाशित की, जिसकी सिफारिशें निम्नलिखित हैं–

- द्वैध-शासन व्यवस्था जो 1919 ई० के भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत लागू की गई थी, उसे समाप्त कर उत्तरदायी शासन (Responsible Government) की स्थापना की जाए।
- भारत के लिए एक संघीय संविधान होना चाहिए तथा केन्द्र में भारतीयों को कोई भी उत्तरदायित्व नहीं दिया जाए।
- उच्च न्यायालय को भारत सरकार के नियंत्रण में लाने हेतु सुझाव दिया गया।
- उडीसा एवं सिंध को अलग प्रदेश का दर्जा प्रदान किए जाने के साथ ही बर्मा को भारत से अलग कर दिए जाने की अनुशंसा की गई।
- प्रांतीय विधानमंडल में सदस्य-संख्या का विस्तार किया जाए।
- अल्पसंख्यक जातियों के हितों के प्रति गवर्नर जनरल से विशेष ध्यान देने को कहा गया।
- मताधिकार का विस्तार कर इसकी वर्तमान सीमा (2.8%) को बढ़ाकर 10 से 15 प्रतिशत तक बढ़ाने की बात कही गई।
- पुनरीक्षण हेतु प्रत्येक 10 वर्ष पश्चात् एक संवैधानिक आयोग की नियुक्ति की व्यवस्था को समाप्त करने की अनुशंसा की गयी।

कड़ी आलोचना के बावजूद सन् 1935 के भारत सरकार अधिनियम के अंतर्गत साइमन कमीशन की अधिकांश बातों को स्वीकार कर लिया गया। इस कमीशन की सिफारिशों को सर शिवस्वामी अय्यर ने 'रद्दी की टोकरी में फेंकने लायक' बताया। अगर गहराई से देखा जाए तो यह कहना उचित ही होगा कि इस कमीशन की नियुक्ति से भारतीय दलों ने आपसी भेदभाव भुलाकार राष्ट्रीय आंदोलन में एक नयी जान फूँक दी।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

नेहरू रिपोर्ट, 1928 *(Nehru Report, 1928)*

साइमन कमीशन के बहिष्कार के निर्णय के परिणामस्वरूप भारत सचिव लॉर्ड बर्केनहेड ने भारतीय नेताओं को एक ऐसा संविधान बनाने की चुनौती दी जिसे सभी दलों का समर्थन प्राप्त हो। भारतीय नेताओं ने उस चुनौती को स्वीकारते हुए फरवरी, 1928 में इस पर विचार करने के लिए दिल्ली में एक सर्वदलीय सम्मेलन बुलाया। कांग्रेस के अलावा हिन्दू महासभा, मुस्लिम लीग, खिलाफत समिति, भारतीय ईसाई संगठन, राष्ट्रीय उदारवादी संघ आदि दल इस सम्मेलन में शामिल थे। इस सम्मेलन में एक ऐसे संविधान निर्माण की योजना के आशय का प्रस्ताव पारित किया गया जिसके अंतर्गत पूर्ण उत्तरदायी सरकार की व्यवस्था होगी। अगले सर्वदलीय सम्मेलन का आयोजन मई 1928 में बंबई में किया गया जिसकी अध्यक्षता डॉ॰ अंसारी ने की। इस सम्मेलन में पंडित मोतीलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक समिति गठित की गयी, जिसका मुख्य कार्य भारतीय संविधान के सिद्धांतों का निर्धारण करना था।

अगस्त 1928 में समिति ने अपनी रिपोर्ट प्रस्तुत कर दी। इस रिपोर्ट को लखनऊ में आयोजित सर्वदलीय सम्मेलन में अपने मूल रूप में पारित कर दिया गया। किंतु, मुस्लिम लीग के नेता मुहम्मद अली जिन्ना इसके कई प्रावधानों से असहमत थे। नेहरू रिपोर्ट की मुख्य सिफारिशें निम्नवत् हैं–

- भारत को अधिराज्य (Dominion States) का दर्जा प्रदान किए जाए जिसका तात्पर्य ब्रिटिश राष्ट्रमंडल (Commonwealth British) के अधीन स्वतन्त्रता से था।
- नागरिकता को परिभाषित करते हुए मूल अधिकारों को प्रतिपादित किया गया।
- सांप्रदायिक आधार पर पृथक निर्वाचन मंडल की माँग को खारिज कर दिया गया।
- भारत एक संघ होगा जिसके अधीन केन्द्र में द्वि-सदनीय विधानमण्डल होगा तथा मंत्रिमंडल इस सदन के प्रति उत्तरदायी होगा।
- गवर्नर जनरल की स्थिति संवैधानिक मुखिया भर ही रहेगी, जिसकी शक्तियाँ ब्रिटिश शाही ताज (British Crown) के समान होंगी।

दिसम्बर 1928 के कलकत्ता अधिवेशन में ब्रिटिश सरकार को अल्टीमेटम दिया गया कि यदि नेहरू रिपोर्ट को 31 दिसम्बर, 1929 तक स्वीकार नहीं किया गया तो कांग्रेस जन-आंदोलन आरंभ करेगी। इस अधिवेशन की अध्यक्षता मोतीलाल नेहरू ने की थी।

इस रिपोर्ट को राष्ट्रवादी मुसलमानों ने स्वीकार कर लिया, किंतु मुहम्मद अली जिन्ना ने मुस्लिम सम्प्रदाय के लिए अधिक रियायतों की माँग की, जिनमें केन्द्रीय विधानमण्डल में एक-तिहाई मुस्लिम प्रतिनिधित्व की माँग प्रमुख थी। कांग्रेस ने इसे अस्वीकार कर दिया, जिसके फलस्वरूप जिन्ना, मौ॰ शफी के नेतृत्व वाले रिपोर्ट विरोधी गुट में शामिल हो गए। इसके बाद जिन्ना ने अपनी 14-सूत्रीय माँगों की एक सूची तैयार की, जिसमें उनकी न्यूनतम माँगों को दर्शाया गया था। मार्च 1929 में जिन्ना ने यह 14-सूत्रीय माँग-पत्र प्रस्तुत किया।

चौदह सूत्री माँगें

- भारतीय संविधान परिसंघात्मक हो तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रांतों में निहित हों।
- केन्द्रीय विधानमण्डल द्वारा भारतीय परिसंघ की इकाई एवं राज्यों की सहमति के बिना संविधान में संशोधन न किया जाए।
- राज्य की सेवाओं एवं स्थानीय स्वशासी संस्थाओं में मुसलमानों के लिए आरक्षण हो।
- सांप्रदायिक समूहों को प्रतिनिधित्व देने के लिए पृथक निर्वाचन मंडल की व्यवस्था को जारी रखा जाए।
- केन्द्रीय विधानमण्डल में मुस्लिम समुदाय का प्रतिनिधित्व एक-तिहाई से कम न हो।
- प्रांतों को एकसमान स्वायत्तता हो।
- समस्त विधानमण्डलों और निर्वाचित निकायों में अल्पसंख्यकों का पर्याप्त एवं प्रभावपूर्ण प्रतिनिधित्व हो।
- सभी सम्प्रदायों को धार्मिक स्वतन्त्रता हो।
- बंगाल, पंजाब और उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में कोई भी क्षेत्रीय पुनर्वितरण मुस्लिम बहुमत को प्रभावित न करे।
- सिंध को बम्बई से पृथक किया जाए।
- यदि किसी संप्रदाय के तीन-चौथाई सदस्यों द्वारा किसी विधेयक या प्रस्ताव का विरोध किया जाए तो उसे विधानमण्डल अथवा अन्य निर्वाचित निकाय में पारित न किया जाए।
- उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत तथा बलूचिस्तान में संवैधानिक सुधार लाये जायें।
- मुस्लिम संस्कृति, धर्म, व्यक्तिगत विधि (Personal Law) और धर्मार्थ संस्थाओं (Charitable Institutions) को सुरक्षा प्रदान की जाए।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- केंद्रीय मंत्रिमंडल और प्रांतीय मंत्रिमंडलों में मुसलमानों का कम से कम एक-तिहाई प्रतिनिधित्व हो।

कांग्रेस का लाहौर अधिवेशन, 1929 *(Lahore Session of Congress, 1929)*

कांग्रेस ने 1928 ई॰ के कलकत्ता अधिवेशन में सरकार को अल्टीमेटम दे दिया था कि यदि 31 दिसम्बर, 1929 ई॰ तक नेहरू रिपोर्ट को स्वीकार नहीं किया गया तो कांग्रेस जन-आंदोलन आरंभ करेगी। कांग्रेस द्वारा तय की गयी समय-सीमा सरकार का कोई निश्चित उत्तर मिले बगैर ही समाप्त हो गयी, जिसके परिणामस्वरूप दिसम्बर 1929 में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में नेहरू रिपोर्ट को निरस्त घोषित कर दिया गया।

दिसम्बर 1929 में लाहौर में कांग्रेस का ऐतिहासिक सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन की अध्यक्षता पंडित जवाहरलाल नेहरू ने की। इस अधिवेशन में कांग्रेस ने एक प्रस्ताव पारित कर पूर्ण स्वराज को अपना लक्ष्य घोषित किया। पंडित जवाहरलाल नेहरू द्वारा 31 दिसम्बर, 1929 को रात्रि 12 बजे रावी नदी के तट पर 'तिरंगा झण्डा' फहराया गया और 26 जनवरी, 1930 का दिन प्रथम स्वाधीनता दिवस के रूप में मनाने का निश्चय किया गया। इसके पश्चात् प्रत्येक वर्ष 26 जनवरी के दिन को स्वतन्त्रता दिवस के रूप में मनाए जाने की परंपरा का शुभारंभ हुआ। कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में बहुत से ऐतिहासिक प्रस्ताव पारित किये गए, जिनका संक्षेप में विवरण निम्नवत् है–

- नेहरू रिपोर्ट को निरस्त घोषित किया गया क्योंकि अब अधिराज्य (Dominion State) का दर्जा कांग्रेस को स्वीकार नहीं।
- सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ किया जाए।
- यदि भविष्य में कोई चुनाव होंगे तो उनका बहिष्कार किया जायेगा।
- पूर्ण स्वराज को राष्ट्रीय आंदोलन का लक्ष्य निर्धारित किया गया। अब से कांग्रेस के संविधान में 'स्वराज' शब्द का अर्थ 'पूर्ण स्वतन्त्रता' या 'पूर्ण स्वराज' होगा।
- केन्द्रीय प्रांतीय विधानमण्डलों तथा सरकार द्वारा स्थापित समितियों का पूर्णतः बहिष्कार किया गया।

गांधीजी का 11-सूत्रीय माँग-पत्र : 31 जनवरी, 1930 *(Mahatma Gandhi's 11-Point Demand Letter : 31 January, 1930)*

सविनय अवज्ञा आंदोलन को प्रारंभ करने से पूर्व 31 जनवरी 1930 को गांधीजी ने अपने पत्र 'यंग इंडिया' के माध्यम से वायसराय लॉर्ड इर्विन तथा ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड के समक्ष अपनी 11-सूत्रीय माँगें रखी। फरवरी 1930 में कांग्रेस कार्यकारिणी की दूसरी बैठक का आयोजन साबरमती आश्रम में किया गया। इस बैठक में सविनय अवज्ञा आंदोलन को शुरू करने की बागडोर गांधीजी के हाथ में सौंप दी गयी। आंदोलन आरंभ करने से पूर्व गांधीजी द्वारा आंदोलन को टालने का पूरा प्रयत्न किया गया, किंतु वे वायसराय लॉर्ड इर्विन से अपनी न्यायोचित माँगों को नहीं मनवा सके। गांधीजी की 11-सूत्रीय माँगें निम्नवत् थीं–

- सभी राजनीतिक कैदियों को रिहाई दी जाए।
- भू-राजस्व को आधा किया जाए।
- नमक कर समाप्त किया जाए।
- रुपये के पुनर्मूल्यन विनिमय दर में कमी की जाए।
- सैनिक व्यय में 50% की कमी हो।
- मद्यनिषेध लागू किया जाये।
- अधिक वेतन प्राप्त करने वाले सरकारी पदाधिकारियों की संख्या में कटौती की जाए।
- विदेशी कपड़ों पर विशेष आयात कर आरोपित किया जाए।
- तटकर विधेयक लाया जाए।
- गुप्तचर विभाग को समाप्त किया जाए।
- सभी भारतीयों को आत्मरक्षा के लिए हथियार रखने का अधिकार प्रदान किया जाए।

इन 11-सूत्रीय माँगों में से छह माँगें सामान्य रुचि के मुद्दों से संबंधित, तीन माँगें विशिष्ट बुर्जुआ वर्ग से सम्बन्धित तथा दो माँगें किसानों से सम्बन्धित थीं।

महात्मा गांधी का कहना था कि यदि 12 मार्च, 1930 तक उनकी माँगें स्वीकार नहीं की गयीं तो वे नमक कानून (Salt Law)

Copyright – Drishti The Vision Foundation

का उल्लंघन करेंगे। लेकिन गाँधीजी के इन माँगों पर सरकार ने कोई सकारात्मक संकेत नहीं दिया। परिणामस्वरूप 14 फरवरी, 1930 को साबरमती में कांग्रेस की एक बैठक में गाँधीजी के नेतृत्व में सविनय अवज्ञा आंदोलन चलाने का निश्चय किया गया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन, 1930 *(Civil Disobedience Movement, 1930)*

सविनय अवज्ञा आंदोलन के प्रारंभ होने की पृष्ठभूमि में कारणों की एक शृंखला विद्यमान थी। साइमन कमीशन की असफलता के पश्चात् नेहरू रिपोर्ट को अस्वीकार किया जाना एवं कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज' संबंधी प्रस्ताव को पारित किए जाने जैसे राजनीतिक घटनाक्रमों से स्वतन्त्रता सम्बन्धी आंदोलन में तीव्रता आ गयी। वायसराय इर्विन द्वारा गांधीजी की 11-सूत्रीय माँगों को अस्वीकार कर दिए जाने से सविनय अवज्ञा आंदोलन को प्रारंभ करना आवश्यक हो गया था। आंदोलन को शुरू करने से पूर्व 2 मार्च, 1930 को गांधीजी ने वायसराय इर्विन को एक पत्र लिखा, जिसका वायसराय द्वारा कोई संतोषजनक उत्तर नहीं दिया गया। तब गांधीजी ने कहा– "कांग्रेस ने रोटी की माँग की और उसे मिला पत्थर"। इसके बाद गांधीजी ने आंदोलन प्रारंभ करने की घोषणा कर दी। इस आंदोलन में गांधीजी ने अहिंसात्मक ढंग से सरकार के प्रति असहयोग की नीति को अपनाया।

आंदोलन के तहत कार्यक्रम *(Programmes Under the Movement)*

इस आंदोलन के अंतर्गत तय किए गए कार्यक्रमों की सूची निम्नवत् है–

- नमक कानून का उल्लंघन किया जाए और नमक स्वयं बनाया जाए।
- करों की नाअदायगी।
- महिलाएँ स्वयं शराब, विदेशी कपड़ों एवं अफीम की दुकानों पर जाकर धरना दें।
- सरकारी उपाधियों, सेवाओं, शिक्षा-केन्द्रों एवं न्यायालयों का बहिष्कार किया जाए।
- विदेशी वस्तुओं का बहिष्कार एवं त्याग कर उन्हें जला दिया जाए।

दांडी मार्च : (12 मार्च, 1930 से 6 अप्रैल, 1930) *(Dandi March : 12 March, 1930 to 6 April, 1930)*

12 मार्च, 1930 को महात्मा गांधी ने अपने 78 चुने हुए अनुयायियों के साथ साबरमती आश्रम (नौसारी जिला, गुजरात) से अपना ऐतिहासिक दांडी मार्च प्रारंभ किया। 5 अप्रैल, 1930 को वे 240 मील (390 किमी.) लंबी पद-यात्रा के पश्चात् दांडी पहुँचे। उन्होंने 6 अप्रैल, 1930 को दांडी में अवैध रूप से नमक बनाकर नमक कानून (Salt Law) का उल्लंघन किया। सुभाषचंद्र बोस ने दांडी यात्रा के विषय में लिखा– "महात्मा जी के दांडी मार्च की तुलना इल्बा से लौटने पर नेपोलियन के पेरिस मार्च और राजनीतिक सत्ता प्राप्त करने के लिए मुसोलिनी के रोम मार्च से की जा सकती है।"

आंदोलन की प्रगति *(Progress of the Movement)*

देश के कई भागों में नमक कानून को तोड़ा गया। देखते ही देखते यह आंदोलन संपूर्ण भारतवर्ष में फैल गया। नमक कानून को तोड़ने का मुख्य कारण सरकार द्वारा 'नमक कर' बढ़ा दिया जाना था, जिसके फलस्वरूप रोजमर्रा के खर्चों में वृद्धि हो गयी थी। वायकोम सत्याग्रह के नेताओं के. केलप्पन एवं टी. के. माधवन ने कालीकट से पयान्नूर तक तथा सी॰ राजगोपालाचारी ने शिचनापल्ली से वेदारण्यम तक की यात्रा की। गोपालचंद बंधु चौधरी के नेतृत्व में उड़ीसा के बालासोर, पुरी एवं कटक में नमक आंदोलन चलाया गया। बंगाल के नोआखली तथा असम के सिलहट में भी नमक कानून को तोड़ा गया।

खान अब्दुल गफ्फार खान जिन्हें सीमांत गांधी (Frontier Gandhi) भी कहा जाता है, ने उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में 'खुदाई खिदमतगार संगठन' की स्थापना की। इस संगठन के सदस्य लाल कुर्ता पहनते थे जिसके कारण इसे 'लाल कुर्ती दल' भी कहा जाता था। गफ्फार खाँ को 'फखे अफगान' की उपाधि से विभूषित किया गया था। इन्हें 'बादशाह खाँ' भी कहा जाता था। उन्होंने हस्तशिल्प उद्योगों के पतन, पठानों की क्षेत्रीय राष्ट्रवादिता तथा उपनिवेशवाद के विरुद्ध आवाज़ उठाई। इन्होंने 'पख्तून' (पश्तो भाषा) नामक एक पत्रिका निकाली जो बाद में 'दारोजा' के नाम से प्रकाशित हुई।

नमक कानून के भंग होते ही पूरे भारत में सविनय अवज्ञा आंदोलन आरंभ हो गया। बंबई प्रान्त में इस आंदोलन का केन्द्र 'धरासना' था जहाँ, सरकार द्वारा आंदोलनकारियों के दमन का सबसे भयानक रूप देखने को मिला। सरोजनी नायडू, मणिलाल एवं इमाम साहिब के नेतृत्व वाले लगभग 25 हजार व्यक्तियों के जुलूस पर धरासना नामक स्थान पर लाठीचार्ज किया गया। इस घटना

641, प्रथम तल, मुखर्जी नगर, दिल्ली-9.
दूरभाष : 011-27604128, 47532596, (+91)8130392358-59-60
ई-मेल: drishtiacademy@gmail.com, वेबसाइट: www.drishtithevisionfoundation.com
फेसबुक: https://www.facebook.com/drishtithevisionfoundation
Copyright – Drishti The Vision Foundation

का उल्लेख एक अमेरिकी पत्रकार मिलर ने अपने अखबार 'न्यू फ्रीमैन' (New Freeman) में किया। मिलर ने कहा– "संवाददाता के रूप में पिछले 18 वर्ष से असंख्य नागरिक विद्रोह देखे हैं। दंगे, गली-कूचों में मार-काट एवं विद्रोह के दृश्य देखे हैं, लेकिन धरासना जैसा भयानक दृश्य मैंने अपने जीवन में कभी नहीं देखा।"

सविनय अवज्ञा आंदोलन ने पूर्वोत्तर भारत स्थित मणिपुर में जोर पकड़ा। नागाओं ने जदोनांग के नेतृत्व में विदेशी शासन के खिलाफ विद्रोह का झंडा उठा लिया। यह जदोनांग आंदोलन (Jadonang Movement) के नाम से जाना जाता है। अंग्रेजों ने जदोनांग पर हत्या का आरोप लगाकर उसे फाँसी दे दी। इस घटना के पश्चात् जदोनांग की बहन गैडिन्ल्यू ने इस आंदोलन की कमान संभाली। जवाहरलाल नेहरू ने इस वीरबाला को 'रानी' की उपाधि दी और कहा– "एक दिन ऐसा आएगा जब भारत इन्हें स्नेहपूर्वक स्मरण करेगा।" सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान बिहार में 'कर नाअदायगी' का आंदोलन चलाया गया। इस दौरान 'चौकीदारी कर न अदा' करने का आंदोलन भी बिहार के सारन, मुंगेर तथा भागलपुर जिलों में चलाया गया। मुंगेर जिले के बहरी नामक स्थान पर ब्रिटिश सरकार का शासन समाप्त हो गया। इसी समय कड़े वन नियमों के विरोध में मध्य प्रांत, कर्नाटक एवं महाराष्ट्र में वन सत्याग्रह चलाया गया। सविनय अवज्ञा आंदोलन के दौरान लड़कियों ने 'मंजरी सेना' तथा बच्चों ने 'वानर सेना' का गठन किया।

सविनय अवज्ञा आंदोलन में बड़े पैमाने पर महिलाओं की सक्रिय सहभागिता इसकी प्रमुख विशेषता थी। इसके पूर्व बहुत कम महिलाओं ने सार्वजनिक किस्म के राजनीतिक प्रदर्शनों में भागीदारी की थी। इन महिलाओं में से अधिकतर या तो कॉलेज की छात्राएँ थीं या फिर किसी राष्ट्रीय नेता के परिवार से सम्बन्धित थीं। अनेक स्थानों पर विदेशी कपड़ों की होली जलाई गयी और शराब की दुकानों के आगे धरना दिया गया।

इस आंदोलन की व्यापकता एवं देशवासियों की सक्रिय भागीदारी से ब्रिटिश हुकूमत झल्ला गयी। 5 मई, 1930 को गांधीजी को गिरफ्तार कर लिया गया तथा लगभग एक महीने के भीतर एक लाख लोगों को गिरफ्तार कर लिया गया। इसी समय साइमन कमीशन की रिपोर्ट प्रस्तुत किये जाने के बाद तीन गोलमेज सम्मेलनों का आयोजन किया गया, जिसमें केवल दूसरे सम्मेलन में कांग्रेस ने भाग लिया।

प्रथम गोलमेज सम्मेलन : 12 नवम्बर, 1930 से 19 जनवरी, 1931
(Ist Round Table Conference : 12 November, 1930 to 19 January, 1931)

साइमन कमीशन की सिफारिशों पर विचार करने के लिए नवम्बर 1930 में लंदन में सेंट जेम्स पैलेस में प्रथम गोलमेज सम्मेलन का आयोजन किया गया। इस वार्ता में ब्रिटिश शासकों द्वारा भारतीयों को पहली बार बराबरी का दर्जा दिया गया।

12 नवम्बर, 1930 को ब्रिटिश सम्राट ने गोलमेज सम्मेलन का उद्घाटन किया तथा ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैकडोनाल्ड इस सम्मेलन के सभापति थे। प्रथम गोलमेज सम्मेलन में भाग लेने वाले 89 सदस्यों में से 57 सदस्य भारतीय राजनीतिक दलों से सम्बन्धित थे, 16 सदस्य भारतीय रजवाड़ों का प्रतिनिधित्व कर रहे थे जबकि 16 ब्रिटिश राजनीतिक दलों के प्रतिनिधि थे। कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया क्योंकि इस समय कांग्रेस के अधिकांश नेता जेल में थे।

इस सम्मेलन में डॉ॰ अम्बेडकर ने दलितों के लिए 'पृथक निर्वाचक मंडल' की माँग रखी तथा भारतीय नरेशों ने ब्रिटिश भारत में सम्मिलित होकर अखिल भारतीय संघ की स्थापना का प्रस्ताव रखा। मुस्लिम प्रतिनिधियों ने भी पृथक निर्वाचक मंडल की माँग का समर्थन किया। किंतु, कांग्रेस की अनुपस्थिति से यह सम्मेलन विफल ही रहा। इस सम्मेलन की रिपोर्ट बाद में प्रकाशित हुई। इस रिपोर्ट के अनुसार ब्रिटिश सरकार अखिल भारतीय संघ का निर्माण, प्रांतों में पूर्ण उत्तरदायी शासन तथा केन्द्र में द्वैध-शासन जैसे उपबंधों पर सहमत हो गयी।

गांधी-इर्विन समझौता (दिल्ली समझौता) : 5 मार्च, 1931
[Gandhi-Irwin Pact (Delhi Agreement) 5 March, 1931]

तेजबहादुर सप्रू, एम. आर. जयकर एवं वी. एस. शास्त्री जैसे कुछ उदारवादी नेताओं ने प्रथम गोलमेज सम्मेलन की विफलता के पश्चात् वहाँ से वापस लौटकर गांधीजी से अनुरोध किया कि वे वायसराय से भेंट करें। वायसराय लॉर्ड इर्विन ने कांग्रेस को बातचीत के लिए आमंत्रित किया। सरकार ने कांग्रेस के नेताओं को जेल से रिहा कर दिया ताकि बातचीत के लिए सकारात्मक माहौल तैयार हो सके। वायसराय के साथ समझौता वार्ता करने के लिए कांग्रेस ने गांधीजी को अधिकृत किया। 5 मार्च, 1931 को गांधीजी एवं लॉर्ड इर्विन के मध्य लंबी बातचीत के उपरांत एक समझौते पर हस्ताक्षर हुए, जिसे 'गांधी-इर्विन समझौता' या 'दिल्ली समझौता' के नाम से जाना जाता है। इस समझौते की प्रमुख विशेषताएँ निम्नवत् हैं–

- सविनय अवज्ञा आंदोलन को स्थगित करने के लिए कांग्रेस की ओर से गांधीजी सहमत हो गए।
- कांग्रेस इस शर्त पर द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में शामिल होने के लिए सहमत हो गयी कि प्रस्तावित संवैधानिक सुधारों

Copyright – Drishti The Vision Foundation

का आधार संघीय व्यवस्था तथा उत्तरदायित्वपूर्ण शासन होगा। साथ ही, प्रतिरक्षा, वैदेशिक एवं अल्पसंख्यकों से जुड़े मामलों में भारतीय हितों को सर्वोच्चता दी जाएगी।

- भारत के वित्तीय ऋणों इत्यादि विषयों के सम्बन्ध में सुरक्षात्मक या आरक्षात्मक व्यवस्था प्रदान करनी होगी।
- सरकार समुद्रतट के निकट रहने वाले लोगों को निःशुल्क समुद्री नमक बनाने या लेने की अनुमति देने के लिए सहमत हो गयी।
- सरकार अफीम एवं शराब की दुकानों पर शांतिपूर्ण प्रदर्शन की अनुमति देने के लिए तैयार हो गयी।
- वायसराय सविनय अवज्ञा के सम्बन्ध में लागू किए गए अध्यादेशों को निरस्त करने के लिए सहमत हो गया।
- सरकार आंदोलन के समय जब्त की गयी सम्पत्तियों को वापस करने के लिए सहमत हो गयी और आंदोलनकारियों को रिहा कर दिया गया।

कांग्रेस ने बहुमत से गांधी-इर्विन समझौते का स्वागत किया। इस समझौते के संदर्भ में के. एम. मुंशी ने कहा– "यह भारत के संवैधानिक इतिहास में एक युग-प्रवर्तक घटना है।" इस समझौते से कांग्रेस के वामपंथी खेमे में निराशा छा गयी। पंडित जवाहर लाल नेहरू तथा सुभाषचंद्र बोस ने इसकी आलोचना में कहा कि-गांधीजी ने पूर्ण स्वतन्त्रता के लक्ष्य को ध्यान में रखे बगैर ही समझौता कर लिया। भगत सिंह, सुखदेव एवं राजगुरु को फाँसी के फंदे से न बचा सकने के कारण युवा कांग्रेसी इस समझौते से नाराज हो गए। इन तीनों को लाहौर में 23 मार्च, 1931 को फाँसी दे दी गई।

मार्च 1931 में कांग्रेस का विशेष अधिवेशन सरदार वल्लभभाई पटेल की अध्यक्षता में कराची में आयोजित किया गया। इस अधिवेशन में 'पूर्ण स्वराज' सहित गांधी-इर्विन पैक्ट को स्वीकार कर लिया गया। साथ में मौलिक अधिकार और कर्तव्य तथा राष्ट्रीय आर्थिक कार्यक्रम से सम्बद्ध प्रस्तावों को भी स्वीकार कर लिया गया। इस अधिवेशन में युवाओं ने गांधीजी को काले झण्डे दिखाए। इसी समय गांधीजी ने कहा था कि– "गांधी मर सकते हैं किंतु गांधीवाद नहीं।" साथ ही कांग्रेस ने गांधीजी को दूसरे गोलमेज सम्मेलन का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्राधिकृत किया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन : 7 सितम्बर से 1 दिसम्बर, 1931)
(2nd Round Table Conference : September to December, 1931)

7 सितम्बर, 1931 को लंदन के सेंट जेम्स पैलेस में द्वितीय गोलमेज सम्मेलन आरम्भ हुआ। इस समय लॉर्ड वेलिंगटन भारत के वायसराय एवं सैमुअल होर भारत विषयक मामलों के मंत्री थे। ब्रिटेन में अनुदारवादी दल (Conservative Party) की सरकार थी। द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में कुल 31 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। 12 सितम्बर, 1931 को गांधीजी एस. एस. राजपूताना नामक जहाज से इंग्लैण्ड पहुँचे। गांधीजी कांग्रेस के प्रतिनिधि के तौर पर डॉ॰ अंसारी को भी सम्मेलन में ले जाना चाहते थे, किंतु वायसराय ने सहमति नहीं दी। सरोजनी नायडू तथा एनी बेसेंट ने कांग्रेस कार्यसमिति की सदस्या के रूप में भारतीय महिलाओं का प्रतिनिधित्व किया। मदनमोहन मालवीय ने राष्ट्रीय दल के प्रतिनिधि के रूप में सम्मेलन में भाग लिया।

द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में केन्द्र एवं प्रांतों में शीघ्र ही ऐसी पूर्णरूपेण स्थाई सरकार की स्थापना करने पर सहमति बनी जिसका सेना, वित्त, रक्षा तथा वैदेशिक मामलों पर पूरा नियंत्रण हो। साम्प्रदायिक समस्या पर लंबी-चौड़ी बहस के पश्चात् भी कोई परिणाम नहीं निकला। गांधीजी ने अनुसूचित जातियों को हिन्दू समाज का अभिन्न अंग बताकर डॉ. बी. आर. अम्बेडकर की दलितों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल की माँग का विरोध किया। अब पृथक निर्वाचक मंडल की माँग मुसलमान, दलित, भारतीय ईसाई, एंग्लो-इंडियन तथा यूरोपियन भी करने लगे। 13 नवम्बर को इन सभी वर्गों के प्रतिनिधियों ने संयुक्त कार्रवाई करने के लिए अल्पसंख्यक समझौते के रूप में एकत्रित होने का निर्णय लिया। अंततः द्वितीय गोलमेज सम्मेलन बिना किसी निर्णय के ही समाप्त हो गया। इस सम्मेलन के दौरान फ्रैंक मोरेस ने गांधीजी के विषय में कहा– "अर्धनग्न फकीर को ब्रिटिश प्रधानमंत्री से वार्ता हेतु सेंट जेम्स पैलेस की सीढ़ियाँ चढ़ने का दृश्य अपने आपमें अनोखा एवं दिव्य प्रभाव उत्पन्न करने वाला था।" 28 दिसम्बर, 1931 को गांधीजी भारत पहुँचे। उनके स्वागत में आयी भीड़ को सम्बोधित करते हुए गांधीजी ने कहा– "मैं खाली हाथ लौटा हूँ, परंतु अपने देश की इज्जत को मैंने बट्टा नहीं लगने दिया।"

सविनय अवज्ञा आंदोलन का द्वितीय चरण : (4 जनवरी, 1932 से 7 अप्रैल, 1934)
(2nd Phase of Civil Disobedience Movement : 4 January 1932 to 7 April, 1934)

गांधीजी के इंग्लैण्ड प्रवास के दौरान लॉर्ड विलिंगटन वायसराय बनकर भारत आए। उन्होंने गांधी-इर्विन समझौते के बहुत से उपबंधों को मानने से इंकार कर दिया तथा इस आंदोलन को बर्बरतापूर्वक कुचलने का प्रयत्न किया। इसी बीच विश्वव्यापी मंदी की चपेट में आने से किसानों के लिए लगान और मालगुजारी का बोझ असहनीय हो गया था। परिणामस्वरूप, सभी वर्गों के बीच व्यापक

Copyright – Drishti The Vision Foundation

असंतोष उत्पन्न हो गया।

महात्मा गांधी ने भारत वापस लौटने पर सरकारी दमनचक्र को पूरे जोरों से चलते पाया। कांग्रेस के अधिकांश नेताओं को गिरफ्तार किया जा चुका था। सरकार द्वारा पूर्णतः नकारात्मक रुख अपनाये जाने की स्थिति में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में सविनय अवज्ञा आंदोलन को फिर से प्रारंभ करने का निर्णय लिया गया तथा इसकी बागडोर स्वयं गाँधीजी ने संभाली। सरकार ने महात्मा गांधी, जवाहरलाल नेहरू, खान अब्दुल गफ्फार खान तथा सरदार वल्लभभाई पटेल सहित लगभग एक लाख बीस हजार लोगों को गिरफ्तार कर लिया तथा कांग्रेस को एक गैर-कानूनी संस्था घोषित कर दिया गया। 16 अगस्त, 1932 को, जब यह आंदोलन अपने चरम पर था, ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड ने सांप्रदायिक पंचाट (Communal Award) की घोषणा कर दी। परिणामस्वरूप, इस आंदोलन की दिशा में अचानक परिवर्तन आ गया।

सांप्रदायिक पंचाट : 16 अगस्त, 1932 *(Communal Award : 16 August, 1932)*

16 अगस्त, 1932 को ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड ने सांप्रदायिक पंचाट (Communal Award) की घोषणा की। ध्यातव्य है कि द्वितीय गोलमेज सम्मेलन में विभिन्न संप्रदायों एवं दलित वर्गों के लिए पृथक निर्वाचक मंडल के विषय पर कोई सहमति नहीं बन पाई थी, इसलिए इस समस्या के निराकरण हेतु ब्रिटिश प्रधानमंत्री रैम्जे मैक्डोनाल्ड को प्राधिकृत किया गया। इस अधिनिर्णय में मुसलमान, यूरोपीय तथा सिख मतदाओं को पृथक-पृथक साम्प्रदायिक निर्वाचक मण्डलों में मतदान कर अपने उम्मीदवारों के चयन का अधिकार प्रदान किया गया। दलितों के लिए भी पृथक निर्वाचक मंडल का प्रावधान किया गया। सरकारी तौर पर अनुसूचित जाति के नाम से दलित वर्ग को एक पृथक् सम्प्रदाय के रूप में स्वीकार कर लिया गया। तथापि, रैम्जे मैक्डोनाल्ड ने वचन दिया था कि वे हिन्दुओं एवं दलितों के मध्य आपसी सहमति से तैयार की गयी किसी वैकल्पिक योजना को स्वीकार कर लेंगे।

गांधीजी का आमरण अनशन तथा पूना समझौता *(Mahatma Gandhi's Fast Unto Death and Poona Pact)*

18 अगस्त, 1932 को गांधीजी ने ब्रिटिश प्रधानमंत्री को यह लिखा कि यरवदा जेल में, जहाँ उन्हें बंदी बनाकर रखा गया था, 20 सितम्बर से वे आमरण अनशन की शुरुआत करेंगे। गांधीजी की माँगों में पृथक निर्वाचन मंडल की समीक्षा करना तथा सामान्य निर्वाचन मण्डल को पुनः स्थापित करना शामिल था। ध्यातव्य है कि गोलमेज सम्मेलन में गांधीजी ने दलितों के लिए पृथक निर्वाचन मंडल के विचार की कड़े शब्दों में निंदा की थी और यह घोषणा की थी कि वे अपना जीवन देकर भी इसका विरोध करेंगे।

पूना समझौता : 26 सितम्बर, 1932 *(Poona Pact : 26 September, 1932)*

गांधीजी के उपवास से पूरे देश में चिन्ता एवं उत्तेजना का माहौल बन गया। 26 सितम्बर, 1932 को पंडित मदनमोहन मालवीय ने पूना में दलित वर्ग के नेता डॉ. बी. आर. अम्बेडकर सहित विभिन्न जातियों एवं राजनीतिक दलों का एक सम्मेलन बुलाया। गाँधीजी के उपवास के छठे दिन पूना में एक समझौता हुआ। इसमें सामान्य निर्वाचन मंडल बनाए जाने के सम्बन्ध में दो शर्तों के आधार पर सहमति हुई जो कि निम्नवत् हैं–

- केन्द्रीय विधानमण्डल में 18 प्रतिशत सीटें दलित वर्गों के लिए आरक्षित की गईं।
- विभिन्न प्रांतीय विधानमण्डलों में दलित वर्गों के लिए 148 सीटें आरक्षित की गईं।

सविनय अवज्ञा आंदोलन का अंत *(End of Civil Disobedience Movement)*

सविनय अवज्ञा आंदोलन की गति साम्प्रदायिक अधिनिर्णय और गांधीजी के आमरण अनशन की पृष्ठभूमि में मंद हो गई। पूना समझौते के पश्चात् गांधीजी अस्पृश्यता-विरोधी आंदोलन में रुचि लेने लगे और इसी परिप्रेक्ष्य में उन्होंने 'हरिजन सेवक संघ' की स्थापना की।

कांग्रेसियों ने बढ़ते हुए ब्रिटिश दबाव के अधीन रहकर भी आंदोलन को जारी रखा। कांग्रेस पर सरकारी प्रतिबंधों के बावजूद मार्च 1933 में दिल्ली कांग्रेस अधिवेशन का आयोजन किया गया। महात्मा गांधी ने हरिजन कल्याण कार्यक्रमों के सम्बन्ध में अधिकाधिक सतर्कता और जागरूकता हेतु 8 मई, 1933 को अपनी तथा अपने सहयोगियों की शुद्धि के लिए 21 दिनों के आत्मशुद्धि अनशन की घोषणा की। गांधीजी के अनशन के उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए सरकार ने उन्हें जेल से रिहा कर दिया। जेल से रिहा होने के पश्चात् गांधीजी ने इस आंदोलन को चार से छह सप्ताह के लिए स्थगित करने हेतु कांग्रेस अध्यक्ष से सिफारिश की। फलतः यह आंदोलन लगभग 12 सप्ताह के लिए स्थगित कर दिया गया। इस दौरान सविनय अवज्ञा आंदोलन शांतिप्रिय हो गया। इसके स्थान पर गाँधीजी

–Copyright – Drishti The Vision Foundation

ने 1 अगस्त, 1933 को व्यक्तिगत सविनय अवज्ञा आंदोलन प्रारंभ किया। यह आंदोलन अपने उद्देश्यों में संक्षिप्त एवं अपने स्वरूप में निराशाजनक होने के कारण प्रगति नहीं कर सका। परिणामस्वरूप, 1934 ई० के प्रारम्भ में इसका अन्त हो गया। 1934 ई. में बिहार में भयंकर भूकम्प आया, जिससे प्रत्येक व्यक्ति का ध्यान राजनीतिक आंदोलनों से हटकर भूकंप की ओर लग गया। गांधीजी ने 1934 में स्वयं को सक्रिय राजनीति से हटा लिया तथा अपना पूरा समय हरिजनों के कल्याण के लिए समर्पित कर दिया।

गांधीजी और हरिजनोत्थान *(Gandhiji and Harijan Welfare)*

गांधीजी ने जेल से रिहा होने के पश्चात् स्वयं को पूरी तरह से हरिजनों की सेवा में समर्पित कर दिया तथा 'अखिल भारतीय छुआछूत विरोधी लीग' की स्थापना की। गांधीजी ने आत्मशुद्धि के लिए रखे उपवास के दौरान कहा था– "या तो छुआछूत को जड़ से समाप्त करो या मुझे अपने बीच से हटा दो, यह मेरी अंतरात्मा की पुकार है, चेतना का निर्देश है।" अपने आंदोलन को वैचारिक आधार प्रदान करने के लिए गांधीजी ने 'हरिजन' नामक साप्ताहिक-पत्र का प्रकाशन किया। गांधीजी को अपने इस अभियान में एम. सी. राजा जैसे हरिजन समाज सुधारक का समर्थन प्राप्त हुआ। उन्होंने हरिजनों के लिए सीटों के आरक्षण के साथ हरिजनों के लिए एक ही निर्वाचक मंडल की इच्छा जाहिर की। बहरहाल, अंबेडकर ने ऐसी किसी भी प्रणाली को अस्वीकार कर दिया जिसमें हरिजनों को हिन्दू कहा जाता था, किंतु अस्पृश्य माना जाता था।

ध्यातव्य है कि 'पूना समझौता' होने के पश्चात् अंबेडकर ने हरिजनों के पृथक प्रतिनिधित्व की माँग को वापस ले लिया। नवम्बर 1933 में गांधीजी ने वर्धा से 'हरिजन यात्रा' प्रारंभ की। इस यात्रा के दौरान उन्हें कई स्थानों पर काले झण्डे दिखाए गए, उनके विरोध में पर्चे बाँटे गए तथा सभाओं में उत्पात मचाया गया। गांधीजी ने करीब 12,500 मील की यात्रा की। बिहार में 15 जनवरी, 1934 को आए भूकंप के विषय में गांधीजी ने कहा– "यह सवर्ण हिन्दुओं के पापों का दैवी दंड है।"

तृतीय गोलमेज सम्मेलन : (17 नवम्बर, 1932 से 24 दिसम्बर, 1932) *(3rd Round Table Conference : 17 November, 1932 to 24 December, 1932)*

17 नवंबर, 1932 को तृतीय गोलमेज सम्मेलन का आयोजन लंदन में किया गया। इस सम्मेलन में कुल 46 प्रतिनिधियों ने भाग लिया। कांग्रेस ने इस सम्मेलन में भाग नहीं लिया। भारत सचिव सर सैमुअल होर इस सम्मेलन के विरोधी थे।

तृतीय गोलमेज सम्मेलन की समाप्ति (24 दिसम्बर, 1932) के बाद एक श्वेत-पत्र जारी किया गया। लॉर्ड लिनलिथगो की अध्यक्षता में इस श्वेत-पत्र पर विचार करने के लिए ब्रिटिश संसद की एक संयुक्त समिति गठित की गई। इस समिति ने अपनी रिपोर्ट पेश कर दी, जिसके आधार पर सैमुअल होर ने ब्रिटिश संसद में 'भारत शासन विधेयक' पेश कर दिया। यह विधेयक 'भारत शासन अधिनियम, 1935' के नाम से जाना जाता है। ध्यातव्य है कि तीनों गोलमेज सम्मेलन एक ही सम्मेलन की विभिन्न अवस्थाएँ थीं जो तीन अलग-अलग सत्रों के रूप में सम्पन्न हुई।

विधानमंडल में पुनः प्रवेश *(Re-entry in Legislature)*

मई, 1934 में पटना के कांग्रेस सम्मेलन में कांग्रेस के सदस्यों को फिर से विधानमण्डलों के लिए चुनाव लड़ने की अनुमति मिल गयी। नवम्बर 1934 में केन्द्रीय विधानमंडल के लिए हुए चुनाव में कांग्रेस को 75 निर्वाचित सीटों में से 45 पर जीत हासिल हुई।

भारत शासन अधिनियम, 1935 *(Government of India Act, 1935)*

लंदन में आयोजित तीन गोलमेज-सम्मेलनों में भारत की वैधानिक समस्या को हल करने के लिए हुई परिचर्चा के आधार पर मार्च 1933 में ब्रिटिश सरकार ने एक श्वेत-पत्र जारी किया। इस श्वेत-पत्र में नए संविधान के प्रस्तावों को लेखबद्ध किया गया था, जिसमें संघात्मक व्यवस्था एवं प्रांतीय स्वायत्तता का प्रस्ताव था। संघीय एवं प्रांतीय स्तरों पर रक्षा एवं विशेष उत्तरदायित्व कार्यपालिका के हाथों में सुरक्षित रखे गये थे।

इस श्वेत-पत्र को संसद की प्रवर समिति की रिपोर्ट के आधार पर ब्रिटिश संसद में एक विधेयक के रूप में प्रस्तुत किया गया। संसद से पास होने के पश्चात् इसे ब्रिटिश सम्राट की अनुमति के लिए भेजा गया। यही भारत शासन अधिनियम, 1935 कहलाया। भारत में संवैधानिक विकास की जो प्रक्रिया 1861 ई० से आरंभ हुई थी उसका अंतिम चरण 1935 ई. का यह भारत शासन अधिनियम ही था।

भारत शासन अधिनियम, 1935 ब्रिटिश संसद द्वारा अब तक पारित किए गए सभी विधानों में सबसे विशाल एवं अनोखा था। यह अंतिम संवैधानिक प्रयास था जो अंग्रेजों द्वारा भारत में लागू किया गया और सबसे अधिक समय तक प्रभावी रहा। स्वतन्त्रता

Copyright – Drishti The Vision Foundation

से पूर्व भारतीयों के हाथों में इसी संवैधानिक व्यवस्था के आधार पर सत्ता का हस्तांतरण किया गया। भारत शासन अधिनियम, 1935 दो भागों में विभाजित था जिसमें भारत में प्रस्तावित संघीय व्यवस्था एवं प्रांतीय स्वायत्तता का उल्लेख किया गया था। इसमें 321 धाराएँ, 14 भाग और 10 अनुसूचियाँ थीं। इस अधिनियम की महत्वपूर्ण विशेषताएँ निम्नवत् थीं--

- इसमें प्रांतों में द्वैध-शासन की समाप्ति तथा सिंध और उड़ीसा सहित 11 प्रांतों में प्रांतीय स्वायत्तता बहाल करने की बात कही गयी थी।
- इसमें ब्रिटिश भारतीय प्रांतों तथा रजवाड़ों को मिलाकर 'अखिल भारतीय संघ' के निर्माण का प्रावधान किया गया था।
- इसमें केन्द्र और प्रांतों के मध्य विधायी शक्तियों का बँटवारा कर दिया गया था। अब राज्य केन्द्र सरकार के प्रतिनिधि नहीं थे, बल्कि प्रांतीय असेंबली के नियंत्रणाधीन प्रशासन की स्वायत्त इकाई थे।
- देशी राज्यों को विशेष प्रतिनिधित्व के साथ-साथ द्वि-सदनीय विधायिका के निर्माण की बात कही गई थी। राज्यों के प्रतिनिधियों को शासकों के द्वारा नियुक्त किया जाना था, न कि चुनाव द्वारा।
- इसके अनुसार केन्द्र में द्वैध-शासन का गठन तो होना था, किंतु संघीय विधायिका को कोई शक्ति नहीं दी गयी थी। विदेश, रक्षा, धार्मिक एवं जनजातीय क्षेत्रों को इसके नियंत्रण से बाहर रखा गया था। गवर्नर जनरल को निर्वाचित सदस्यों के हस्तांतरित विषयों के ऊपर भी विशेष अधिकार दिये गये थे। निर्वाचित सदस्यों को भारतमंत्री के निर्देशन में कार्य करना था।
- इसमें विधायी शक्तियों का त्रिस्तरीय विभाजन किया गया था तथा जिन विषयों को विधायी सूचियों में शामिल नहीं किया गया था, उन पर कानून बनाने का अधिकार गवर्नर जनरल संघीय या प्रांतीय विधायिका को दे सकता था।
- इसमें गवर्नर जनरल वीटो का प्रयोग कर कानून-व्यवस्था, अल्पसंख्यकों के हितों तथा पिछड़े क्षेत्रों के लिए कानून बना सकता था। इसके साथ ही वह ब्रिटिश-वाणिज्य के संरक्षक के रूप में तथा रजवाड़ों के शासकों के विषय में भी स्वयं कानून बना सकता था।
- उपर्युक्त के अतिरिक्त जो अन्य बदलाव भारत सरकार अधिनियम, 1935 द्वारा लाये गए थे, उनमें बर्मा को भारत से पृथक करना, भारतीय रिजर्व बैंक की स्थापना करना तथा संघीय न्यायपालिका का गठन करना प्रमुख थे।

प्रांतीय चुनाव तथा प्रांतों में लोकप्रिय सरकारों का गठन, 1937 *(Provincial Elections and Formation of Popular Governments, 1937)*

भारत शासन अधिनियम, 1935 के पारित होने से भारतीयों को प्रांतीय शासन के प्रबंधन का अधिकार मिल गया। परिणामस्वरूप, अनेक क्षेत्रीय पार्टियों की स्थापना हुई। जवाहरलाल नेहरू ने भी कांग्रेस अध्यक्ष के रूप में स्वीकार किया कि चुनाव लड़ने के सिवा कोई विकल्प नहीं है। बंगाल में फजलुल हक ने 'कृषक प्रजा पार्टी' की स्थापना की। डॉ॰ अम्बेडकर ने मध्य प्रांत एवं बंगाल में 'इंडिपेंडेंस वर्कर्स पार्टी' की स्थापना की।

कांग्रेस को 1937 ई॰ में हुए चुनावों में बड़ी सफलता मिली। मद्रास, संयुक्त प्रांत, मध्य प्रांत, बिहार तथा उड़ीसा में कांग्रेस का पूर्ण बहुमत मिला। इन प्रांतों में कांग्रेस ने अपनी सरकार बनाई। बंबई, असम तथा उत्तर-पश्चिमी प्रांत में सबसे बड़ा दल होने के नाते वहाँ भी इसने अपनी सरकारें बनायीं। बंगाल, पंजाब तथा सिंध में कांग्रेस को बहुमत नहीं मिला।

बंगाल में कृषक प्रजा पार्टी तथा मुस्लिम लीग ने मिलकर संयुक्त सरकार का गठन किया, किंतु बाद में मुस्लिम लीग का मंत्रिमंडल गठित हुआ, जो 14 अगस्त, 1947 तक सत्ता में रहा। पंजाब में यूनियनिस्ट पार्टी एवं मुस्लिम लीग ने मिलकर संयुक्त सरकार का गठन किया। सिंध में भी गैर-कांग्रेसी मंत्रिमंडल गठित हुआ। मुस्लिम लीग का मुसलमानों के एकमात्र प्रतिनिधि होने का दावा खोखला सिद्ध हुआ। पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत में लीग एक भी सीट नहीं जीत सकी। पंजाब के 84 आरक्षित चुनावक्षेत्रों में से केवल 2 तथा सिंध की 33 सीटों में से केवल तीन सीटों पर ही लीग विजयी हुई। बंबई में अंबेडकर की इंडिपेंडेंस लेबर पार्टी ने हरिजनों के लिए आरक्षित 15 सीटों में से 13 पर अपनी जीत दर्ज की।

कांग्रेस सरकारों का कार्यकाल, 1937-39 *(Tenure of Congress Governments, 1937-39)*

1937 ई॰ के चुनावों में मिली सफलता का लाभ उठाते हुए कांग्रेस ने यह प्रमाणित कर दिया कि वह न केवल जनसंघर्षों के लिए जनता का नेतृत्व करने में सक्षम है, बल्कि जनता के हित में राजसत्ता का उपयोग भी कर सकती है।

कांग्रेस शासित राज्यों में प्रशासन को सुचारु रूप से चलाने के लिए एक केन्द्रीय नियंत्रण परिषद का गठन किया, जिसे संसदीय उपसमिति (Parliamentary Sub-Committee) का नाम दिया गया। इस समिति के प्रमुख सदस्यों में सरदार वल्लभभाई पटेल,

Copyright – Drishti The Vision Foundation

मौलाना अबुल कलाम आजाद, डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद इत्यादि नेता थे। इस समय प्रांतों के प्रमुख को 'प्रधानमंत्री' कहा जाता था। संयुक्त प्रांत के प्रधानमंत्री गोविंदबल्लभ पंत थे। बंबई में बी. जी. खेर, मद्रास में सी॰ राजगोपालाचारी, बिहार में श्रीकृष्ण सिन्हा, उड़ीसा में बी॰ एन॰ दास तथा मध्य प्रान्त में एन. बी. खरे ने प्रधानमंत्री का पद ग्रहण किया।

कांग्रेस की सरकारों ने मात्र 28 माह के संक्षिप्त शासनकाल में अनेक कार्य किए, यथा– बिहार में काश्तकारी बिल पारित कराया और प्रांतों में सिंचाई सुविधाओं को बेहतर बनाने का प्रयास किया। उन्होंने कृषकों को महाजन के चंगुल से बचाने के लिए भी अनेक कार्य किए गए। परिणामस्वरूप, किसानों में जागरूकता बढ़ी तथा राजनीतिक चेतना का संचार हुआ।

कांग्रेस सरकारों ने श्रमिकों के कल्याण के लिए बहुत से कानून लागू किए। राजनीतिक कैदियों की रिहाई, नागरिक स्वतन्त्रता तथा रचनात्मक कार्यक्रमों के क्षेत्रों में कांग्रेस ने काफी प्रशंसनीय कार्य किए। अनेक समाचार-पत्रों तथा संगठनों से प्रतिबंधों को हटा दिया गया। परिणामस्वरूप, ये पुनः सक्रिय हो गए। ग्रामीण उद्योगों के उन्नयन, मद्य-निषेध, बुनियादी शिक्षा (प्राथमिक शिक्षा) संवर्धन, अस्पृश्यता निवारण, जनजातियों के कल्याण तथा जेल सुधार के लिए विशेष कार्यक्रमों का आयोजन किया गया।

कांग्रेस के मंत्रालयों ने ईमानदारी, जनसेवा तथा देशभक्ति के मानक स्थापित कर दिए। नेताओं ने स्वयं को जनता की सेवा में समर्पित कर दिया तथा स्वेच्छा से अपना वेतन 500 रुपये प्रतिमाह कर दिया। वे अब रेलवे की द्वितीय या तृतीय श्रेणी में ही यात्रा करते थे। सरकार ने द्वितीय विश्व युद्ध के समय एकपक्षीय घोषणा करके भारत को भी इस युद्ध में शामिल कर लिया। परिणामस्वरूप, कांग्रेस के नेताओं ने त्याग-पत्र दे दिया।

1934-39 के बीच अन्य महत्वपूर्ण राजनीतिक गतिविधियाँ *(Other Political Activities between 1934-39)*

1934-39 ई॰ के बीच अर्थात् द्वितीय विश्व युद्ध प्रारंभ होने से पूर्व भारत में जो अन्य राजनीतिक गतिविधियाँ हुई उनमें कांग्रेस समाजवादी पार्टी का उदय, देशी रियासतों में आंदोलनों (जैसे– प्रजामण्डल आंदोलन) का उदय तथा कांग्रेस के भीतर जवाहरलाल नेहरू और सुभाषचंद्र बोस के नेतृत्व में समाजवादी विचारधारा का प्रभुत्व प्रमुख थी।

सुभाषचंद्र बोस तथा जवाहरलाल नेहरू के नेतृत्व में कांग्रेस में समाजवादी विचारधारा का उद्भव *(Emergence of Socialist Ideology in Congress under the Leadership of S.C. Bose and J.L. Nehru)*

सविनय अवज्ञा आंदोलन के पश्चात् कांग्रेस में दो महत्वपूर्ण परिवर्तन स्पष्टतः परिलक्षित हुए। प्रथम परिवर्तन यह हुआ कि कांग्रेस दो वैचारिक समूहों में विभाजित हो गयी थी–रूढ़िवादी एवं उग्र समूह। रूढ़िवादी समूह का नेतृत्व महात्मा गांधी के हाथ में था तथा उग्र समूह का नेतृत्व सुभाषचंद्र बोस ने किया। द्वितीय परिवर्तन के रूप में कांग्रेस पर समाजवादी प्रभाव बढ़ रहा था तथा इसके विशिष्ट प्रवक्ता के रूप में जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाष चंद्र बोस उभर रहे थे।

इस समय कांग्रेस के भीतर सुभाषचंद्र बोस एक शक्तिशाली नेता के रूप में उभरने लगे। वे गांधीजी के विचारों एवं समझौतावादी नीतियों के प्रखर आलोचक थे। सुभाषचंद्र बोस कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में निर्विरोध निर्वाचित हुए। इस अधिवेशन में दो महत्वपूर्ण प्रस्ताव पारित किए गए। प्रथम, कांग्रेस ने यह घोषणा की कि वे ब्रिटेन को साम्राज्यवादी हितों की रक्षा के लिए भारतीय जनशक्ति और संसाधनों का शोषण नहीं करने देंगे। द्वितीय, कांग्रेस ने देसी रियासतों के शासकों के विरुद्ध वहाँ की जनता को नैतिक समर्थन देने का आश्वासन दिया। सुभाषचंद्र बोस का यह मानना था कि द्वितीय विश्व युद्ध वह अवसर है जिसका प्रयोग स्वतन्त्रताप्राप्ति के लिए किया जा सकता है। दूसरी ओर, महात्मा गांधी एवं जवाहरलाल नेहरू को ब्रिटेन की संकटापन्न स्थिति का लाभ उठाने का विचार पसंद नहीं आया। सुभाषचंद्र बोस ने औद्योगीकरण के आधार पर देश का आर्थिक विकास करने के लिए 'राष्ट्रीय योजना समिति' का गठन किया। गांधीजी औद्योगीकरण के विरोधी थे, इसलिए बोस और गांधीजी के मध्य मतभेद और भी गहरे हो गए।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

जवाहरलाल नेहरू तथा सुभाषचंद्र बोस की समाजवादी विचारधाराओं का तुलनात्मक विश्लेषण *Comparative Analysis of Socialist Ideologies of J.L. Nehru and S.C. Bose*	
जवाहर लाल नेहरू	**सुभाषचंद्र बोस**
1. नेहरू का समाजवाद गांधीवादी एवं मार्क्सवादी विचारधाराओं के द्वन्द्व से उत्पन्न हुआ था। नेहरू मार्क्स के वर्ग संघर्ष के सिद्धान्त में विश्वास तो करते थे, किंतु हिंसक क्रांति के स्थान पर शांतिपूर्ण संसदीय संस्थाओं के माध्यम से परिवर्तन के पक्षधर थे अर्थात् वे गांधीजी के अहिंसा के विचार से प्रभावित थे। 2. नेहरू जी एक ओर समाजवादी विचारधारा से प्रेरित आर्थिक समानता के मॉडल से प्रभावित थे, वहीं दूसरी ओर उदारवाद की वैयक्तिक स्वतन्त्रता की अवधारणा का भी सम्मान करते थे। वे व्यक्ति की स्वतंत्रता को सीमित कर आर्थिक प्रगति की गति को तीव्र करने के पक्ष में नहीं थे। 3. नेहरू जी के समाजवाद में वितरण की जगह उत्पादन पर अधिक बल दिया गया था। उनका कहना था कि गरीबी का कोई समाजवाद नहीं होता, इसलिए उत्पादन के ढाँचे को प्रभावित किए बिना समाजवाद के लक्ष्य को प्राप्त नहीं किया जा सकता। उन्होंने अपने समाजवाद को 'समाज के समाजवादी ढाँचे का विकास' कहा।	1. सुभाषचंद्र बोस का समाजवाद प्राचीन भारतीय परंपरा से प्रभावित था। वे वेद, शास्त्र, उपनिषद, बौद्ध चिन्तन इत्यादि से अत्यधिक प्रभावित थे। 2. सुभाषचंद्र बोस के समाजवाद में मार्क्सवाद तथा फासीवाद का मिश्रण भी देखने को मिलता है। इस मिश्रण को उन्होंने भारतीय परिस्थितियों के अनुकूल साम्यवाद का नाम दिया। वे समर्पित राष्ट्रपति थे तथा स्वतंत्रता के लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए कोई भी कदम उठाने के लिए तैयार थे। 3. सुभाषचंद्र बोस के समाजवादी लक्ष्य को एक दल की तानाशाही सरकार के द्वारा पूरा किया जाना था, इसलिए इसमें वैयक्तिक स्वतन्त्रता के लिए कोई स्थान नहीं था। वे एक अधिनायकवादी सरकार के समर्थक थे, किन्तु वे इस व्यवस्था को केवल संक्रमण काल के लिए ही उपयुक्त मानते थे। ऐसा कहा जा सकता है कि संभवतः वे वियना के मॉडल से प्रभावित थे।

कांग्रेस का त्रिपुरी संकट, 1939 *(Tripuri Crisis of Congress, 1939)*

सुभाषचंद्र बोस को 1938 में कांग्रेस के हरिपुरा अधिवेशन में निर्विरोध अध्यक्ष चुना गया। इस अधिवेशन के दौरान सुभाषचंद्र बोस ने जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में एक 'राष्ट्रीय योजना समिति' का गठन किया। इस समिति के अन्य सदस्यों में घनश्याम दास बिड़ला, लाला श्रीराम तथा विश्वेश्वरैया शामिल थे। सन् 1939 में कांग्रेस के त्रिपुरी वार्षिक अधिवेशन में सुभाषचंद्र बोस ने गांधीजी के पसंदीदा उम्मीदवार पट्टाभिसीतारमैया को हराकर अध्यक्ष पद का चुनाव जीत लिया। गांधीजी ने पट्टाभिसीतारमैया की हार को अपनी हार बताया तथा कांग्रेस अध्यक्ष को कार्यसमिति के सदस्यों के नाम सुझाने से भी इंकार कर दिया। परिणामस्वरूप, अप्रैल 1939 में सुभाषचंद्र बोस ने अध्यक्ष पद से इस्तीफा दे दिया। डॉ॰ राजेन्द्र प्रसाद को कांग्रेस का नया अध्यक्ष बनाया गया।

कांग्रेस से इस्तीफा देने के पश्चात् 3 मई, 1939 को सुभाषचन्द्र बोस ने फॉरवर्ड ब्लॉक (Forward Block) की स्थापना की। सुभाषचंद्र बोस को कांग्रेस के सभी पदों हेतु तीन वर्ष के लिए अयोग्य घोषित कर दिया गया।

देशी रियासतों का संघर्ष *(Conflict of Princely States)*

प्रजामंडल आंदोलन *(Prajamandal Movement)*

ब्रिटिश भारत में लगभग 600 रियासतें सम्मिलित थीं, जिन्हें ब्रिटिश सरकार देशी राज्य (Princely States) के नाम से सम्बोधित किया करती थी। इनमें सबसे बड़ी रियासत हैदराबाद तथा सबसे छोटी बिलवारी थी। इन रियासतों में भारत की कुल जनसंख्या का लगभग एक-तिहाई भाग निवास करती थी तथा यहाँ के शासक ब्रिटिश सरकार के अधीनस्थ मित्र के समान कार्य करते थे।

विभिन्न रियासतों में असहयोग आंदोलन के दौरान तथा उसके बाद राज्य की प्रजा द्वारा प्रजामंडलों (राज्य की जनता के सम्मेलनों) की स्थापना की गई। इनका उद्देश्य राज्यों के प्रशासनिक उदारीकरण तथा लोकतंत्र की स्थापना पर बल देना था। धीरे-धीरे यह आंदोलन अपने स्वरूप में व्यापक होता गया तथा विभिन्न राज्यों की गतिविधियों में समन्वय स्थापित होने लगा। दिसम्बर 1927 में अखिल भारतीय राज्यों की जनता का सम्मेलन आयोजित किया गया। इस सम्मेलन को आयोजित करने में बलवंत राय मेहता, मणिलाल कोठारी, जी. आर. अभ्यंकर की प्रमुख भूमिका थी। इन सभी गतिविधियों के परिणामस्वरूप रियासतों की जनता में व्यापक जागृति उत्पन्न हुई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इस आंदोलन को कांग्रेस का समर्थन प्राप्त था। जवाहरलाल नेहरू ने 1929 ई॰ में कांग्रेस के लाहौर अधिवेशन में इन रियासतों के प्रति कांग्रेस की नीति के विषय में कहा था– "भारतीय राज्य (देशी रियासतें) शेष भारत से अलग नहीं रह सकते। जिन्हें इन राज्यों के भविष्य के निर्धारण का अधिकार होगा, वह इन राज्यों की जनता ही होगी।"

सविनय अवज्ञा आंदोलन से उत्साहित होकर 1930 के दशक में इन रियासतों की जनता ने भी निर्वाचन द्वारा जन-प्रतिनिधित्व तथा स्वशासन के सिद्धांतों की स्वीकृति के लिए कई आंदोलन चलाए। इन आंदोलनों में बहुत से कांग्रेसियों ने भाग लिया।

राजकोट राज्य के आंदोलन के समर्थन में गांधीजी ने अनशन किया। कांग्रेस के हरिपुरा (1938) अधिवेशन में भी देशी राज्यों अर्थात् रियासतों की समस्या चर्चा का एक प्रमुख मुद्दा था।

पाकिस्तान की माँग: उग्र साम्प्रदायिकता का उदय *(Demand of Pakistan: Emergence of Radical Communalism)*

कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय के छात्र चौधरी रहमत अली ने पृथक् राज्य पाकिस्तान (PAKISTAN) की परिकल्पना को 1933 में जन्म दिया। इस परिकल्पित पाकिस्तान में पंजाब, अफगान प्रांत, कश्मीर, सिंध, बलूचिस्तान आदि क्षेत्र सम्मिलित थे। यद्यपि, पाकिस्तान की माँग का मूल सन् 1930 में मुस्लिम लीग के इलाहाबाद अधिवेशन में मुहम्मद इकबाल के भाषण में खोजा जाता है जिसमें एक पश्चिमोत्तर भारतीय मुस्लिम राज्य की आवश्यकता का उल्लेख था। लेकिन, इस भाषण के संदर्भ से स्पष्ट है कि इस महान उर्दू कवि और देशभक्त का उद्देश्य देश को विभाजित करने का नहीं था बल्कि पश्चिमोत्तर भारत के मुस्लिम बहुल क्षेत्रों का पुनर्गठन करके उसे ढीले-ढाले भारतीय संघ में एक स्वायत्त इकाई बनाना था।

मुस्लिम लीग को 1937 के चुनावों में मिली पराजय से व्यथित होकर मुहम्मद अली जिन्ना ने गांधीजी पर हिन्दू राज्य की स्थापना का आरोप लगाया। उन्होंने 'द्विराष्ट्रीय सिद्धांत' का प्रतिपादन किया तथा साम्प्रदायिकता को भड़काया। मुहम्मद अली जिन्ना ने अपने एक भाषण में कहा– "हम न तो अंग्रेजों को और न ही गांधी को मुसलमानों पर शासन करने देंगे। हम स्वतन्त्र होना चाहते हैं।" 23 मार्च, 1940 को मुस्लिम लीग के लाहौर अधिवेशन की अध्यक्षता करते हुए मुहम्मद अली जिन्ना ने एक अलग मुस्लिम राष्ट्र 'पाकिस्तान' की माँग की। वैसे, जिन्ना द्वारा प्रस्तुत प्रस्ताव में पाकिस्तान शब्द का जिक्र नहीं था। जिन्ना ने इस अधिवेशन में भाषण देते हुए कहा कि एक मुस्लिम राष्ट्र के अतिरिक्त उन्हें कुछ और स्वीकार नहीं।

द्वितीय विश्व युद्ध के समय ब्रिटिश युद्ध-नीतियों के विरोध में कांग्रेस सरकारों के त्याग-पत्र देने तथा युद्धोपरांत पूर्ण स्वतन्त्रता की माँग ने ब्रिटिश सरकार को बेचैन कर दिया। चारों ओर से अंतरराष्ट्रीय दबाव भी बढ़ता जा रहा था। इन परिस्थितियों में अंग्रेजों ने अपनी पुरानी 'बाँटो और राज करो' की नीति का सहारा लिया। सरकार ने मुस्लिम लीग को कांग्रेस के प्रतिपक्षी के रूप में संरक्षण प्रदान किया और मुस्लिम लीग ने अपनी राजनीतिक शक्ति का प्रयोग आरंभ कर दिया।

द्वितीय विश्व युद्ध और राष्ट्रीय आंदोलन *(2nd World War and National Movement)*

द्वितीय विश्व युद्ध के प्रारंभ होने के साथ ही वायसराय लिनलिथगो ने भारत को 'जर्मनी के विरुद्ध युद्धरत राष्ट्र' घोषित कर दिया। देश में आपातकालीन कानून लागू किए गए तथा प्रांतीय सरकारों की स्वायत्तता पर नियंत्रण लगा दिया गया। जनता के नागरिक अधिकार प्रतिबंधित कर दिए गए। कांग्रेस ने ब्रिटेन को युद्ध के समय इस शर्त पर समर्थन देना स्वीकार किया कि भारत को स्वतन्त्र राष्ट्र घोषित किया जाना चाहिए और केन्द्र में जनता का वास्तविक प्रतिनिधित्व करने वाली सरकार की स्थापना की जानी चाहिए। तत्कालीन कांग्रेस-अध्यक्ष सुभाषचंद्र बोस सहयोग की नीति के विरोधी थे। उनका कहना था कि द्वितीय विश्व युद्ध एक दुर्लभ अवसर है, जिसका प्रयोग भारत को स्वतंत्र कराने के लिए किया जाना चाहिए।

गांधीजी ने उनकी इस नीति के विरोध में कहा कि भारत को ब्रिटेन की बर्बादी की कीमत पर स्वतन्त्रता नहीं चाहिए। 8 से 15 सितम्बर, 1939 तक कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक में यह तय किया गया कि भारत के लिए युद्ध एवं शांति के मामले का निर्णय भारत की जनता द्वारा ही किया जाना चाहिए। इस मामले में ब्रिटिश सरकार के नकारात्मक जवाब के कारण कांग्रेस की उच्च कमान ने कांग्रेस मंत्रिमंडलों को त्याग-पत्र देने का निर्देश दिया। परिणामस्वरूप, कांग्रेसियों ने मंत्रिमंडल से इस्तीफा दे दिया। इसके बाद ब्रिटिश सरकार ने मुस्लिम लीग को प्रोत्साहन देकर उसे अपनी युद्ध-नीति का एक मोहरा बना लिया।

द्वितीय विश्व युद्ध का भारत पर प्रभाव *(Effect of Second World War on India)*

- जर्मनी के सोवियत संघ (रूस) पर आक्रमण करते ही भारतीय साम्यवादियों ने अपना ब्रिटिश-विरोधी रुख बदल लिया।
- जापान के युद्ध में प्रवेश करने तथा रंगून एवं अंडमान पर अधिकार करने से भारत में तहलका मच गया। परिणामस्वरूप, 'भारत छोड़ो आंदोलन' शुरू करने का निर्णय लिया गया।
- सुभाषचंद्र बोस ने 'आजाद हिंद फौज' की स्थापना की।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

अगस्त प्रस्ताव : 8 अगस्त, 1940 *(August Offer: 8 August, 1940)*

कांग्रेस मंत्रिमंडलों के त्याग-पत्र के पश्चात् मार्च 1940 में कांग्रेस का वार्षिक अधिवेशन रामगढ़ में आयोजित किया गया। इसमें कांग्रेस ने ब्रिटिश सरकार से इस शर्त पर सहयोग का प्रस्ताव रखा कि केन्द्र में अंतरिम राष्ट्रीय सरकार की स्थापना की जाए। युद्ध के दौरान कांग्रेस का सहयोग प्राप्त करने की मंशा से वायसराय लॉर्ड लिनलिथगो ने कांग्रेस के समक्ष एक प्रस्ताव रखा जिसे 'अगस्त प्रस्ताव' के नाम से जाना जाता है। इस प्रस्ताव में कांग्रेस की अंतरिम सरकार के गठन की माँग को अस्वीकार कर दिया गया था। अगस्त प्रस्ताव में निम्नलिखित प्रावधान थे–

- वायसराय की सलाहकारी परिषद् का विस्तार किया जाएगा तथा कार्यकारिणी में भारतीय प्रतिनिधियों की संख्या बढ़ाई जाएगी।
- युद्ध के पश्चात् प्रतिनिधिमूलक संविधान-निर्मात्री सभा की स्थापना की जाएगी।
- युद्ध संबंधी विषयों पर एक परामर्श समिति का गठन किया जाएगा।
- भारत का शासन किसी भी ऐसे समुदाय को नहीं सौंपा जाएगा जिसका विरोध कोई अन्य प्रभावशाली वर्ग कर रहा हो।

कांग्रेस ने अगस्त प्रस्ताव को पूरी तरह से अस्वीकार कर दिया। जवाहरलाल नेहरू ने कहा– "जिस अधिराज्य के विचार पर यह प्रस्ताव आधारित है वह दरवाजे में जड़ी जंग लगी कील की तरह है।" मुस्लिम लीग ने अगस्त प्रस्ताव का स्वागत किया क्योंकि उसमें यह प्रतिज्ञा थी कि "भावी संविधान उनकी अनुमति से ही बनेगा।"

ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने एक घोषणा में कहा कि 'एटलांटिक चार्टर' भारत पर लागू नहीं होगा। इस घोषणा के पश्चात् भारतीयों में यह भावना प्रबल हो गई कि सरकार भारतीय स्वतन्त्रता के प्रति ईमानदार नहीं है।

व्यक्तिगत सत्याग्रह : 17 अक्टूबर, 1940 *(Individual Satyagrah : 17 October, 1940)*

कांग्रेस ने युद्ध से अपने को अलग सिद्ध करने तथा अगस्त प्रस्ताव के विरोध में व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ किया। 17 अक्टूबर, 1940 को पवनार आश्रम (वर्धा) से व्यक्तिगत सत्याग्रह प्रारंभ किया गया। विनोबा भावे प्रथम सत्याग्रही थे। तदोपरांत 17 दिसम्बर को इस सत्याग्रह को स्थगित कर दिया गया तथा 5 जनवरी, 1941 से जवाहरलाल नेहरू ने इसे पुनः प्रारंभ किया। इस आंदोलन को 'दिल्ली चलो' आंदोलन के नाम से जाना जाता है। इस आंदोलन के दूसरे चरण में 20,000 से अधिक सत्याग्रहियों को गिरफ्तार किया गया। इस आंदोलन का मुख्य उद्देश्य ब्रिटिश सरकार के इस दावे का गलत साबित करना था कि भारतीय जनता द्वितीय विश्व युद्ध में ब्रिटिश सरकार के साथ है।

क्रिप्स प्रस्ताव, 1942 *(Cripps Offer, 1942)*

द्वितीय विश्व युद्ध में मित्र राष्ट्रों की कमजोर हो रही स्थिति से ब्रिटेन पर यह दबाव बढ़ता जा रहा था कि वह भारतीय जनता के साथ न्यायपूर्ण व्यवहार करे। ब्रिटिश प्रधानमंत्री विंस्टन चर्चिल ने यह घोषणा की कि वे स्टैफर्ड क्रिप्स के नेतृत्व में एक मिशन भारत भेजेंगे, जिसका कार्य भारत के राजनीतिक और वैधानिक गतिरोधों को दूर करना होगा। 23 मार्च, 1942 को क्रिप्स मिशन भारत पहुँचा तथा 30 मार्च, 1942 को क्रिप्स ने एक प्रस्ताव प्रस्तुत किया। इस प्रस्ताव की मुख्य शर्तें निम्नवत् थीं–

- युद्धोपरांत भारत को डोमेनियन स्टेट (Dominion State) का दर्जा दिया जाएगा। भारत किसी भी घरेलू या बाहरी सत्ता के अधीन नहीं होगा। यदि भारत चाहे तो ब्रिटिश राष्ट्रमंडल से संबंध विच्छेद कर सकता है।
- युद्धोपरांत एक संविधान-निर्मात्री परिषद का गठन किया जाएगा। इस परिषद में ब्रिटिश भारत तथा रियासतों अथवा देशी रजवाड़ों दोनों के प्रतिनिधि शामिल होंगे।
- ब्रिटिश भारत के किसी भी प्रांत को नया संविधान स्वीकार न करने की स्थिति में वर्तमान संवैधानिक स्थिति को बनाए रखने का अधिकार होगा। जिन प्रांतों द्वारा नए संविधान को स्वीकार नहीं किया जायेगा, उसे सम्राट की सरकार अलग से नया संविधान उपलब्ध करायेगी।
- युद्ध के दौरान भारतीय जनता के प्रमुख वर्गों के प्रतिनिधियों को सम्मिलित कर एक कार्यकारी परिषद की स्थापना की जाएगी, किन्तु रक्षा मंत्रालय ब्रिटिश भारत की सरकार के पास ही रहेगा।

क्रिप्स प्रस्ताव को कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग दोनों ने अस्वीकार कर दिया था। कांग्रेस ने कहा कि "केवल भविष्य के वायदे से संतुष्टि नहीं मिलेगी, हमें केवल वास्तविक स्वतन्त्रता से संतुष्टि मिल सकती है।" मुस्लिम लीग ने भी इसकी आलोचना की क्योंकि पृथक निर्वाचक मंडल की माँग को अस्वीकार कर दिया गया था। साथ ही सांप्रदायिक आधार पर देश को विभाजित करने संबंधी उनकी माँग को भी अस्वीकार कर दिया गया था। कांग्रेस को संविधान-निर्मात्री सभा की स्थापना पर भी आपत्ति थी क्योंकि देशी रियासतों के प्रतिनिधियों को उनके शासकों द्वारा नामित किया जाना था। प्रांतों के संघ में शामिल न होने से सम्बन्धित प्रावधान भी भारतीय एकता के लिए गंभीर खतरा थे।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

इस प्रस्ताव का मुख्य उद्देश्य युद्ध के दौरान सभी भारतीय वर्गों एवं दलों से सहयोग प्राप्त करना था। इस प्रस्ताव में भारतीय हितों की परवाह नहीं की गयी थी। गांधीजी ने क्रिप्स प्रस्ताव के सम्बन्ध में कहा कि "यह एक आगे की तारीख का चेक" (Post-dated Cheque) था जिसमें जवाहरलाल नेहरू ने "जिसका बैंक नष्ट होने वाला था" वाक्य जोड़ दिया।

भारत छोड़ो आंदोलन, 1942 *(Quit India Movement, 1942)*

क्रिप्स मिशन (Cripps Mission) के भारत से खाली हाथ वापस लौट जाने के उपरांत भारतीयों को विश्वासघात का अहसास हुआ। द्वितीय विश्व युद्ध में जापान ने सिंगापुर, बर्मा तथा मलाया पर सफलतापूर्वक अपना नियंत्रण स्थापित कर लिया था, जिससे भारत की पूर्वी सीमा पर जापानियों के आक्रमण का खतरा बढ़ गया था। इस प्रकार भारत भी वास्तविक संघर्ष की परिधि में आ गया था। इन परिस्थितियों को गांधीजी ने इस प्रकार व्यक्त किया– "भारत में अंग्रेजों की उपस्थिति जापान के लिए भारत पर आक्रमण करने का आमंत्रण है और उनकी यहाँ से वापसी के द्वारा यह संताप (Anguish) भी समाप्त हो जाएगा।" गांधीजी ने अपनी पत्रिका 'हरिजन' में लिखा कि "अंग्रेजों, भारत को जापान के लिए मत छोड़ो, बल्कि भारत को भारतीयों के लिए व्यवस्थित रूप से छोड़ जाओ।" भारत छोड़ो आंदोलन अगस्त क्रांति (August Movement) के नाम से भी जाना जाता है।

वर्धा प्रस्ताव : 14 जुलाई, 1942 *(Wardha Resolution : 14 July, 1942)*

14 जुलाई, 1942 ई० को वर्धा में कांग्रेस कार्यसमिति की बैठक का आयोजन किया गया, जिसमें एक प्रस्ताव पारित किया गया। इस प्रस्ताव को सामान्यतः 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव के नाम से जाना जाता है। इसमें नए सिरे से यह माँग की गई थी कि "भारत में ब्रिटिश शासन शीघ्र समाप्त होना चाहिए।" इस प्रस्ताव में यह उद्घोषित किया गया कि "यदि यह अपील सफल नहीं होती है तो कांग्रेस न चाहते हुए भी मजबूर होकर अपनी उन सभी अहिंसात्मक शक्तियों का इस्तेमाल करेगी जो उसने सन् 1920 से ही संचित कर रखी है।"

आंदोलन का आरंभ एवं प्रगति *(Beginning and Progress of the Movement)*

1 अगस्त, 1942 को इस आंदोलन की घोषणा से पूर्व इलाहाबाद में 'तिलक दिवस' मनाया गया। नेहरू जी ने इस अवसर पर कहा कि "हम आग से खेलने जा रहे हैं। हम दुधारी तलवार का प्रयोग करने जा रहे हैं, जिसकी चोट उल्टी हमारे ऊपर भी पड़ सकती है।" 8 अगस्त, 1942 को बंबई के ऐतिहासिक ग्वालिया टैंक मैदान (अगस्त क्रांति मैदान) में अखिल भारतीय कांग्रेस की बैठक का आयोजन किया गया।

8 अगस्त, 1942 ई० को कांग्रेस कार्यसमिति ने ऐतिहासिक 'भारत छोड़ो' प्रस्ताव को थोड़े बहुत संशोधनों के बाद स्वीकार कर लिया। इस ऐतिहासिक सम्मेलन में गांधीजी ने लगभग 70 मिनट तक भाषण दिया, उन्होंने कहा– "मैं आपको एक मंत्र देता हूँ,– करो या मरो (Do or Die)" जिसका अर्थ था भारत की जनता को देश की आजादी के लिए हर ढंग से प्रयत्न करना होगा। कांग्रेस के आधिकारिक इतिहासकार डॉ० पट्टाभिसीतारमैया ने महात्मा गांधी के विषय में लिखा– "वास्तव में गांधीजी उस दिन अवतार और पैगम्बर की शक्ति से प्रेरित होकर भाषण दे रहे थे।"

भारत छोड़ो आंदोलन के दौरान गिरफ्तार हुए नेता

नेता		जेल
महात्मा गांधी	:	आगा खाँ पैलेस, पूना
सरोजिनी नायडू	:	आगा खाँ पैलेस, पूना
कस्तूरबा गांधी	:	आगा खाँ पैलेस, पूना
जवाहरलाल नेहरू	:	अल्मोड़ा जेल
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	:	बाँकीपुर जेल (पटना)
मौलाना अबुल कलाम आजाद	:	वाकुड़ा जेल
कांग्रेस कार्यसमिति के अन्य सदस्य	:	अहमदनगर दुर्ग

9 अगस्त, 1942 की सुबह 'ऑपरेशन जीरो आवर' के तहत कांग्रेस के सभी बड़े नेताओं को गिरफ्तार कर लिया गया। सरकार ने कांग्रेस को अवैधानिक संस्था (Illegal Organisation) घोषित कर दिया तथा इसकी संपत्ति को जब्त कर लिया गया। इसके साथ ही जुलूसों को भी प्रतिबंधित कर दिया गया। महात्मा गांधी को गिरफ्तार कर पूना के आगा खाँ पैलेस में रखा गया। कांग्रेस कार्यकारिणी के सदस्यों को अहमदनगर के दुर्ग में रखा गया। इन सभी दमनात्मक कार्यवाहियों से जनता में आक्रोश फैल गया। यह आंदोलन तीन चरणों से होकर गुजरा जो कि निम्नवत् हैं:

प्रथम चरण: 9 से 13 अगस्त तक के इस चरण में दिल्ली, बम्बई, पुणे तथा अहमदाबाद इत्यादि स्थानों पर व्यापक तौर पर हिंसा एवं विरोध प्रदर्शन हुए। सार्वजनिक संपत्ति, यथा– रेल, डाक और तार को बड़े पैमाने पर नुकसान पहुँचा। सेना एवं पुलिस के विरुद्ध प्रदर्शन एवं हिंसा की कई वारदातें हुईं। इन दिनों की घटनाओं को 'महान अगस्त विद्रोह' के नाम से जाना जाता है।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

द्वितीय चरण: इस चरण में यह आंदोलन ग्रामीण क्षेत्रों में केन्द्रित हो गया। देश के अनेक भागों में समानान्तर सरकारों की स्थापना हुई। बलिया में चित्तू पांडेय के नेतृत्व में पहली समानान्तर सरकार का गठन हुआ। सर्वाधिक लंबे समय तक चलने वाली समानान्तर सरकार 'सतारा' की थी जो 1945 ई. तक कार्यरत रही। इसका नेतृत्व 'नाना पाटिल' ने किया। बंगाल के मिदनापुर जिले में तामलुक में गठित राष्ट्रीय सरकार, जिसे जातीय सरकार (Ethnic Government) के नाम से जाना जाता है, सन् 1944 तक कायम रही। तामलुक की 73-वर्षीय किसान विधवा मतंगिनी हजारा ने गोली लगने के बाद भी राष्ट्रीय ध्वज को ऊँचा रखा।

तृतीय चरण: इस चरण में यह आंदोलन अपने स्वरूप में भूमिगत तथा क्रांतिकारी हो गया। जिन नेताओं ने भूमिगत रहकर इस आंदोलन को नेतृत्व प्रदान किया उनमें जयप्रकाश नारायण, राममनोहर लोहिया, अरुणा आसफ अली, सुचिता कृपलानी, बीजू पटनायक, अच्युत पटवर्धन इत्यादि प्रमुख हैं। बंबई से उषा मेहता, राममनोहर लोहिया, वी. एम. खादर इत्यादि नेताओं ने भूमिगत रहकर कई महीनों तक कांग्रेस रेडियो का प्रसारण किया। इस रेडियो स्टेशन का कार्य कांग्रेस से सम्बन्धित सूचनाओं का प्रसारण करना था। यह स्टेशन बंबई में स्थापित था जो ब्रिटिश सरकार द्वारा नवम्बर 1942 में जब्त कर लिया गया।

इस आंदोलन का ब्रिटिश सरकार ने बड़ी क्रूरता से दमन किया। कांग्रेस के संगठनों को प्रतिबंधित कर दिया गया। प्रदर्शनकारियों पर लाठीचार्ज, कोड़े बरसाना, जेलों में बंद करना, शारीरिक एवं मानसिक यातनाएँ देना जैसी अनेक नृशंस घटनाएँ हुई। ब्रिटिश सरकार की दमनात्मक तथा अमानवीय नीतियों के विरोध में गांधीजी ने 10 फरवरी, 1943 को 21 दिन के उपवास की घोषणा की। गांधीजी द्वारा उपवास की घोषणा के पश्चात् ब्रिटिश सरकार पर दबाव बढ़ने लगा, किन्तु ब्रिटिश प्रधानमंत्री चर्चिल ने कहा कि "जब हम दुनिया में हर जगह जीत रहे हैं तब ऐसे समय एक कमबख्त बुड्ढे के समक्ष कैसे झुक सकते हैं, जो वर्षों से हमारा दुश्मन रहा है।" वायसराय की कार्यकारिणी के सदस्य एम. एस. एनी, एन. आर. सरकार तथा एच. पी. मोदी ने गांधीजी की रिहाई की माँग करते हुए इस्तीफा दे दिया। उस समय के हालात बेहद गंभीर एवं चिंताजनक थे। जहाँ एक ओर देश-विदेश से गांधीजी की रिहाई के लिए सरकार पर दबाव बढ़ता जा रहा था, वहीं दूसरी ओर सरकार आगा खाँ पैलेस में गांधीजी के अंतिम संस्कार की तैयार कर रही थी। गांधीजी ने सरकार को चकमा देते हुए 7 मार्च, 1943 को भूख-हड़ताल समाप्त कर दी। 6 मई, 1944 को खराब स्वास्थ्य के कारण गांधीजी को जेल से रिहा कर दिया गया, किंतु उनकी रिहाई से पहले ही उनकी पत्नी (कस्तूरबा गांधी) तथा निजी सचिव (महादेव देसाई) की मृत्यु हो चुकी थी।

विभिन्न-दलों की प्रतिक्रिया *(Reaction of Different Parties)*

भारत छोड़ो आंदोलन को सभी दलों का सहयोग प्राप्त नहीं हुआ। तत्कालीन भारतीय राजनीतिक दलों में मुस्लिम लीग ने भारत छोड़ो आंदोलन की आलोचना करते हुए कहा– "आंदोलन का लक्ष्य भारतीय स्वतन्त्रता नहीं, वरन् भारत में हिन्दू साम्राज्य की स्थापना करना है।" भारतीय साम्यवादी दल ने भी इस आंदोलन की आलोचना की। अंबेडकर ने कहा कि यह 'अनुत्तरदायित्व पूर्ण और पागलपन भरा कार्य' है। सर तेजबहादुर सप्रू ने इस प्रस्ताव को 'अविचारित तथा असामयिक' बताया। हिंदू महासभा तथा अकाली दल ने भी इसकी आलोचना की।

आंदोलन का प्रभाव *(Effect of the Movement)*

भारत छोड़ो आंदोलन अपने उद्देश्य में सफल नहीं रहा क्योंकि इससे भारत को स्वतन्त्रता प्राप्त नहीं हुई। किंतु, इसने भारतीय जनमानस में चेतना का संचार किया तथा विश्व के कई देशों को भारतीय जनमानस के साथ खड़ा कर दिया। चीन के तत्कालीन प्रधान सेनापति च्यांग-काई-शेक ने अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट को पत्र में लिखा– "अंग्रेज़ों के लिए श्रेष्ठ नीति यह होगी कि वे भारत को पूर्ण स्वतन्त्रता दे दें।" अमेरिकी राष्ट्रपति रूजवेल्ट ने भी इसका समर्थन किया। सरदार पटेल ने इस आंदोलन के विषय में लिखा कि "भारत में ब्रिटिश राज्य के इतिहास में ऐसा विप्लव कभी नहीं हुआ जैसा कि पिछले तीन वर्षों में हुआ। लोगों की प्रतिक्रिया पर हमें गर्व है।" प्रख्यात इतिहासकार डॉ॰ ईश्वरी प्रसाद ने इसकी तुलना फ्रांस के इतिहास में बॉस्टिल के पतन या रूस की अक्टूबर क्रांति (October Revolution) से की।

सुभाषचंद्र बोस एवं आजाद हिंद फौज *(Subhas Chandra Bose and INA)*

सुभाषचंद्र बोस ने कांग्रेस से त्याग-पत्र देकर 1939 ई॰ में फॉरवर्ड ब्लॉक नामक संस्था का गठन किया। 2 जुलाई, 1940 को ब्रिटिश सरकार ने विद्रोह भड़काने का आरोप लगाकर सुभाषचंद्र बोस को गिरफ्तार कर जेल में डाल दिया गया। जेल में अनशन करने से उनकी स्थिति नाजुक हो गई। परिणामस्वरूप, सरकार ने उन्हें कलकत्ता स्थित एल्गिन रोड के उनके निवास-स्थान पर नजरबंद कर दिया। जनवरी 1941 में वे एक पठान (जियाउद्दीन) के वेश में घर से भाग निकले तथा पेशावर पहुँचे। वहाँ वे अपने साथी भगतराम के सहयोग से काबुल पहुँचे तथा इटली होते हुए जर्मनी पहुँचे। बर्लिन में उन्होंने हिटलर से मुलाकात की तथा आगामी

Copyright – Drishti The Vision Foundation

योजनाओं के लिए हर संभव सहयोग प्राप्त करने का आश्वासन हिटलर से प्राप्त किया। सुभाषचंद्र बोस को 'नेताजी' की उपाधि जर्मनी में ही मिली।

मार्च 1942 में रासबिहारी बोस ने टोकियो में भारतीय नेताओं का एक सम्मेलन बुलाया। वे हार्डिंग बम कांड (Hardinge Bomb Case) के वांछित अभियुक्त थे तथा जापान में निर्वासित जीवन बिता रहे थे। इस सम्मेलन में इन्होंने 'भारतीय स्वतन्त्रता लीग' तथा 'आजाद हिंद फौज' बनाने की घोषणा की। जून 1943 में सुभाषचंद्र बोस टोकियो पहुँचे। जापानी प्रधानमंत्री ने उनका स्वागत किया। सुभाषचंद्र बोस ने अंग्रेज़ों के विरुद्ध तथा भारत की स्वतन्त्रता के लिए अपना प्रथम संदेश टोकियो रेडियो (Tokyo Radio) से दिया।

इस समय आजाद हिंद फौज का गठन भी आरंभ हो गया था। ब्रिटिश भारतीय सेना के कैप्टन मोहन सिंह ने अपने कुछ सैनिकों के साथ जापानी फौज के समक्ष आत्मसमर्पण कर दिया। जापानी फौज के एक अधिकारी मेजर फूजीहारा ने मोहन सिंह को भारत की स्वतंत्रता के लिए प्रेरित किया। सिंगापुर के पतन के बाद 40,000 भारतीय सैनिकों ने अपना नेतृत्व मेजर फूजीहारा को सौंप दिया, जिसे कालांतर में उन्होंने कैप्टन मोहन सिंह को सौंप दिया। इस तरह सितंबर 1942 में औपचारिक रूप से आजाद हिंद फौज (Indian National Army – INA) का गठन हो गया।

2 जुलाई, 1943 को सुभाषचंद्र बोस जापानी नियंत्रण वाले सिंगापुर पहुँचे, जहाँ रासबिहारी बोस ने भारतीय स्वतन्त्रता लीग की अध्यक्षता उन्हें सौंप दी। 21 अक्टूबर, 1943 को सिंगापुर में सुभाषचन्द्र बोस ने अस्थाई भारत सरकार (आजाद हिन्द सरकार) की स्थापना की। यहीं पर नेताजी ने 'जयहिंद', 'दिल्ली चलो' तथा 'तुम मुझे खून दो, मैं तुम्हें आज़ादी दूँगा' जैसे नारे दिए। सुभाषचन्द्र बोस इस अस्थाई सरकार के राष्ट्रपति तथा सेनाध्यक्ष थे। सुभाषचंद्र बोस ने ही गांधीजी के लिए 'राष्ट्रपिता' शब्द का प्रयोग किया। सुभाषचन्द्र बोस ने रेडियो पर बोलते हुए गाँधीजी को संबोधित करते हुए कहा– "भारत की स्वाधीनता का आखिरी युद्ध शुरू हो चुका है। राष्ट्रपिता भारत की मुक्ति के इस पवित्र युद्ध में हम आपका आशीर्वाद और शुभकामनाएँ चाहते हैं।"

इस सरकार को विश्व के नौ देशों की मान्यता प्राप्त थी। आजाद हिन्द फौज के मुख्यालय सिंगापुर एवं रंगून में स्थापित किए गए। 23 अक्टूबर, 1939 को इस सरकार ने मित्र राष्ट्रों के विरुद्ध युद्ध की घोषणा कर दी। जापान ने अंडमान एवं निकोबार को जीतकर नेताजी को सौंप दिया। नेताजी ने अंडमान का नाम 'शहीद द्वीप' तथा निकोबार का नाम 'स्वराजद्वीप' रखा। इन द्वीपों पर स्वतन्त्र भारत का झण्डा फहरा दिया गया। आजाद हिन्द फौज ने जापानियों के साथ मिलकर भारत की पूर्वी सीमा एवं बर्मा में युद्ध लड़ा, किन्तु द्वितीय विश्व युद्ध में जापान को मिली पराजय के कारण आज़ाद हिन्द फौज को भी पराजय का सामना करना पड़ा। 1945 ई॰ में अंग्रेज़ों ने आज़ाद हिन्द फौज के अधिकारियों एवं सैनिकों को गिरफ्तार कर लिया। दुर्भाग्यवश, 18 अगस्त, 1945 को एक विमान दुर्घटना में सुभाषचंद्र बोस की मृत्यु की अपुष्ट सूचना प्राप्त हुई। वैसे, उनकी मृत्यु अभी भी संदेहास्पद है।

लालकिले का मुकदमा *(Red Fort Trial)*

1945 ई. में आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों ने सरकार के समक्ष समर्पण कर दिया, किन्तु सरकार ने निष्ठा की शपथ तोड़ने के आरोप में उन पर लालकिले में मुकदमा चलाने का निर्णय लिया। इस मुकदमे के मुख्य अभियुक्तों में मेजर शहनवाज खाँ, कर्नल प्रेम सहगल और कर्नल गुरदयाल सिंह ढिल्लों शामिल थे। इन तीनों पर राजद्रोह का आरोप लगाया गया और मुकदमा चलने तक इन्हें लाल किले में कैद रखने का निर्णय लिया गया।

ब्रिटिश सरकार के इस निर्णय के विरोध में समूचे देश में आंदोलन शुरू हो गए। इस आंदोलन के दौरान "लाल किले को तोड़ दो, आजाद हिंद फौज को छोड़ दो" नारा बहुत लोकप्रिय था। कांग्रेस ने 'आजाद हिन्द बचाव समिति' का गठन किया। इस समिति के प्रमुख वकीलों में भूलाभाई देसाई, जवाहरलाल नेहरू, तेजबहादुर सप्रू, कैलाशनाथ काटजू, अरुणा आसफ अली इत्यादि शामिल थे। इन्होंने न्यायालय में इन अधिकारियों के पक्ष में मुकदमे की पैरवी की। फौजी अदालत में इन तीनों अधिकारियों को फाँसी की सजा सुनाई गयी थी। पूरे देश में इस निर्णय के खिलाफ तीखी प्रतिक्रिया हुई। परिणामस्वरूप, तत्कालीन वायसराय लॉर्ड वेवेल ने अपने विशेषाधिकार का प्रयोग कर इन तीनों की सजा को माफ कर दिया।

सी. आर. फार्मूला: 10 जुलाई, 1944 *(C.R. Formula: 10 July, 1944)*

सी॰ राजगोपालाचारी कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य समझौते के पक्षधर थे। 10 जुलाई, 1944 को उन्होंने गांधीजी की स्वीकृति से देश की साम्प्रदायिक समस्या को सुलझाने के उद्देश्य से कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के मध्य समझौतों की एक योजना प्रस्तुत की। यह योजना सी. आर. फार्मूला के नाम से प्रसिद्ध हुई जिसके प्रावधान निम्नवत् थे–

- मुस्लिम लीग भारत की स्वतन्त्रता की माँग का समर्थन करे तथा कांग्रेस के साथ मिलकर अस्थाई सरकार के गठन में सहयोग करे।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

- द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति पर भारत के मुस्लिम-बहुल उत्तर-पश्चिमी व पूर्वी भागों का सीमा-निर्धारण करने के लिए एक कमीशन नियुक्त किया जाए। इसके साथ ही वयस्क मताधिकार प्रणाली के आधार पर इन क्षेत्रों के निवासियों की मतगणना करके भारत से उनके सम्बन्ध-विच्छेद का निर्णय किया जाए।
- सभी राजनीतिक दलों को मतदान के पूर्व अपने-अपने दृष्टिकोण का प्रचार करने की पूरी स्वतंत्रता प्रदान की जाये।
- देश के विभाजन की स्थिति में सभी अनिवार्य विषयों, यथा– रक्षा, यातायात, संचार आदि पर आपसी समझौते की व्यवस्था की जाये।
- उपरोक्त सभी शर्तें ब्रिटेन से भारत को पूर्ण रूप से स्वतन्त्रता प्रदान दिए जाने के बाद ही मानी जा सकती हैं।

गांधीजी ने इसी फार्मूले के आधार पर जिन्ना से बातचीत की। मुहम्मद अली जिन्ना को इसी समय गांधीजी ने 'कायदे आजम' कहा। यह फार्मूला जिन्ना ने अस्वीकार कर दिया। कालांतर में भारत का विभाजन इसी फार्मूले के आधार पर किया गया।

वेवेल योजना: 14 जून, 1945 *(Wavell Plan: 14 June, 1945)*

14 जून, 1945 को संवैधानिक गतिरोध को दूर करने के लिए लॉर्ड वेवेल ने कुछ नए प्रस्तावों की घोषणा की। ये प्रस्ताव वेवेल योजना के नाम से प्रसिद्ध हैं। इस योजना के मुख्य प्रावधान निम्नवत् थे–

- केन्द्र में एक नई कार्यकारी परिषद का गठन किया जाएगा। इस परिषद में वायसराय तथा कमाण्डर-इन-चीफ के अतिरिक्त शेष सदस्य भारतीय होंगे। पहली बार विदेश विभाग भी एक भारतीय के अधिकार में किया जाना था।
- कार्यकारी परिषद एक अंतरिम व्यवस्था थी, जिसे तब तक देश का शासन चलाना था जब तक कि एक नये स्थायी संविधान का निर्माण नहीं हो जाता।
- जिन ब्रिटिश राज्यों में भारत शासन अधिनियम, 1935 की धारा-93 के तहत गवर्नर का शासन लागू था, वहाँ मिली-जुली उत्तरदायी सरकारों की स्थापना की जाती थी।
- कार्यकारिणी परिषद में हिन्दुओं एवं मुसलमानों की संख्या बराबर होगी।
- प्रतिरक्षा को छोड़कर समस्त भाग भारतीयों को सौंप दिए जाएँगे।
- गवर्नर जनरल बिना किसी कारण निषेधाधिकार (वीटो) का प्रयोग नहीं करेगा।
- कांग्रेस के नेता शीघ्र रिहा कर दिए जायेंगे तथा शिमला में एक सम्मेलन का आयोजन किया जाएगा।
- ब्रिटेन के वाणिज्यिक एवं अन्य हितों के देखरेख के लिए भारत में एक उच्चायुक्त की नियुक्ति की जाएगी।

इस योजना पर विचार-विमर्श करने के लिए 25 जून, 1945 को शिमला में एक सम्मेलन आयोजित किया गया, जिसे 'शिमला सम्मेलन' (Simla Conference) के नाम से जाना जाता है। इस सम्मेलन में मौलाना अबुल कलाम आजाद ने कांग्रेस का प्रतिनिधित्व किया तथा मुस्लिम लीग की ओर से मुहम्मद अली जिन्ना ने भाग लिया। इस सम्मेलन में जिन्ना ने वायसराय की कार्यकारिणी के सभी मुस्लिम सदस्यों को मुस्लिम लीग से ही लिए जाने का प्रस्ताव किया क्योंकि उनके अनुसार मुस्लिम लीग सभी मुसलमानों का प्रतिनिधित्व करती थी। यह प्रस्ताव ही इस सम्मेलन की असफलता का कारण बना। कांग्रेस ने जिन्ना के इस अनुचित एवं अप्रजातांत्रिक प्रस्ताव का विरोध किया। वेवेल ने वायसराय की कार्यकारिणी परिषद की नियुक्ति की, जिसके कुल 14 स्थानों में से 6 स्थानों को मुसलमानों के लिए आरक्षित कर दिया गया। ध्यातव्य है कि उस समय भारत की जनसंख्या का केवल 25% भाग ही मुसलमान था। इसके बाद भी लीग को संतुष्ट करने के लिए 14 में से 6 सदस्य मुसलमानों में से चुने गए। इसके बावजूद लीग ने इस प्रस्ताव का विरोध किया। वेवेल ने तुष्टिकरण की नीति को अपनाते हुए मुसलमानों को वीटो का अधिकार प्रदान कर दिया। इस वीटो शक्ति से मुसलमानों को यह अधिकार प्राप्त हो गया कि यदि उन्हें किसी प्रस्ताव पर आपत्ति है तो ऐसा प्रस्ताव दो-तिहाई बहुमत से पारित होने के बाद ही स्वीकार्य होगा। कांग्रेस द्वारा प्रस्तावित नामों पर अनुसूचित जातियों के सदस्यों ने आपत्ति की और पृथक नामांकन का अधिकार माँगा। अंततः 14 जुलाई, 1945 को वेवेल ने इस सम्मेलन को विफल घोषित कर दिया।

भारत में आम चुनाव: दिसम्बर 1945 *(General Elections in India: December 1945)*

द्वितीय विश्व युद्ध की समाप्ति के पश्चात् ब्रिटेन में हुए चुनावों में क्लीमेंट एटली की अध्यक्षता वाली 'लेबर पार्टी' सत्ता में आई। एटली ब्रिटिश प्रधानमंत्री बने तथा उन्होंने सर पैथिक लॉरेंस को भारत सचिव नियुक्त किया। एटली ने भारत में प्रथम कार्यवाही के तहत आम चुनाव करवाया, जिसमें केन्द्रीय विधानमण्डल की 102 सीटों में से 57 सीटों पर कांग्रेस को सफलता मिली। कांग्रेस को प्रांतीय चुनावों में भी बंगाल, सिंध एवं पंजाब के अतिरिक्त अन्य स्थानों पर बहुमत मिला। कांग्रेस ने बंबई, मद्रास, संयुक्त प्रांत,

Copyright – Drishti The Vision Foundation

उड़ीसा, असम, बिहार तथा मध्य प्रांत में अपनी सरकारों की स्थापना की। मुस्लिम लीग को बंगाल एवं सिंध में बहुमत प्राप्त हुआ। पंजाब में कांग्रेस, अकालियों तथा यूनियनिस्ट पार्टी ने मिलकर सरकार का गठन किया।

शाही भारतीय नौसेना विद्रोह, 1946 *(Royal Indian Navy Mutiny, 1946)*

ब्रिटिश भारतीय सेना में सेवारत भारतीय सैनिकों पर भारत छोड़ो आंदोलन, आजाद हिन्द फौज आंदोलन एवं उसके बाद की अन्य सभी घटनाओं का बहुत प्रभाव पड़ा। बंबई में वायुसेना के कर्मचारियों ने जनवरी 1946 में हड़ताल कर दी। इसके बाद 18 फरवरी, 1946 को बम्बई में शाही भारतीय नौसेना के सैनिकों ने विद्रोह कर दिया। यह विद्रोह नौसेना के गैर-कमीशण्ड अधिकारियों एवं नौसैनिकों द्वारा किया गया। इस विद्रोह के तात्कालिक कारणों में भारतीय सैनिकों की भोजन एवं वेतन से सम्बन्धित शिकायतें, भेदभावपूर्ण व्यवहार, रंगभेद तथा अपमानजनक टिप्पणियाँ शामिल थीं। इस नौसैनिक विद्रोह की शुरुआत 'तलवार' नामक नौसैनिक प्रशिक्षण पोत के कर्मचारियों द्वारा खराब भोजन दिए जाने की शिकायत के साथ हुई। अंग्रेज़ अधिकारी ने इस शिकायत के जवाब में कहा कि– "भिखारियों को चुनने का अधिकार नहीं होता (Beggars aren't choosers)" इस टिप्पणी के विरोध में तलवार के कर्मचारियों ने हड़ताल कर दी। इसका प्रभाव कराची और मद्रास तक फैल गया। देखते ही देखते बम्बई के 20 नौसैनिक जहाजों को इसने अपनी चपेट में ले लिया। विद्रोहियों ने जहाजों से ब्रिटिश झण्डों को उतारकर कांग्रेस, मुस्लिम लीग एवं कम्युनिस्ट पार्टी के ध्वज फहरा दिए। इस विद्रोह के दौरान 'इंकलाब जिन्दाबाद', 'जय हिंद', 'हिन्दू-मुस्लिम एक हो', 'आजाद हिन्द फौज के सिपाहियों को मुक्त करो' जैसे नारे लगाए गए। विद्रोहियों ने अपने एक साथी नाविक बी. सी. दत्त को रिहा करने की माँग की; उन्हें जहाज की दीवारों पर 'भारत छोड़ो' लिखने के कारण गिरफ्तार कर लिया गया था। इस दौरान एम. एस. खान के नेतृत्व में 'नौसेना केन्द्रीय हड़ताल समिति' का गठन किया गया। बंबई में 22 फरवरी को इस विद्रोह के समर्थन में अभूतपूर्व हड़ताल का आयोजन किया गया। इस हड़ताल में लगभग 20 लाख मजदूरों ने हिस्सा लिया। 25 फरवरी, 1946 को सरदार पटेल के दबाव में आकर विद्रोहियों ने समर्पण कर दिया। इसी समय ब्रिटेन के नवनियुक्त प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने ब्रिटिश संसद के हाउस ऑफ कामंस में कैबिनेट मिशन को भारत भेजने की घोषणा की।

कैबिनेट मिशन योजना, 1946 *(Cabinet Mission Plan, 1946)*

कैबिनेट मिशन 29 मार्च, 1946 को भारत पहुँचा। इसके प्रमुख सदस्यों में सर स्टैफर्ड क्रिप्स, ए. बी. अलेक्जेण्डर तथा पैथिक लॉरेंस शामिल थे। पैथिक लॉरेंस ने भारत में कैबिनेट मिशन की घोषणा करते हुए कहा कि इसका उद्देश्य भारत की अंतरिम सरकार के गठन के लिए आवश्यक प्रबंध करना तथा संविधान का निर्माण करने के लिए एक कार्यप्रणाली तैयार करना है। कैबिनेट मिशन ने अपने प्रस्तावों की घोषणा से पूर्व शिमला में एक त्रिदलीय सम्मेलन (Tri-Party Conference) का आयोजन किया। इस सम्मेलन में सर्वसम्मति से कोई समाधान नहीं निकला। परिणामस्वरूप, 16 मई, 1946 को कैबिनेट मिशन ने अपने प्रस्तावों की घोषणा कर दी। इस प्रस्ताव के प्रमुख उपबंध निम्नवत् थे–

- भारत में एक अखिल भारतीय संघ की स्थापना की जाएगी, जिसमें ब्रिटिश भारत के प्रांत तथा देशी राज्य दोनों सम्मिलित होंगे। केन्द्र सरकार के अधीन विदेश, संचार तथा प्रतिरक्षा के मामले होंगे।
- संघीय विषयों के अतिरिक्त अन्य सभी विषयों पर कानून बनाने की शक्ति तथा अवशिष्ट शक्तियाँ प्रांतों में निहित होंगी।
- प्रांतीय विधानसभाओं तथा देशी रियासतों के प्रतिनिधियों को मिलाकर एक संविधान-निर्मात्री सभा का गठन किया जाएगा। प्रत्येक प्रान्त को उसकी जनसंख्या के अनुपात (लगभग 10 लाख की आबादी पर एक प्रतिनिधि) में सीटों का आवंटन किया जाएगा।
- प्रांतों को तीन वर्गों में विभाजित कर दिया जाएगा–
  (क) बंबई, बिहार, मध्य प्रांत, उड़ीसा और संयुक्त प्रांत
  (ख) पश्चिमोत्तर सीमा प्रान्त, सिंध और पंजाब
  (ग) असम और बंगाल।
- संविधान में ऐसा प्रावधान होना चाहिए कि प्रत्येक दस वर्ष के पश्चात् किसी भी प्रांत की विधान सभा को संविधान निर्बंधन (Restriction) पर पुनर्विचार करने की अनुमति हो।
- मुस्लिम लीग की पाकिस्तान की माँग को अस्वीकार कर दिया गया।

कैबिनेट मिशन के प्रस्तावों में भी तुष्टिकरण की नीति (Policy of Appeasement) को अपनाया गया। प्रांतों को अवशिष्ट शक्तियाँ (Residual Powers) मुस्लिम लीग को संतुष्ट करने के लिए ही दी गयीं। जून 1946 में मुस्लिम लीग ने कैबिनेट मिशन प्रस्तावों को स्वीकार कर लिया। कांग्रेस कार्यकारिणी ने संविधान निर्माण की प्रक्रिया का समर्थन करते हुए राष्ट्रीय सरकार के प्रस्ताव

Copyright – Drishti The Vision Foundation

को अस्वीकार कर दिया क्योंकि इसमें मुस्लिम लीग को असंगत प्रतिनिधित्व दिया गया था। जून 1946 में कैबिनेट मिशन भारत से वापस लौट गया।

संविधान सभा का चुनाव : जुलाई 1946 *(Election for the Constitution Assembly : July 1946)*

कैबिनेट मिशन योजना के अनुसार जुलाई 1946 में चुनाव हुए। इन चुनावों में कांग्रेस ने ब्रिटिश भारतीय प्रांतों के 296 स्थानों में से 205 पर जीत दर्ज की। मुस्लिम लीग ने केवल 73 सीटें जीतीं, जिससे लीग के नेता बौखला गए। अंतरिम सरकार की स्थापना से सम्बन्धित एक नया प्रस्ताव वायसराय द्वारा कांग्रेस एवं लीग के समक्ष प्रस्तुत किया गया। इस प्रस्ताव के अनुसार अंतरिम सरकार के कुल 14 सदस्यों में से 6 कांग्रेस मनोनीत करेगी, 5 सदस्य मुस्लिम लीग के तथा 3 अल्पसंख्यक वर्ग के प्रतिनिधि होंगे। मुस्लिम लीग ने यह प्रस्ताव नामंजूर कर दिया तथा 'स्वतंत्र एवं पूर्ण प्रभुतासम्पन्न पाकिस्तान' राज्य की स्थापना के लिए एक प्रस्ताव पारित कर 'सीधी कार्रवाई' की घोषणा कर दी।

सीधी कार्रवाई दिवस: 16 अगस्त, 1946 *(Direct Action Day: 16 August, 1946)*

12 अगस्त, 1946 को वायसराय ने पंडित जवाहरलाल नेहरू को अंतरिम सरकार बनाने का निमंत्रण भेजा। मुस्लिम लीग ने इसका विरोध करते हुए प्रत्यक्ष कार्यवाही की धमकी दी। 16 अगस्त, 1946 का दिन मुस्लिम लीग ने 'प्रत्यक्ष कार्यवाही दिवस' के रूप में मनाने की घोषणा कर दी।

16 अगस्त एवं उसके बाद के दिनों में भयानक साम्प्रदायिक दंगे हुए। दंगाइयों के समूहों ने मारकाट, आगजनी तथा लूटपाट सहित अनेक अनैतिक घटनाओं को अंजाम दिया। साम्प्रदायिक दंगों का सर्वाधिक वीभत्स रूप बंगाल के नोआखली एवं बिहार में देखने को मिला। वहाँ व्यापक पैमाने पर सामूहिक नरसंहार की कई घटनाएँ घटीं। बंगाल में मुस्लिम लीग की सरकार के मुख्यमंत्री सुहरावर्दी ने भी दंगों को प्रोत्साहित किया।

महात्मा गांधी ने दंगों के दौरान नोआखली का दौरा किया। वे शांति की पुनर्स्थापना के लिए वहाँ गए। माउन्टबेटन ने गांधीजी को "वन-मैन बाउन्ड्री फोर्स" (One-man Boundary Force) की उपाधि दी।

अंतरिम सरकार का गठन : 2 सितंबर, 1946 *(Formation of Interim Government: 2 September, 1946)*

24 अगस्त, 1946 को जवाहरलाल नेहरू की अध्यक्षता में भारत की प्रथम 'अंतरिम सरकार' की घोषणा की गई तथा 2 सितम्बर, 1946 को 12 सदस्यों की एक अंतरिम सरकार का गठन हुआ।

लॉर्ड वेवेल की मध्यस्थता के फलस्वरूप 26 अक्टूबर 1946 को मुस्लिम लीग के पाँच प्रतिनिधि भी अंतरिम सरकार में शामिल हो गए। कांग्रेस के तीन सदस्यों ने इस्तीफा दे दिया तथा मुस्लिम लीग के पाँच सदस्य इसमें शामिल हो गए। इस प्रकार सदस्यों की संख्या 14 हो गयी। इनमें कांग्रेस के 6, मुस्लिम लीग के 5, एक ईसाई तथा एक पारसी और एक सिख शामिल थे। मुस्लिम लीग का अंतरिम सरकार में शामिल होने का असली उद्देश्य पाकिस्तान की माँग की लड़ाई को आगे बढ़ाना था।

9 दिसम्बर, 1946 को दिल्ली में संविधान सभा की पहली बैठक का आयोजन किया गया। मुस्लिम लीग ने इसका विरोध किया। अंततः ब्रिटिश सरकार ने यह निर्णय लिया कि मुस्लिम-बहुल इलाकों में संविधान सभा के निर्णय लागू नहीं किए जाएँगे।

अंतरिम मंत्रिमंडल

सदस्य		विभाग
जवाहरलाल नेहरू	:	कार्यकारी परिषद् के उपाध्यक्ष, विदेश मामले तथा राष्ट्रमंडल से संबंधित मामले
सरदार बल्लभभाई पटेल	:	गृह, सूचना एवं प्रसारण विभाग तथा रियासत संबंधी मामले
बलदेव सिंह	:	रक्षा विभाग
जॉन मथाई	:	उद्योग तथा आपूर्ति विभाग
चक्रवर्ती राजगोपालाचारी	:	शिक्षा विभाग
सी. एच. भाभा	:	कार्य, खान तथा बंदरगाह
डॉ. राजेन्द्र प्रसाद	:	खाद्य एवं कृषि विभाग
अरुणा आसफ अली	:	रेलवे विभाग
जगजीवन राम	:	श्रम विभाग
लीग के सदस्य		
लियाकत अली खाँ	:	वित्त विभाग
आई. आई. चुंदरीगर	:	वाणिज्य विभाग
जोगेन्द्रनाथ मंडल	:	विधि विभाग
गजनफर अली खाँ	:	स्वास्थ्य विभाग
अब्दुल रब नश्तर	:	संचार विभाग

Copyright – Drishti The Vision Foundation

क्लीमेंट एटली की घोषणा: 20 फरवरी, 1947
(Clement Attlee's Declaration: 20 February, 1947)

20 फरवरी, 1947 को ब्रिटेन के प्रधानमंत्री क्लीमेंट एटली ने हाउस ऑफ कॉमन्स में ऐतिहासिक घोषणा करते हुए कहा कि अंग्रेज "जून 1948 के पहले ही उत्तरदायी लोगों को" सत्ता हस्तांतरित करने के उपरांत भारत छोड़ देंगे। जवाहरलाल नेहरू ने इस घोषणा का स्वागत करते हुए कहा कि यह एक बुद्धिमत्तापूर्ण एवं साहसिक निर्णय है। ब्रिटिश प्रधानमंत्री एटली ने इसके साथ ही लॉर्ड माउंटबेटन को भारत का अगला वायसराय नियुक्त कर दिया। लॉर्ड माउंटबेटन 22 मार्च, 1947 को 34वें एवं अंतिम ब्रिटिश गवर्नर जनरल के रूप में भारत आए। उन्होंने भारत आते ही सत्ता हस्तांतरण के लिए कार्यवाही करना आरंभ कर दिया।

माउंटबेटन योजना: 3 जून, 1947 *(Mountbatten Plan: 3 June, 1947)*

22 मार्च, 1947 को गवर्नर जनरल का पद ग्रहण करते ही लॉर्ड माउंटबेटन ने कांग्रेस एवं मुस्लिम लीग के नेताओं से व्यापक विचार-विमर्श आरंभ कर दिया। इन्होंने कांग्रेस के नेताओं में सर्वप्रथम जवाहरलाल नेहरू से भेंट की। माउंटबेटन से जिन्ना की मुलाकात मुस्लिम लीग के सचिव लियाकत अली खाँ तथा अन्य कांग्रेसी नेताओं, यथा– मौलाना आजाद, जे. बी. कृपलानी तथा कृष्ण मेनन के साथ हुई। 2 अप्रैल, 1947 को गांधीजी ने लॉर्ड माउंटबेटन से मुलाकात की। गांधीजी ने माउंटबेटन को सुझाव दिया कि जिन्ना को सरकार बनाने दी जाए, किन्तु जवाहरलाल नेहरू तथा वल्लभभाई पटेल ने इस प्रस्ताव का जोरदार विरोध किया। परिस्थितियों के दबाव में कांग्रेसी नेताओं ने भी विभाजन रूपी कटु सत्य को स्वीकार कर लिया। सरदार वल्लभभाई पटेल ने इस संदर्भ में कहा– "यदि कांग्रेस विभाजन को स्वीकार न करती तो एक पाकिस्तान के स्थान पर कई पाकिस्तान बनते।" सिखों ने भी अनमने ढंग से भारत विभाजन की योजना को स्वीकार कर लिया। इस समस्या के अंतिम समाधान के लिए माउण्टबेटन लंदन गए जहाँ उन्होंने ब्रिटिश सरकार से बातचीत की। ब्रिटिश सरकार की सहमति प्राप्त कर वे भारत वापस आए तथा कांग्रेस और मुस्लिम की नेताओं से बातचीत की। इन नेताओं के सहमत होने के बाद ब्रिटिश सरकार ने 3 जून, 1947 को भारत विभाजन योजना प्रस्तुत कर दी जिसे 'माउंटबेटन योजना' के नाम से जाना जाता है। इस योजना के प्रमुख प्रावधान निम्नवत् हैं–

- हिन्दुस्तान का विभाजन दो हिस्सों भारतीय संघ एवं पाकिस्तान में कर दिया जाएगा तथा संविधान सभा द्वारा पारित प्रावधान उन भारतीय क्षेत्रों में लागू नहीं होंगे जो इसे स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं है।
- 15 अगस्त, 1947 से देशी रियासतें भी स्वतंत्र होंगी तथा उन्हें भारत या पाकिस्तान में विलय करने की पूर्ण स्वतन्त्रता होगी।
- उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत तथा असम के सिलहट जिलों में जनमत-संग्रह कराया जाएगा।
- बंगाल और पंजाब में प्रांतीय विधानसभाओं के दो अलग-अलग भाग होंगे, जिसमें एक मुस्लिम बहुल जिला तथा दूसरे में शेष जिले के प्रतिनिधि शामिल होंगे। दोनों को यह निर्णय स्वयं लेना था कि उन्हें भारत में रहना है या पाकिस्तान में।
- पंजाब, बंगाल एवं असम के विभाजन के लिए एक सीमा आयोग नियुक्त किया जाएगा, जो इन प्रांतों की सीमा निश्चित करेगा।

परिस्थितियों की गंभीरता को देखते हुए माउण्टबेटन योजना को कांग्रेस ने अनमने ढंग से स्वीकार कर लिया। जिन्ना ने भी लॉर्ड माउंटबेटन के दबाव में इस योजना को स्वीकार कर लिया।

माउंटबेटन योजना का क्रियान्वयन *(Implementation of Mountbatton Plan)*

कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ने 12 जून को तथा कांग्रेस महासमिति ने 14-15 जून, 1947 को माउन्टबेटन योजना की पुष्टि कर दी। पंडित गोविंद बल्लभ पंत ने इस प्रस्ताव के विषय में कहा– "आज हमें पाकिस्तान या आत्महत्या में से एक को चुनना है। देश की स्वतन्त्रता और मुक्ति पाने का यही एकमात्र रास्ता है। इससे भारत में एक शक्तिशाली संघ की स्थापना होगी। आज विकल्प है– तीन जून की योजना को स्वीकार करना या आत्महत्या करना।" इस योजना को सभी नेताओं ने स्वीकृति नहीं दी। खान अब्दुल गफ्फार खान (सीमांत गांधी) ने विभाजन को कांग्रेस की ओर से विश्वासघात माना। उन्होंने कहा कि "खुदाई खिदमतगारों को भेड़ियों के सामने फेंका जा रहा है।" हिन्दू महासभा ने भी इस योजना की कटु आलोचना की। विभाजन की योजना का क्रियान्वयन दस सप्ताह के भीतर ही कर दिया गया। पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब तथा सिंध के लोगों ने यह निश्चय किया कि उन्हें पाकिस्तान में सम्मिलित होना है। उत्तर-पश्चिमी सीमा प्रांत में खान अब्दुल गफ्फार खान ने जनमत- संग्रह का विरोध किया। परिणामस्वरूप, केवल पचास प्रतिशत मतदाताओं ने जनमत-संग्रह में भाग लिया तथा पाकिस्तान के पक्ष में निर्णय दिया। पंजाब तथा बंगाल के गैर-मुस्लिम क्षेत्र की जनता ने भारत के साथ सम्मिलित होने का फैसला किया। इसके साथ ही असम का संपूर्ण प्रांत (सिलहट के अतिरिक्त) भारतीय राज्य की सीमाओं के भीतर ही रहा।

Copyright – Drishti The Vision Foundation

भारतीय स्वतन्त्रता अधिनियम: जुलाई 1947 *(Indian Independence Act: July 1947)*

ब्रिटिश संसद ने माउण्टबेटन योजना के आधार पर भारतीय स्वतन्त्रता विधेयक का प्रारूप तैयार किया। इस विधेयक को 18 जुलाई, 1947 को स्वीकृति मिल गई तथा यह अधिनियम 'भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम, 1947' कहलाया। इस अधिनियम के प्रमुख प्रावधान निम्नवत् थे–

- 15 अगस्त 1947 को भारत और पाकिस्तान नामक दो डोमीनियन स्थापित किए जाएंगे।
- पाकिस्तान के अंतर्गत पूर्वी बंगाल, पश्चिमी पंजाब, सिन्ध और पश्चिमोत्तर सीमाप्रांत सम्मिलित होंगे। असम का सिलहट जिला पूर्वी बंगाल के अन्तर्गत रहेगा।
- देशी रजवाड़े भारत या पाकिस्तान किसी में भी सम्मिलित हो सकते हैं।
- भारत तथा पकिस्तान के विधानमंडल को अपने-अपने क्षेत्र के लिए कानून बनाने का अधिकार होगा तथा 15 अगस्त 1947 के बाद ब्रिटिश संसद द्वारा पारित कोई भी कानून इन डोमिनियनों में वैध नहीं होगा।
- भारत शासन अधिनियम, 1935 के प्रावधानों के अनुसार इन दोनों डोमिनियनों का शासन तब तक चलेगा, जब तक कि संबंधित विधानसभा इसके लिए कोई संविधान तैयार नहीं कर लेती।

स्वतन्त्रताप्राप्ति: 15 अगस्त, 1947 *(Attaining Independence : 15 August, 1947)*

14-15 अगस्त, 1947 की मध्यरात्रि को भारत स्वतन्त्र हो गया। जवाहरलाल नेहरू ने उस रात्रि को दिल्ली में संविधान-निर्मात्री सभा को संबोधित करते हुए अपने ऐतिहासिक भाषण में कहा– "वर्षों पहले हमने किस्मत के साथ बाजी लगाई थी, अब समय आ गया है कि हम अपनी प्रतिज्ञा को पूरी तरह न ही सही लेकिन काफी हद तक पूरा करें। मध्यरात्रि में जब सारी दुनिया सो रही होगी, भारत नयी जीवन स्वतंत्रता लेकर जागेगा। एक क्षण जो इतिहास में विरले ही आता है, ऐसा होता है जब हम पुरातन से नूतन की ओर जाते है, जब एक युग समाप्त होता है, जब राष्ट्र की बहुत दिनों से दबी-आत्मा को वाणी मिल जाती है। यह उपयुक्त है हम इस पवित्र-क्षण में भारत तथा उसकी जनता की सेवा और उससे भी अधिक मानवता के उद्देश्य की पूर्ति के लिए अपने आपको अर्पित करें। आज हम एक दुर्भाग्यपूर्ण अवधि को समाप्त कर रहे हैं और भारत को अपने महत्व का फिर एक बार अहसास हो रहा है। आज हम जिस उपलब्धि को मना रहे हैं वह निरंतर प्रयास की उपलब्धि है, जिसके परिणामस्वरूप हम उन प्रतिज्ञाओं को पूरा कर सकें जिन्हें हमने कितनी बार लिया है।"

इसके बाद लॉर्ड माउंटबेटन को संविधान सभा ने भारत का प्रथम गवर्नर जनरल नियुक्त किया तथा जवाहरलाल के नेतृत्व में नए मंत्रिमंडल को शपथ दिलाई गई।

Copyright – Drishti The Vision Foundation